अध्ययन और आलोचन

(साहित्यिक निबंध)

डा० रामरतन भटनागर
एम०ए०, डी०फिल०
सागर विश्वविद्यालय, सागर
(मध्य-प्रदेश)

साहित्य सदन, देहरादून

प्रकाशक
साहित्य सदन
देहरादून

प्रथमावृत्ति
१९५७

मूल्य
आठ रुपए

मुद्रक
भास्कर प्रेस
देहरादून

प्रवेश

'अध्ययन और आलोचन' में मेरे १९५५-५६ में लिखे निबन्ध संकलित हैं। इन तीस निबन्धों में साहित्य और संस्कृति के कुछ मूल प्रश्नों पर विचार किया गया है और आधुनिक साहित्य के कुछ विशिष्ट कलाकारों एवं आन्दोलनों का मूल्यांकन भी प्रस्तुत किया है। सैद्धान्तिक समीक्षा से सम्बन्धित निबन्धों को मैंने खण्ड १ में 'अध्ययन' के शीर्षक से और व्यावहारिक समीक्षा सम्बन्धी नियमों को खण्ड २ में आलोचन के शीर्षक से रखा है। यही इस ग्रन्थ के नाम की सार्थकता है। वास्तव में दोनों खण्डों की सामग्री परस्पर पूरक है और दोनों खण्डों को लेकर हिन्दी साहित्य की अद्यावधि प्रवृत्तियों का परिचय प्राप्त किया जा सकेगा। निबन्ध विभिन्न अवसरों पर भिन्न-भिन्न आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए लिखे गए हैं और इनमें से कुछ आलोचना 'युग-चेतना', 'साप्ताहिक भारत' प्रभृति पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित भी हो चुके हैं। कुछ निबन्धों का प्रारम्भिक रूप 'वार्ता' का था और 'प्रसार' की आवश्यकता के अनुरूप विचार को सामाजिक सौष्ठव के साथ प्रस्तुत किया गया था। ऐसी रचनाओं में विषय का सर्वांग विवेचन असम्भव होता है, परन्तु संकलन में स्थान देते समय कुछ सामग्री बढ़ा दी गई है। ग्रन्थ को उपस्थित करते हुए मैंने ध्यान रखा है कि उसमें अधिक से अधिक उपयोगी और पठनीय सामग्री संकलित हो और पाठक हिन्दी साहित्य की अद्यतन गतिविधि से परिचित हो जाएं।

आशा है, प्रस्तुत संकलन हिन्दी साहित्य के अध्येताओं और जिज्ञासुओं को परितोष देगा।

हिन्दी-विभाग,)
सागर विश्वविद्यालय,)

—रामरतन भटनागर

निबंध-सूची

प्रथम खण्ड

(अध्ययन)

: १ :

साहित्य की परिभाषा

व्यापक रूप से साहित्य शब्द में मनुष्य की सारी लेख-संपत्ति आ जाती है। विज्ञान, अर्थशास्त्र, वाणिज्य-शास्त्र, भूगर्भशास्त्र आदि अनेक ज्ञानमूलक मानव-चेष्टाएं भी साहित्य के अंतर्गत आ जाती हैं। अलबत्ता, इस प्रकार के साहित्य को हम उपयोगी साहित्य' कहते हैं। इस प्रकार का साहित्य सूचना-प्रधान है, वह प्रयोग और निष्कर्ष की शृंखला से विकसित होता है, तर्क-वितर्क उसका आधार है। रस-बोध और सौन्दर्य-बोध से उसका कोई सम्बन्ध नहीं।

परन्तु एक दूसरी प्रकार का साहित्य है जो हमारी ज्ञान-वृद्धि को अपना ध्येय नहीं बनाता। वह मनुष्य के मन को उतना नहीं छूता—छूता भी है तो रस-बोध द्वारा। तर्क-वितर्क की सूक्ष्म शृंखला द्वारा उसका निर्माण नहीं होता। फलतः वह अपने में पूर्ण स्वतंत्र सृष्टि है। रस-बोध और सौन्दर्य-बोध उसके आवश्यक अंग हैं। यह नहीं कि उसके निर्माण एवं उसकी उपलब्धि में मन एकदम निष्क्रिय रहता है। परन्तु वह केवल-मात्र सचेतन मन की तर्क-वितर्क, प्रयोग-प्रमाण पद्धति से संचालित नहीं होता। इसे हम 'विशुद्ध साहित्य' कह सकते हैं। यह विशुद्ध साहित्य ही कवियों, कथाकारों और नाटककारों का उपजीव्य है।

इस विशुद्ध साहित्य का विषय है 'मनुष्य'। मनुष्य का मन, उसकी संवेदनाएं, उसके निरोध और उसकी तृप्ति, उसकी आशाकाँक्षाएं—संक्षेप में, उसके चरित्र का सब कुछ। व्यक्ति-वादी साहित्य का आधार यही मनुष्य का भीतर या उसका व्यक्तित्व है। परन्तु साहित्य आगे बढ़ कर व्यक्ति व्यक्ति अनेकानेक सम्बन्धों के उनके आघात-प्रतिघातों, उनके प्रेम-घृणा, उनके पारस्परिक संघर्षों को भी अपना विषय बनाता है। इस प्रकार मनुष्य की सामाजिकता भी साहित्य का विषय है। परिवार, समाज, राष्ट्र के रूप में मनुष्य ने जो वर्ग-गत स्वार्थ खड़े किये हैं, उन्होंने व्यक्ति की स्वतंत्रता को कुंठित किया है और मनुष्य और समाज का यह सघर्ष मनुष्य-निर्मित साहित्य का महत्वपूर्ण भाग है। इस प्रकार साहित्य मनुष्य के बाहर भी जाता है—परन्तु उसके लिये बाहर की सब वस्तुएं इसीलिए महत्वपूर्ण हैं कि उनके केन्द्र में मनुष्य है। इस प्रकार वह बाहर जा कर भी बाहर नहीं जाता। यह जड़ सृष्टि जहाँ उसके रस-बोध और उसकी सौन्दर्य दृष्टि को जाग्रत करती है, वहां ही साहित्य है, अन्यथा नहीं। अन्यथा जड़ विज्ञान-मात्र है। इस प्रकार 'मनुष्य' ही साहित्य का विषय है। उसका 'भीतरी-बाहर' उसका 'आत्म-पर' उसकी स्वनिष्ठा और 'परनिष्ठा' में भी स्वनिष्ठा।

परन्तु ठीक इस 'मनुष्य' में क्या समाया हुआ है, उसके भीतर-बाहर में कितना आ जाता है, यह हम अब तक नहीं जान चुके हैं—अभी जान ही रहे हैं—और नई जानकारी निरंतर साहित्य के वृत्त को बढ़ा रही है।

मनुष्य के प्राचीन साहित्य ने मन के चेतन अंश को ही जाना है। इसे वैज्ञानिक भाषा में 'अहं' कहते हैं। साहित्य का यही विषय था। परन्तु अब मनोविज्ञान ने अर्द्ध चेतन और अति-चेतन का भी आविष्कार कर लिया है, फलतः 'चेतन' के अतिरिक्त 'अर्द्ध चेतन' और अतिचेतन भी मनुष्य के साहित्य का विषय बन रहा है। नए साहित्य में चेतन की अपेक्षा अर्द्धचेतन के उद्घाटन पर ही अधिक आग्रह है। समाज द्वारा मनुष्य का चेतन मन विकसित और प्रबुद्ध होता है। अनेकानेक प्राकृतिक व्यापार समाज द्वारा मान्य नहीं होते। वे अर्द्धचेतन में उतर जाते हैं और मनुष्य को अतिजीवित, शंकालु, अनिश्चित और अमर्यादित बना देते हैं। वह 'अभाव' का अनुभव करता है और इस अभाव को ही ज्ञात-अज्ञात रूप से अपने साहित्य का विषय बनाता है। आधुनिक साहित्य में इस अर्द्धचेतन के साहित्य का प्रमुख स्थान है। परन्तु मनुष्य का एक ऊर्ध्व मन भी है—उसकी नैतिक भावनाएं, उसकी आकाँक्षाएं, उसके

सपने । वैज्ञानिकों का कहना है कि यह प्रबुद्ध मन अथवा अतिमानस एक तरह से अप्राकृतिक है। वह मानवी अर्थात प्राकृतिक भाव की पराजय है। हमारे प्राचीन मनीषी इसे ही मानवीय विजय घोषित करते थे। प्राचीन साहित्य में जो भी उदात्त है, उसने इसी अतिमानस का चित्र उपस्थित किया है। जो हो, चेतन, अर्द्धचेतन और अतिचेतन मानस साहित्य के विषय हैं। यहां मानव के साहित्य में केवल ज्ञान-इच्छा क्रिया का ही निर्देश नहीं है, मन का रस-बोध और सौन्दर्य-बोध भी उसके अंतर्गत आ जाता है।

परन्तु मन केवल भावना ही नहीं करता। वह तृप्ति का भी अनुभव करता है। यह तृप्ति भी साहित्य में प्रकाशित हो सकती है। यह तृप्ति अनेक प्रकार की हो सकती है, परन्तु हम उसे एकदम स्वप्नजीवी नहीं कह सकते। प्राचीन साहित्य में तृप्ति के स्वर उसी प्रकार मुखर हैं जिस प्रकार आज के साहित्य में अभाव के स्वर। विशिष्ट कारणों से आज मनुष्य भीतर से क्षुब्ध हो उठा है। उसने अपना संतुलन खो दिया है। फल-स्वरूप साहित्य में अवसाद और निराशा का ही प्राधान्य है और सूर-तुलसी का काव्य हमें असंगत लगता है। फिर भी साहित्य के व्यापक क्षेत्र में उसका महत्वपूर्ण स्थान है।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि साहित्य में मनुष्य की दमित और मुक्त इच्छाएं शब्द-चित्रों के माध्यम से प्रकाशित होती हैं और उसके अनेकानेक मानवीय सम्बन्ध रस-बोध के द्वारा हमारे अपने बनते हैं। साहित्य स्वयं एक सम्पूर्ण सृष्टि है, परन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं कि वह सामाजिक मान्यताओं से स्वतंत्र है। स्वीकृति और विरोध के सूत्रों से वह समाज की मान्यताओं से बन्धा हुआ है। समाज की भूमि पर खड़ा होकर भी वह समाज की मान्यताओं का विरोध करता है और भविष्य के समाज के लिये नई भूमियों का निर्माण करता है। आज के साहित्य में व्यक्ति और समाज के संघर्ष की स्पष्ट ध्वनि है। उसने समाज के नियंत्रणों के विरुद्ध व्यक्ति-स्वातंत्र्य का झंडा उठाया है और व्यक्ति को समाज की वेदी पर बलिदान कर समाज को उदारता और चैतन्य का संदेश दिया है। वह मनुष्य का अर्जित बोध है। अनेक पीढ़ियों से मनुष्य अपने विचारों और अपनी भावनाओं को शब्दों से विजड़ित करता रहा है। वे संदर्भ और संकेत आज हमें सहज ही उपलब्ध हैं और उनके द्वारा हम अपने रस-बोध को सहज में पुष्ट कर सकते हैं।

परन्तु 'साहित्य' की परिभाषा केवल इतने से ही पूर्ण नहीं हो

जाती। मनुष्य के अपने भावों, अंतर्द्वंदों, विकारों, आशाकांक्षाओं, सम्बन्धों की अभिव्यक्ति ही साहित्य नहीं है। वह अभिव्यक्ति एक विशेष प्रकार की एक विशेष कोटि की हो, तभी साहित्य के अंतर्गत आती है। इस विशेष कोटि को सीमा अथवा परिभाषा में बान्धना कठिन है। परन्तु लगभग तीन हज़ार वर्षों का साहित्य हमारे सामने है जिसमें सभी प्रकार की साहित्यिक चेष्टाओं के लिये मापदंड मिल जाते हैं। ये मापदंड हमें बता सकते हैं कि नई रचना साहित्य है अथवा नहीं। यह निश्चय है कि केवल प्रचारात्मक, परिचयात्मक, कामकाजी दुनिया की खोज-खबर का साहित्य, साहित्य नहीं है। जब उस प्रचार, परिचय अथवा कामकाज को हृदय के रस में डुबो कर अथवा वर्णन एवं व्यंग की किसी नई भंगिमा के साथ उपस्थित किया जाता है, तभी वह रचना 'साहित्य कही जाती है। परन्तु इस साहित्य-बोध के लिये अलंकृति, सज्जा और भावात्मकता की आवश्यकता नहीं। कबीर और मीरां का काव्य भी उत्कृष्ट कोटि का साहित्य है। उसमें वैयक्तिक अनुभुति की सच्चाई इतनी मार्मिकता के साथ उभर आई है कि हम उसे साहित्य के सिवा और कुछ कह ही नहीं सकते।

इस विशेष बोध के लिये साहित्य-शास्त्र में अनुभूति शब्द का प्रयोग हुआ है। कहा गया है कि साहित्य का स्रोत है अनुभूति, परन्तु इस अनुभूति में केवल भाव ही नहीं, विचार और कल्पना का भी अंतर्योजन है। विचार और कल्पना साहित्य में केवल अपने लिये उपयोग में नहीं आते, वे साहित्य-रस का अंग बन कर आते हैं। कवि और लेखक के व्यक्तित्व से सम्बन्धित हो जाते हैं, उसके ईर्ष्या-द्वेष बटोर लेते हैं, हमारे हृदय में आलोड़न-विलोड़न उत्पन्न कर सकते हैं, हम में रागात्मक वृत्ति जगा सकते हैं। इस प्रकार साहित्य का मूल तत्व जब अनुभूति को कहा जाता है तो इस शब्द का प्रयोग अत्यंत व्यापक अर्थ में होता है। भाव, विचार और कल्पना के क्षेत्र में साहित्य-स्रष्टा की अपनी ईमानदारी सब से बड़ी चीज़ है। दूसरी बात यह है कि यह विशुद्ध अनुभूति नहीं, संकल्पनात्मक अनुभूति है जो विशुद्ध अनुभूति से भिन्न और तीव्रतर है। संकल्पनात्मक अनुभूति से तात्पर्य यह है कि वह तर्कवाद पर आश्रित नहीं, अतः सिद्धान्तवाद और शास्त्रीय उधेड़-बुन उसका विषय नहीं है। एक जानना विकल्प द्वारा होता है। एक जानना संकल्प द्वारा होता है। वैज्ञानिक विकल्प अर्थात विश्लेषण तर्क और परीक्षा द्वारा जानता है। कवि का जानना प्रत्यक्ष जानना है। इसी से उसे दृष्टा और ऋषि

कहा गया है। इस प्रकार साहित्य में अनुभूति का अर्थ है प्रत्यक्ष दर्शन। जिस कवि-साहित्यकार में यह संकल्पनात्मक अनुभूति जितनी अधिक होगी उतना ही बड़ा वह होगा। फिर यह आवश्यक नहीं कि सभी विषयों के सम्बन्ध में यह संकल्पनात्मक अनुभूति एक ही प्रकार जागरूक अथवा तीव्र हो। जिस विषय में यह तीव्रता अधिक होगी, वही विषय साहित्यकार को अधिक प्रिय होगा और उसी की अभिव्यंजना में वह सबसे अधिक सफल होगा। कल्पना और विचार अनुभूति के क्रियमाण रूप हैं। एक रूपात्मक प्रतिक्रिया है, दूसरी बौद्धिक अथवा विकल्पात्मक। दोनों की ही सार्थकता अनुभूति को पुष्ट करने में है। अतः यह आवश्यक है कि साहित्य में कल्पना और विचार स्वतंत्र रूप ग्रहण नहीं कर लें। उनका प्रयोग अनुभूति को स्पष्ट और प्रभावशाली बनाने में ही हो।

एक प्रवृत्ति अभिव्यंजना को ही साहित्य मान लेती है। प्राचीन आलंकारिकों का पक्ष ही यही है। विशिष्ट पद-रचना अथवा छंद, भाषा, शैली, अलंकार, वक्रोक्ति, व्यंजना, गुण आदि साहित्य के बाह्य उपकरण ही कुछ के लिये साहित्य हैं, यह स्पष्ट ही ग़लत दृष्टि-कोण है। इन्हें हम साहित्य-शरीर कह सकते हैं। साहित्य की आत्मा तो अनुभूति ही है। देखा यह गया है कि जहाँ अनुभूति की गहराई और सच्चाई है वहीं अभिव्यक्ति अपने क्षेत्र में पूर्ण और सफल हो सकी है। वहीं विशिष्ट पद-रचना युक्त साहित्य-शरीर सुन्दर हो सका है। ज्वाइस की रचनाओं में से यह आत्मानुभूति पक्ष निकाल डालिए—सारी रचना ताश के घर की तरह ढह जाएगी। वस्तुतः अनुभूति की तीव्रता, कोमलता, नवीनता, मार्मिकता और असाधारणता अभिव्यंजना के रूपों को बदलने में समर्थ हैं। अभिव्यंजना बहुत दूर तक बौद्धिक प्रक्रिया है, परन्तु यह निश्चय है कि सुन्दर अनुभूति का प्रकाशन सुन्दर होगा। इस प्रकार साहित्य अन्ततोगत्वा संवेदनाशील भावुक मनुष्यों की संकल्पनात्मक अनुभूतियों का संग्रह है। यह संग्रह—काव्य, कथा, नाटक, सूक्ति, प्रहसन कोई भी रूप ग्रहण कर सकता है।

: २ :

साहित्य का प्रयोजन

आज के बुद्धिवादी युग में मनुष्य की किसी भी चेष्टा या प्रवृति के पीछे प्रयोजन की बात पहले आती है। उसकी उपेक्षा करना असम्भव है। साहित्य के सम्बन्ध में भी प्रयोजन को लेकर वाद-विवाद चल रहे हैं। मनुष्य ने मनोविज्ञान की नवीनतम खोजों के द्वारा आज अपने को इतना विश्लेषित कर लिया है कि उसके लिए किसी अतीन्द्रिय या अलौकिक आनन्द की बात कहना कठिन है। साहित्य रचना के पीछे क्या प्रेरणा है ? उससे मनुष्य के किस अभाव की पुष्टि होती है ? उससे मनुष्य अपने व्यक्तित्व में क्या जोड़ता है ? साहित्य के वैयक्तिक और सामाजिक उपादान कौन-कौन हैं ? और वे साहित्य के प्रयोजन में किस प्रकार सिमट आते हैं ? ये कुछ महत्वपूर्ण प्रश्न हैं।

वास्तव में ये कुछ मूल प्रश्न हैं, जिन्हें जाने बिना हम साहित्य की सर्जनात्मक प्रक्रिया और उसके सामाजिक प्रतिफल को पूर्णतया नहीं समझ सकते।

प्रयोजनहीन साहित्य की बात भी उठाई गई है। कहा गया है कि श्रेष्ठ साहित्य प्रयोजनहीन है, निरुद्देश्य है, 'कला कला के लिए है', साहित्य से हम उस प्रकार प्रयोजन की आशा नहीं कर सकते जिस प्रकार उपयोगी कलाओं से। कहीं-कहीं सूक्ष्म, अतीन्द्रिय, अलौकिक एवं निरुद्देश्य आनन्द

को ही साहित्य का प्रयोजन बताया गया है। कदाचित हमें पहले यह जान लेना होगा कि प्रयोजन से हमारा तात्पर्य क्या है? प्रयोजन को सीमा में बाँध कर ही हम गम्भीर चिन्तन की दिशा में आगे बढ़ सकेंगे।

साहित्य के सम्बन्ध में जब प्रयोजन की बात उठती है, तब हम उसे रुपए—आने—पाई वाली उपयोगिता में नहीं बांध सकते। सम्भव है साहित्य-सृजन से कभी रुपए—आने—पाई वाली उपयोगिता का भी सम्बन्ध रहा हो—सामन्ती युगों में साहित्य ने राजाश्रय स्वीकार किया है और भूषण जैसे कवियों के लक्ष-पुरस्कृत होने की बात है ही...., परन्तु साहित्य-सृजन के मूल में वह रुपए—आने—पाई की बात उठी हो, यह नहीं कहा जा सकता। उठी भी हो तो वह कोई महत्वपूर्ण बात नहीं है। प्राचीनों ने साहित्य को 'अर्थसे' भी माना है। उन्होंने उसे 'यशसे' भी कहा है। साहित्य से धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष सधने की बात भी कही गई है। परन्तु इससे साहित्य की मूल प्रेरणा और उसके प्राथमिक प्रयोजन पर प्रकाश नहीं पड़ता। साहित्यिक कृति से यश प्राप्ति की कामना बुरी बात नहीं है। सम्भव है उससे अर्थ-सिद्धि की आकांक्षा रही हो अथवा उसे धर्म-भाव को दृढ़ करने का साधन बनाया गया हो। भक्तों और सन्तों में काव्य, मनःशान्ति और मोक्ष साधन का विषय है और आज के युग में समस्त साहित्य के पीछे काम-प्रवृति ढूंढने की चेष्टा चल पड़ी है। मार्क्सवादी साहित्य में वर्ग-प्रेरणा की खोज करते हैं जिसकी मूल भित्ति अर्थ-वैषम्य है। परन्तु साहित्य का मुख्य प्रयोजन अर्थ-संघर्ष या वर्ग वैषम्य का चित्रण हो, इसे कदाचित कोई मार्क्सवादी भी स्वीकार नहीं करेगा

वस्तुतः साहित्य के प्रयोजन का प्रश्न मूलगत प्रश्न है और सभी मूल प्रश्नों की भांति वह अब तक अबूझा रहा है और निरंतर अबूझा रहेगा। इसका कारण यह है कि प्रत्येक युग में साहित्य के प्रयोजन वाले प्रश्न का रूप बदला रहता है और उसका समाधान भी बदल जाता है। दर्शन और नीति-शास्त्र के कुछ अत्यन्त मौलिक प्रश्नों से इस प्रश्न का संबन्ध है। साहित्य युग को जीवन-दर्शन की पृष्ठ-भूमि देता है और वह उससे प्रभावित भी होता है। इसी तरह नैतिकता और अनैतिकता संबन्धी युग-मान्यता भी साहित्य को प्रभावित और परिचालित करती है। प्रत्येक युग और प्रत्येक कलाकार के साथ नैतिक मान्यताओं में परिवर्तन होता रहता है और जीवन दृष्टि भी नये तथ्यों के आविष्कार के कारण बदलती रहती है। फल-स्वरूप

: २ :

साहित्य का प्रयोजन

आज के बुद्धिवादी युग में मनुष्य की किसी भी चेष्टा या प्रवृति के पीछे प्रयोजन की बात पहले आती है। उसकी उपेक्षा करना असम्भव है। साहित्य के सम्बन्ध में भी प्रयोजन को लेकर वाद-विवाद चल रहे हैं। मनुष्य ने मनोविज्ञान की नवीनतम खोजों के द्वारा आज अपने को इतना विश्लेषित कर लिया है कि उसके लिए किसी अतीन्द्रिय या अलौकिक आनन्द की बात कहना कठिन है। साहित्य रचना के पीछे क्या प्रेरणा है ? उससे मनुष्य के किस अभाव की पुष्टि होती है ? उससे मनुष्य अपने व्यक्तित्व में क्या जोड़ता है ? साहित्य के वैयक्तिक और सामाजिक उपादान कौन-कौन हैं ? और वे साहित्य के प्रयोजन में किस प्रकार सिमट आते हैं ? ये कुछ महत्वपूर्ण प्रश्न हैं।

वास्तव में ये कुछ मूल प्रश्न हैं, जिन्हें जाने बिना हम साहित्य की सर्जनात्मक प्रक्रिया और उसके सामाजिक प्रतिफल को पूर्णतया नहीं समझ सकते।

प्रयोजनहीन साहित्य की बात भी उठाई गई है। कहा गया है कि श्रेष्ठ साहित्य प्रयोजनहीन है, निरुद्देश्य है, 'कला कला के लिए है', साहित्य से हम उस प्रकार प्रयोजन की आशा नहीं कर सकते जिस प्रकार उपयोगी कलाओं से। कहीं-कहीं सूक्ष्म, अतीन्द्रिय, अलौकिक एवं निरुद्देश्य आनन्द

को ही साहित्य का प्रयोजन बताया गया है। कदाचित हमें पहले यह जान लेना होगा कि प्रयोजन से हमारा तात्पर्य क्या है? प्रयोजन को सीमा में बाँध कर ही हम गम्भीर चिन्तन की दिशा में आगे बढ़ सकेंगे।

साहित्य के सम्बन्ध में जब प्रयोजन की बात उठती है, तब हम उसे रुपए—आने—पाई वाली उपयोगिता में नहीं बांध सकते। सम्भव है साहित्य-सृजन से कभी रुपए—आने—पाई वाली उपयोगिता का भी सम्बन्ध रहा हो—सामन्ती युगों में साहित्य ने राजाश्रय स्वीकार किया है और भूषण जैसे कवियों के लक्ष-पुरस्कृत होने की बात है ही...., परन्तु साहित्य-सृजन के मूल में वह रुपए—आने—पाई की बात उठी हो, यह नहीं कहा जा सकता। उठी भी हो तो वह कोई महत्वपूर्ण बात नहीं है। प्राचीनों ने साहित्य को 'अर्थसे' भी माना है। उन्होंने उसे 'यशसे' भी कहा है। साहित्य से धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष सधने की बात भी कही गई है। परन्तु इससे साहित्य की मूल प्रेरणा और उसके प्राथमिक प्रयोजन पर प्रकाश नहीं पड़ता। साहित्यिक कृति से यश प्राप्ति की कामना बुरी बात नहीं है। सम्भव है उससे अर्थ-सिद्धि की आकांक्षा रही हो अथवा उसे धर्म-भाव को दृढ़ करने का साधन बनाया गया हो। भक्तों और सन्तों में काव्य, मनःशान्ति और मोक्ष साधन का विषय है और आज के युग में समस्त साहित्य के पीछे काम-प्रवृति ढूंढने की चेष्टा चल पड़ी है। मार्क्सवादी साहित्य में वर्ग-प्रेरणा की खोज करते हैं जिसकी मूल भित्ति अर्थ-वैषम्य है। परन्तु साहित्य का मुख्य प्रयोजन अर्थ-संघर्ष या वर्ग वैषम्य का चित्रण हो, इसे कदाचित कोई मार्क्सवादी भी स्वीकार नहीं करेगा

वस्तुतः साहित्य के प्रयोजन का प्रश्न मूलगत प्रश्न है और सभी मूल प्रश्नों की भांति वह अब तक अबूझा रहा है और निरंतर अबूझा रहेगा। इसका कारण यह है कि प्रत्येक युग में साहित्य के प्रयोजन वाले प्रश्न का रूप बदला रहता है और उसका समाधान भी बदल जाता है। दर्शन और नीति-शास्त्र के कुछ अत्यन्त मौलिक प्रश्नों से इस प्रश्न का संबन्ध है। साहित्य युग को जीवन-दर्शन की पृष्ठ-भूमि देता है और वह उससे प्रभावित भी होता है। इसी तरह नैतिकता और अनैतिकता संबन्धी युग-मान्यता भी साहित्य को प्रभावित और परिचालित करती है। प्रत्येक युग और प्रत्येक कलाकार के साथ नैतिक मान्यताओं में परिवर्तन होता रहता है और जीवन दृष्टि भी नये तथ्यों के आविष्कार के कारण बदलती रहती है। फल-स्वरूप

साहित्य के प्रयोजन के संबन्ध में बराबर कटु आलोचना-प्रत्यालोचना बनी रहती है और प्रश्न जहां था वहीं पड़ा रहता है।

संक्षेप में, प्रत्येक युग में साहित्य-समीक्षकों के दो वर्ग मिलते हैं। एक वर्ग साहित्य-मात्र को व्यक्तिगत आनन्द या मनोविनोद की वस्तु मानता है और दूसरा उसे मानव-जाति के सामूहिक सुख-साधन से संबन्धित करता है। पहिला वर्ग साहित्य में व्यक्ति के श्वासोच्छ्वास ढूंढता है, दूसरा उसमें लोक-मंगल की साधना चाहता है। अन्य शब्दों में, एक वर्ग कलावादी और व्यक्तिवादी है और दूसरा वर्ग उपयोगितावादी और समष्टिवादी। आधुनिक युग में सौन्दर्यवादी क्रोचे और आई० ए० रिचर्ड्स पहले मतवाद के समर्थक हैं। दूसरे मतवाद के समर्थकों में आरनाल्ड और टालसटाय के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। दोनों मतवादों में अतिवादी भी हैं, जैसे पहले वर्ग में अंतश्चेतनावादी और दूसरे में मार्क्सवादी। परन्तु इन दो वर्गों की अवस्थिति में किसी प्रकार सन्देह नहीं किया जा सकता।

परन्तु प्रत्येक वर्ग में विशेष पक्ष की व्याख्या अनेक आधारों पर हुई है। उदाहरण के लिये, लोकमंगलवादी या उपयोगितावादी पक्ष में प्लेटो अरिस्टॉटल, होरेस, दाँते, मिल्टन, शैली, लेनिन सभी अलग-अलग समाधान ले कर चलते हैं। मैथ्यो आरनाल्ड ने आधुनिक युग में उपयोगितावादी पक्ष को विशेष बल देकर उपस्थित किया है। उन्होंने काव्य को 'जीवन की आलोचना' कहा है और उसमें नैतिक तत्वों का समावेश आवश्यक माना है। आरनाल्ड नैतिकता के प्रति विरोधी या तटस्थ काव्य को जीवन के प्रति विरोधी या तटस्थ मानते हैं। टाल्स्टाय के मत में कलाकार को नीति और धर्म की बात लेकर चलना होगा। उसे यह देखना होगा कि जीवन पर उसका जो प्रभाव पड़ता है वह लाभदायक है या हानिकारक। परन्तु यह कौन विचार करे कि समाज के लिए लाभदायक या हानिकारक क्या है? फिर यह भी प्रश्न होता है कि कलाकार की नैतिक दृष्टि क्या युग की नैतिक दृष्टि का प्रतिबिंब मात्र है? क्या कोई ऐसी भी जीवन दृष्टि या नैतिक दृष्टि हो सकती है जो सार्वभौमिक हो? जिस पर युग के परिवेश का प्रभाव न पड़ा हो? कलावादी दल स्पष्ट रूप से कहता है कि ऐसी दृष्टि असम्भव है। उसका कहना है कि कला में किसी भी नैतिक दृष्टि का पालन असम्भव है। कम-से-कम अनावश्यक तो है ही। कला न शिक्षा देती है, न आनन्द, न दोनों। वह केवल मानव-संवेदन की अभिव्यंजना है। अभिव्यंजना सुन्दर

है तो कलाकृति के सौन्दर्य में कोई सन्देह नहीं। हम कलाकृति से बाहर जाकर उसका अध्ययन नहीं करते। इस वर्ग के अनुसार कलाकृति के मान उसके भीतर ही ढूंढने होंगे, सामयिक उपयोगिता के बांधने से कलात्मक सौन्दर्य का ह्रास होगा। और भी आगे बढ़कर यह आलोचक वर्ग कहता है कि कला स्वयं साध्य है। उससे धर्म, संस्कृति, नैतिक शिक्षा, मनोवेगों के मार्जन इत्यादि की आशा एकदम व्यर्थ है। उसका अस्तित्व अपने पर ही अवलम्बित है। उन्नीसवीं शदी के आरम्भ में स्वच्छन्दतावादी आलोचना ने साहित्य की बन्धन मुक्ति की आवाज उठाई थी और उसकी स्वतन्त्र सत्ता का नारा लगाया था। आज भी क्रौचे और उनके शिष्य इसी परम्परा को आगे बढ़ा रहे हैं। यद्यपि आज उनका पक्ष सौन्दर्य-शास्त्र और तर्क-वितर्क पर आश्रित है, भावुकता पर नहीं।

एक तीसरा वर्ग भी है, जो कला की स्वतन्त्र सत्ता मानते हुए और उसे धर्म-दर्शन-राजनीति-निरपेक्ष बतलाते हुए भी किसी ऐसे अन्तः सूत्र की कल्पना करता है जिससे कलाकृति इनसे जुड़ी रहती है, यद्यपि वह यह बतलाने में असमर्थ है कि यह अन्तः सूत्र है क्या? इलियट और रिचर्डस बहुत कुछ इसी मध्यवर्ती मनोवृत्ति को लेकर चलते हैं। रिचर्डस का कहना है कि हमारी काव्यानुभूति कदाचित् किसी विशिष्ट रीति से हमारी संस्कृतिगत, धर्मनिष्ठ और सामाजिक भावनाओं को मृदुल बनाती है और इस प्रकार सद्‌प्रयोजनों की सहायक बनती है। परन्तु यह विशिष्ट रीति क्या है, इसका उद्‌घाटन ये मध्यवर्ती आलोचक नहीं करते।

वास्तव में प्रश्न की नींव गहरी है। प्रयोजन की बात उठाने से पहले हमें साहित्य के रूप के सम्बन्ध में निश्चित होना होगा। आखिर साहित्य है क्या? उसके निर्माण के तत्त्व क्या हैं और किस प्रकार उनका संयोजन होता है? इन निर्माण-तत्त्वों में कलाकार की वैयक्तिक अनुभूति और सामाजिक निष्ठा के युगल तत्वों का समन्वय किस प्रकार होगा? यह बात नहीं कि हमारे सामने ये प्रश्न पहली बार आए हैं, परन्तु आज भी ये प्रश्न हमारे लिए महत्वपूर्ण हैं। साहित्य के प्रयोजन से ये प्रश्न अनिवार्य रूप से सम्बन्धित हैं।

कुछ लोगों का कहना है कि साहित्य हमारी संवेदनाओं और आवेगों की अभिव्यक्ति है। कोई इनकी अनुभूति को ही काव्य मान लेता है, कोई कलाकार द्वारा अनुभूत भाव की सार्थकता उसी समय समझता है, जब वह

दूसरे तक पहुंचने में समर्थ होता है। भारतीय रसवाद में विभाव-अनुभावादि के द्वारा स्थायी भावों के पोषण से एक लोकोत्तर आनन्द की कल्पना की गई है और उसे रस कहा गया है। परन्तु तब यह प्रश्न उठता है कि क्या ये संवेदनाएं और ये आवेग पूर्णतः वैयक्तिक हैं ? और अपने परिवेश से किसी भी प्रकार सम्बन्धित नहीं हैं ? यह कहना सचमुच बड़े साहस का काम होगा। पहली बात तो यह है कि साहित्य केवल संवेदनाओं और आवेगों तक सीमित नहीं है। साहित्यकार अपने चारों ओर के संसार के प्रति एक निश्चित जीवन-दृष्टि या मूल्य-दृष्टि लेकर चलता है। यह मूल्य दृष्टि विज्ञान की तरह तर्क-वितर्क प्रधान और नीरस नहीं होती। वह प्रातिभ ज्ञान पर आश्रित होने के कारण प्रत्यक्ष और साहित्यकार के अपने संवेदनों और आवेगों से सम्बन्धित होने की क्षमता रखने के कारण रसपूर्ण रहती है। इस प्रकार साहित्य की प्रक्रिया में साहित्यकार बाह्य संसार से अपना सम्बन्ध जोड़ता है और उसकी अपनी संवेदना और अनुभूति इस बाहरी परिवेश से प्रभावित होती है। यह परिवेश प्रत्येक युग और प्रत्येक साहित्यकार के साथ बदलता रहता है और इसीलिए मूल संवेदना समान रहने पर भी प्रत्येक युग का साहित्य अन्य युग के साहित्य से भिन्न होता है और साहित्यकारों की रचनाओं में भी मूलगत भेद रहता है। इस परिवेश में सामयिक समाज की प्रवृतियों का ज्ञान ही नहीं, पूर्ववर्त्ती और समसामयिक कलाकारों की रचनाओं का सम्यक् ज्ञान भी सम्मिलित है। वस्तुतः इस प्रकार का ज्ञान ही हमें अतिवाद के प्रति जागरूक रखता है और हमारी दृष्टि में संतलन, व्यापकता और परिष्कार का जन्म होता है।

इस नई पृष्ठभूमि में हमें साहित्य के प्रयोजन के संबन्ध में सोचना है। साहित्य का प्रयोजन मनोरंजन, लोकोत्तर आनन्द या रस अथवा साहित्य-रस है, ऐसा कहा जाता है। इसमें सन्देह नहीं कि यह साहित्य का प्रमुख प्रयोजन है। प्रकृति, प्रेम, वात्सल्य, वीरता आदि को लेकर जिस काव्य की रचना होती है, वह स्वयं हमें पूर्ण भावोन्मेष देने में समर्थ है। ये विषय हमारी मूल संवेदनाओं और भावनाओं को छूते हैं। परन्तु इनसे हमारी जीवन के प्रति वितृष्णा भी गहरी और व्यापक होती है। ये हमें एक ऐसी मूल्य-भावना देते हैं जो हमें अन्य प्राणियों से अलग करती है, और मनुष्य जाति के प्रत्येक प्राणी से संपृक्त कर देती है। यह व्यापक जीवन-दृष्टि

या मूल्य भावना उन मूल संवेदनाओं और भावनाओं से भिन्न चीज है, जो ये विषय हम में जगाते हैं। परन्तु साहित्य के प्रयोजन यहीं तक समाप्त नहीं हो जाते। उसमें हमें पीड़ित मानवता के क्रंदन को महत्वपूर्ण स्थान देना होगा और सामाजिक सत्य अथवा समष्टि के सत्य को भी वाणी देना होगी। यदि प्रकृति का वैभव और प्रेम की सहस्रशः भंगिमाएं एवं शिशुओं का हास-विलास सत्य है, तो आ। लक्ष्य-लक्ष्य प्राणियों का उत्पीड़न भी उतना ही सत्य है। हमारे ऊपर का नीला आकाश भी उतना ही सत्य है जितनी नीचे की कर्दम-कलुषमयी धरती। दोनों सत्य हैं। साहित्यकार को अपने सम्पूर्ण परिवेश को लेकर चलना है। यदि वह अपने प्रति सच्चा है तो वह एकांगी नहीं बना रह सकता। जीवन का मूल्यांकन और उसकी व्याख्या भी उसकी कला का उतना ही आवश्यक अंग है, जितनी जीवन के राग रंजित क्षणों की अभिव्यक्ति। शर्त यही है कि वह "वादों" के फर में नहीं पड़े और इससे उसकी जीवन-दृष्टि संकुचित नहीं हो जाये।

साहित्य का प्रयोजन मनुष्य मात्र की जीवन-दृष्टि को विस्तृति देना है। एक नई सार्वभौमिक मूल्य-भावना का विकास उसका लक्ष्य होना चाहिए। साहित्यकार के भीतर बाहर के उपकरण, उसकी संवेदनाएं और आवेग और उसकी अपने परिवेश के प्रति प्रतिक्रया, दोनों एक ही प्रकार इस लक्ष्य के लिए महत्वपूर्ण हैं। एक तरह से दोनों में कोई विरोध नहीं है। अपने परिवेश के प्रति यदि साहित्यकार बौद्धिक रूप से पूर्ण सजग नहीं है, तो वह अपने साहित्य को कम मूल्य की चीजों से भर देगा। उसकी संवेदनाएं शिथिल होंगी उसके आवेग महत्वपूर्ण नहीं होगे और उसका साहित्य पाठक में केवल अलसता, अस्पष्टता या बहुत हुआ तो धीमी हलचल ही भर सकेगा। लोकोत्तर आनन्द का विधायक कलाकार आज या कभी भी अपने चारों ओर की विषमताओं और उत्पीड़नों के प्रति अनासक्त नहीं रह सकता। शैली और रवीन्द्रनाथ प्रमाण हैं। यह अवश्य है कि उसकी प्रतिक्रिया "वाद" विशेष के अन्तर्गत नहीं बांधी जा सकेगी। परन्तु उससे पाठक को जीवन के प्रति अभिनव और व्यापक दृष्टि मिलेगी। यही सार्वभौम मूल्य-भावना या जीवन-दृष्टि साहित्य का मुख्य प्रयोजन है। अन्य प्रयोजन गौण हैं। इस मुख्य प्रयोजन में साहित्यकार जितना सफल है उतना ही बड़ा कलाकार वह है। यह जीवन-दृष्टि कभी-कभी मान्य नीति या धर्म-भावना

की विरोधिनी भी हो सकती है, क्योंकि कलाकार साधारण प्राणियों से अधिक संवेदनशील, अधिक निष्पक्ष और जीवन से अधिक संपृक्त रहता है। वह युग के विरोधाभासों को बहुत स्पष्टता से देखता है और वह सामान्य प्राणियों की भांति पाप-पुण्य और रूढ़ि परंपरा के बन्धनों में बंधा नहीं रहता।

: ३ :

साहित्य में प्रगतिशीलता

आज साहित्य में चारों ओर से प्रगतिशीलता की मांग है। कौन कवि रूढ़िवादी है, कौन प्रगतिशील—इस विषय में तर्क-वितर्क चलते रहते हैं और इनका अंत दिखलाई नहीं पड़ता। परन्तु वस्तु-स्थिति कुछ ऐसी है कि जिस रचना को आज प्रगतिवादी कह दिया गया है, कल वही अगतिवादी या रूढ़िवादी बन जाती है। एक साहित्यकार दूसरे को प्रतिक्रियावादी कह कर अपमानित करने का प्रयत्न करता है। इस तरह साहित्य-साम्राज्य में अराजकता का सजन होता है। ऐसी परिस्थिति में यह आवश्यकता है कि हम साहित्य में प्रगतिशीलता के वास्तविक अर्थों को पहले समझ लें। प्रगतिशीलता से हमारा क्या तात्पर्य है और साहित्य के बदलते हुए मानों को लेकर किसी श्रेष्ट रचना की प्रगति या अगति कैसे निश्चित की जाये। इस संबन्ध में और भी अनेक प्रश्न उठ सकते हैं, क्योंकि प्रगतिशीलता का सम्बन्ध साहित्यिक के जीवन अथला परिवेश-सम्बन्धी दृष्टिकोण से भी है।

प्रगतिवादी छाप के साहित्यिकों का कहना है कि प्रत्येक युग में कुछ ऐसी शक्तियां रहती हैं जो नवीन-जीवन चेतना की विरोधिनी होती हैं अथवा जो नए परिवेश को स्वीकार कर नहीं पातीं। वे प्रयोगों के प्रति सहनशील नहीं होतीं। वे बीते मानों और मान्यताओं को पकड़ कर बैठ

जाती हैं। इसके विपरीत ऐसी भी शक्तियां होती हैं। जो नई जीवन-चेतना को खोज निकालती हैं और नए परिवेश के प्रति सहनशील अथवा जागरूक रहती हैं। इन दो शक्तियों को ही रूढ़िवादी अथवा प्रगतिवादी कहा जाता है। परन्तु यह वर्ग कदाचित् यह मान कर चलता है कि साहित्य में समाज-चेतना का ग्रहण अनिवार्य है। अंतर्मुखी साहित्य को वह साहित्य नहीं मानता। कुछ आगे बढ़ कर वह उसे घोर प्रतिक्रियावादी कहने के लिए तैयार रहता है।

प्रगतिशीलता के इस मानदंड को लें तो यह—स्पष्ट हो जाता है कि इस वाद के समर्थक—कवि या साहित्यकार—को स्वतः प्रगतिशील नहीं मानते। वह उसी अंश में प्रगतिशील है जिस अंश में वह सज्ञान रूप से समाज का नेतृत्व करने के लिए तैयार है। इस प्रकार साहित्य के मूल स्रोत के रूप में वह राजनैतिक और आर्थिक समस्याओं को देखते हैं। इसमें सन्देह नहीं कि साहित्यकार के लिए संपूर्ण जीवन का परिचय आवश्यक है और राजनीति तथा धर्मशास्त्र किसी भी युग के जीवन की दो महत्वपूर्ण इकाइयां हैं, परन्तु वही एकमात्र संयोजनीय अथवा संग्रहणीय इकाइयाँ हैं, यह दावा कुछ अधिक ही जान पड़ता है। साहित्य जीवन से सम्बन्धित हो, वह उसका दर्पण हो या प्रतिफलन हो, यह आवाज पहले यूरोप से उठी। फ्रांसीसी राज्यक्रांति ने मनुष्य को सामन्तवादी चेतना के विरुद्ध संगठित किया और व्यक्ति की स्वतन्त्रता एवं सामूहिक कल्याण की भावना का सूत्रपात हुआ। पहले व्यक्ति-स्वातन्त्र्य और जनकल्याण में विरोध नहीं था। विक्टर ह्यूगो और शैली जैसे स्वच्छन्दतावादी कवि अपने अपने युगों में सामाजिक विद्रोह और क्रांति के प्रतीक रहे हैं। परन्तु धीरे-धीरे समाज-निष्ठा बढ़ती गई और रूस की जन-संक्रान्ति के बाद व्यक्तिवाद, कलावाद, और समाजवाद के दो विरोधी मोर्चे खड़े हो गए। साहित्य में कवि अथवा साहित्यकार की अनुभूति का प्रकाशन समाजवादी साहित्यिकों के लिए प्रतिक्रियावादी बुर्जुआ प्रवृत्ति बन गया। यह कहा गया है कि प्रत्येक कवि-साहित्यकार अपने युग के वर्ग संघर्ष को ज्ञात अथवा अज्ञात रूप में लेकर चलता है। वह युग की प्रगतिशील शक्तियों का साथ देता है। इस समीकरण के अनुसार शेक्सपियर, होमर, बाल्मीकि और व्यास प्रभृत्ति प्राचीन कलाकारों में वर्ग-संघर्ष ढूंढने का प्रयत्न किया गया। इस वर्ग के आलोचकों के लिए साहित्यिक सौन्दर्य कृति का अतिरिक्त गुण-दोष है, रचना का विचार

पक्ष अधिक महत्वपूर्ण है और इस विचार-पक्ष के सम्बन्ध में भी एक पूर्वग्रह है। यह वर्ग यथार्थवाद के उस रूप का पोषक है जिसे वह समाजवादी यथार्थवाद कहता है। यूरोप में यथार्थवादियों का एक दल ऐसा भी विकसित हुआ है जो जीवन की गर्हित, असामाजिक और असुन्दर छवियों का आकलन ही ध्येय मानता है। यह यथार्थवाद का निरुद्देश्य रूप है। समाजवादी यथार्थवादी इसे भी उतना ही असंग्रहणीय और प्रतिक्रियावादी मानते हैं जितना वैयक्तिकता-प्रधान स्वच्छन्दतावादी साहित्य को, जिसमें, उन्हें महाजनी सभ्यता का निरर्थक आक्रोश और दिवा-स्वप्न दिखलाई पड़ता है। उनके लिए गोर्की का साहित्य भी निरुद्देश्य है और वह विशुद्ध समाजवादी यथार्थ-वादी साहित्य के अन्तर्गत नहीं आता।

यह स्पष्ट है कि इस मान्यता में साहित्य इतनी संकीर्ण सीमा में बंध गया है कि उसके लिए विशेष कुछ रह ही नहीं गया है। साहित्य में मनुष्य के भीतर-बाहर का सम्पूर्ण आना चाहिए। उसमें साहित्यकार के सौंदर्य-बोधों, उसकी आशाकांक्षाओं, उसकी कुण्ठाओं और उसकी स्वप्न सष्टियों का भी स्थान होना अनिवार्य है। साहित्यकार समाज का प्राणी है और ज्ञात-अज्ञात रूप से वह अपने परिवेश से पूर्णतः प्रभावित होता रहता है। यदि वह अपने प्रति ईमानदार है तो वह अपनी वैयक्तिक अनुभूति को भी प्रगतिशील रूप दे सकेगा। उससे यह आशा करना व्यर्थ है कि वह कुछ अर्थशास्त्रीय, मार्क्सवादी अथवा समाजवादी सिद्धान्तों को जीवन-मान बना ले और जीवन की उन्मुक्त दिशा में साहित्य को न खोजकर से जड़ मतवादों की संकीर्ण गलियों में ढूंढे। इस प्रकार तथाकथित प्रगतिशीलता ही रूढ़ि-वादिता बन जाती है और प्रगति का जादू उतर जाता है।

एक दूसरे प्रकार की प्रगतिशीलता की दुहाई भी इन दिनों दी जा रही है। फ्राइड, युंग और एडलर की वैज्ञानिक खोजों पर आश्रित अन्तश्चेतना वादी साहित्यिक वर्ग भी अपने को प्रगतिवादी कह रहा है। वह साहित्य को दमित इच्छाओं का विस्फोट मानता है और उसके लिए श्रेष्ठ कलाकृतियाँ चेतन-मानस की अपेक्षा अवचेतन मानस की प्रतिक्रिया ही अधिक हैं। साहित्य मनःकल्प मात्र है। उसमें लब्धि नहीं, विरोध और अभाव ही प्रतीक-निष्ठ और मूर्तिमान हैं। अधिकांश साहित्य यौन-भावना से जन्म लेता है और कृति को समझने के लिए हमें साहित्यकार के अवचेतन में उतरना होगा। अवचेतन की इस खोज ने कलाकार को खिलौना बना दिया है। उसका

स्वस्थ, सन्तुलित व्यक्तित्व पीछे पड़ गया है और उभर आया है उसका दुर्बल व्यथा-पीड़ित, आत्मनिरोधी मन। यह सिद्ध किया जा रहा है कि बड़े-बड़े कलाकार भी अपने भीतर कितने क्षुद्र थे और अपनी क्षुद्रता से छुटकारा पाने के लिए ही उन्होंने महान कल्पनाओं, स्वप्नों और चरित्रों की सृष्टि की है। समझ में नहीं आता कि साहित्य स्वस्थ चेतन मन की प्रतिक्रिया की अपेक्षा अस्वस्थ, रोगी उपचेतन का लीला-भवन क्यों हो? श्रेष्ठ साहित्य में रोगी मन का उदात्तीकरण हो गया है, ऐसा माना जाता है। इस उदात्तीकरण को बड़ा महत्व भी दिया जाता है। इसे एक प्रकार का पलायन भी क्यों नहीं मान लिया जाए? इस दृष्टिकोण को ग्रहण करने से तो सारा श्रेष्ठ साहित्य ही पलायनवादी हो जाता है। जहां उपचेतन की आदिम, जीव विज्ञानीय प्रवृत्तियां ही प्रमुख हैं, वहां संस्कृति और कलात्मक सौंदर्य की बात करना तो आत्म प्रबंचना ही है। मार्क्सवादी-समाजवादी दृष्टिकोण की तरह यह दृष्टिकोण भी संकीर्ण है। उसमें समाज की विभिन्न प्रवृत्तियों, हलचलों और प्रतिच्छबियों का आकलन नहीं हो पाता। वह साहित्यकार के अवचेतन में सिमट कर रह जाता है।

यह स्पष्ट है कि प्रगतिशीलता के सम्बन्ध में ये दोनों दृष्टिकोण एकाँगी हैं। इनमें विचार और ज्ञान की नवीनता है, कुछ हद तक प्रगतिशीलता भी है, परन्तु साहित्य केवल विचार अथवा ज्ञान नहीं है। वह मानवीय संवेदनाओं पर आधारित है। मार्क्सवादी अथवा फ्रायडीय सिद्धांतों के आधार पर जो साहित्य आ रहा है, उसमें मानवीय संवेदनाओं की नितान्त उपेक्षा है। उसमें साहित्यकार जीवन की मुक्त प्रवाहिनी की ओर नहीं देखता, सिद्धांत के आधार पर जीवन की एकांगी मूर्ति गढ़ता है जो अनिवार्यतः जड़ और निष्प्राण रहती है। अतः सच्चे अर्थों में यह प्रगतिशील नहीं है। यहाँ 'स हित्य-तत्व' की ही उपेक्षा है, अतः साहित्य की दृष्टि से प्रगतिशीलता की बात तो आती ही नहीं। यह साफ दिखलाई पड़ता है कि साहित्य में प्रगतिशीलता की बात तो आती ही नहीं। यह साफ दिखलाई पड़ता है कि साहित्य में प्रगतिशीलता का विचार करते हुए हमें नए तत्वों का आविष्कार करना होगा, जो साहित्य के भीतर सन्निहित हों और जिनकी प्रगतिशीलता बाहर की थोपी हुई वस्तु नहीं हो।

यदि हम ध्यान से देखें तो यह स्पष्ट है कि प्रगतिशीलता दो प्रकार की हो सकती है। एक दृष्टिकोण की प्रगतिशीलता, दूसरी विशुद्ध साहित्यिक

उपकरणों सम्बन्धी प्रगतिशीलता। दृष्टिकोण की प्रगतिशीलता का सम्बन्ध विषय से है। कबीर और तुलसी लगभग एक ही युग के कवि हैं। कबीर में हमें दृष्टिकोण की प्रगतिशीलता स्पष्ट रूप से दिखलाई पड़ती है। उन्होंने नये परिवेश को स्वीकार किया है और नये सामाजिक जीवन को समाधान और चुनौती के रूप में बहुत कुछ दिया है। तुलसी पुरातन परिवेश से बाहर नहीं जा सके हैं। वे वर्णाश्रम की महत्ता और ब्राह्मण की मान्यता पर रुक गए हैं। परन्तु विशुद्ध साहित्यिक प्रगतिशीलता तुलसी में काफी है। उनमें हमें स्पष्टतः बोध-पक्ष का विस्तार मिलता है। उनके साहित्य की रस संवेदना कहीं अधिक सूक्ष्म, कहीं अधिक परिष्कृत है। वे बाल्मीकि इत्यादि की अपेक्षा अपने पात्रों के मनोविज्ञान में कहीं अधिक पैठ सके हैं और कर्तव्य तथा प्रवृति का द्वन्द उनके साहित्य में इस स्पष्टता से उभरा है कि हम उनकी साहित्य-कला पर मुग्ध रह जाते है। उनके काव्य का बहिरंग भी प्रगतिशील तत्वों से निर्मित है। पुरातन छन्द भी उनके प्रयोग-वैशिष्ट्य के कारण नवीन बन गए हैं और उनमें सूक्ष्मतर ध्वनियों और प्रगति-तत्वों की चेतना मिलती है। इस प्रकार समसामयिक कवियों से वह बहुत आगे हैं। उनका साहित्य सम्पूर्ण रूप से क्रांतिकारी न होकर भी बहुत दूर तक प्रगतिशील है।

आज हम साहित्य में इन दोनों प्रकारों की प्रगतिशीलता चाहते हैं। विज्ञान ने हमारे परिवेश को बदल दिया है और आज खंजन-कमल के प्रतीक हमारे मन में वह सौन्दर्य-बोध जाग्रत नहीं करते जो कालिदास और तुलसीदास के समय में करने में समर्थ थे। नए परिवेश को स्वीकार किए बिना हम अपने देश के नए मानव के रसकोणों को छू ही नहीं सकेंगे। इलियट के साहित्य में हम इंगलैण्ड के जीवन के ये नए उपकरण स्पष्ट रूप से देखते हैं। प्रारम्भ में विरोध होने पर भी आज उन्हें सर्वमान्यता प्राप्त है। परन्तु इससे भी अधिक महत्वपूर्ण यह है कि आज हमारा साहित्य नए आर्थिक-राजनैतिक सम्बन्धों और उनके द्वारा प्रभावित जीवन के नए मानों का प्रकाशन कर सके। उसमें किसी एक वर्ग या दल की नहीं, सम्पूर्ण जीवन की प्रतिच्छवियाँ अंकित हों और युग की समस्याओं में हमारे बोध-पक्ष का विस्तार हो। हम साहित्यकार से यह आशा नहीं करते कि वह समस्याओं के समाधान उपस्थित करे, परन्तु हम यह अवश्य चाहते हैं कि हमारा साहित्यकार समस्याओं के अधिक-से-अधिक पहलुओं से परिचित हो और उन

विभिन्न पहलुओं के पारस्परिक समीकरणों को भी जाने। साथ ही यह भी आवश्यकता है कि हम जीवन की सूक्ष्मतर भंगिमाओं को पकड़ें, हमारा रस-संवेदन अधिक सूक्ष्म और व्यापक हो और हम नए जीवन की अनुभूति को अधिक अभिव्यंजनाशील और सूक्ष्मतर ध्वनियों की चेतना दें। साहित्य का हृदय है आत्मानुभूति। यह आत्मानुभूति जीवन की विशिष्ट प्रतिच्छवियों पर आश्रित हो कर उपन्यास-कहानी-नाटक और महाकाव्य का रूप ग्रहण करती है। प्रेम, प्रकृति, जीवन के मंगल-स्तवन, मानवीय संवेदना और मानव के जीवन मरण जैसे चिरंतन प्रश्नों पर आधारित गीत एकदम प्रतिक्रियावादी नहीं कहे जा सकते। नवीन वैज्ञानिक परिवेश और नए आर्थिक-राजनैतिक-नैतिक समीकरणों से उनका रूप बदल जाता है। इसलिये काव्य के ये चिरंतन विषय शाश्वत हो कर भी चिर नवीन हैं। साहित्य में केवल आर्थिक-राजनैतिक पृष्ठभूमि ग्रहण कर हम उसकी व्यापकता पर आघात करते हैं। हमें जीवन को उसकी सारी परिपूर्णता में ग्रहण करना होगा। अंतश्चेतनावादी साहित्यकार भी मार्क्सवादी या समाजवादी साहित्यकारों की तरह जीवन का एक अपेक्षाकृत छोटा, कभी-कभी अल्प महत्वपूर्ण अंग ले कर चलते हैं और इस प्रकार जीवन की अखंडता और विशदता को छोटा करते हैं। वास्तव में 'वाद' विशेष का आग्रह जीवन की संपूर्ण और संश्लिष्ट अनुभूति का विरोधी है और उसे ले कर प्रगतिशीलता का अभिनय करना हास्यास्पद है। इसमें सन्देह नहीं कि आज हमें प्रगतिशीलता के सच्चे तात्विक अर्थों को समझ लेना होगा और उसमें लोक-जीवन और पूर्व-साहित्य-सृष्टि की सुन्दरतम चेतनाओं को समाविष्ट करना होगा।

: ४ :

काव्य-सृजन और काव्यालोचन

काव्यसृजन और काव्यालोचन एक ही प्रक्रिया के दो छोर हैं और संपूर्ण प्रक्रिया को पूर्णतया समझने के लिये इन दोनों के गंभीरतम स्रोतों को समझ लेना अनिवार्य है। भारतीय साहित्य-शास्त्र में रसानुभव अथवा रसध्वनि के सिद्धान्त के अंतर्गत कवि, काव्य और सहृदय श्रोता अथवा रसज्ञ को एक केन्द्रविन्दु पर लाने का प्रयत्न किया गया है। साधारणीकरण की प्रक्रिया के द्वारा सहृदय अपनी वैयक्तिक सीमाओं से ऊपर उठ कर रस का आस्वादन करता है। वह अपनी दैनंदिन अनुभूतियों को पीछे छोड़ देता है, और भावना तथा अनुभूति की एक असामान्य, उदात्त और तटस्थ स्थिति को ग्रहण कर लेता है। रस के अलौकिकत्व को हमें इस साधारणीकरण की प्रक्रिया में ढूंढना होगा। रसानुभूति मन की आनन्दमयी प्रक्रिया है और इस प्रक्रिया में पाठक ऐसे भाव-लोक में पहुंच जाता है कि वह स्वयं अपने को और अपनी भौतिक स्थिति को भूल कर एक अतीन्द्रिय स्वप्न-लोक में विचरण करने लगता है। जिस अतीन्द्रिय आनन्द का उसे अनुभव होता है उसे 'ब्रह्मानन्द-सहोदर' कहा गया है। उसका अपना वैयक्तिक अस्तित्व तिरोभूत हो जाता है और वह चेतना के ऐसे स्तरों में प्रवेश करता है जहां उसकी अपनी चेतना सार्वभौम चेतना का अंश बन जाती है। व्यंजना के

द्वारा इस व्यापक रसानुभूति की कल्पना भारतीय सौन्दर्य-शास्त्र की सबसे ऊंची उड़ान है। परन्तु इसके लिए यह आवश्यक है कि काव्य का पाठक या स्रोता सहृदय हो, उसमें ऐसे संस्कार हों जिनसे वह कलाकृति से पूर्णरूप से संयोजित हो सके और उसकी अभिरुचि परिमार्जित हो।

परन्तु हमारे काव्य-शास्त्री "रस" पर रुक जाते हैं। वह काव्यसृजन की प्रकृति और उसके विभिन्न स्तरों की खोज नहीं करते। भारतीय साहित्य में कवि-प्रतिभा और कवि-व्यापार की विवेचना अवश्य मिलती है, परन्तु रस, ध्वनि, अलंकार नायिका भेद, छन्द-शास्त्र और इन विभिन्न काव्यांगों के पारस्परिक सम्बन्ध पर ही अधिक लिखा गया है। पश्चिम में काव्यसृजन की प्रक्रिया और कवि के व्यक्तित्व को कृति से संयोजित करके काव्य-विवेचन के लिए एक नया मार्ग ही अन्वेषित हो गया है।

पण्डितों ने काव्य-सृजन का मूल स्रोत "प्रतिभा" को माना है। प्रतिभा का अर्थ है वह कल्पना-शक्ति, वह अंतर्दृष्टि, जिससे कवि प्रत्येक नवीन वस्तु-स्थिति और संयोजना में अपने वैयक्तिक और आकर्षक ढंग से किसी मूर्त्त-वस्तु, परिस्थिति, घटना, विचार अथवा भावोद्रेक की स्थापना करता है। कवि-प्रतिभा की स्वतत्र, स्वच्छन्द, विविध और अदमनीय चेतना ही काव्य के रूप में मूर्तिमान होती है। उसकी स्वतंत्र और सर्वोपरि सत्ता से कोई भी इन्कार नहीं कर सकता। वास्तव में उसे शब्दों में पूर्णतया बाँधना कठिन है, इसी से पूर्वजों ने उसे लोकोत्तर अथवा वरदान के रूप में माना है। अपने यहां वाग्देवी की कल्पना की गई है और काव्य-साहित्य को उसी का प्रसार बतलाया है। कवि-प्रतिभा के इस लोकोत्तर रूप के समर्थक कवि को माध्यम मात्र मानते हैं।

परन्तु क्या कवि-प्रतिभा सचमुच लोकोत्तर है? क्या कहीं कवि के बाहर उसका अस्तित्व है? सृजन के क्षण इतने स्फूर्ति प्राण केन्द्रभूत और आनन्दमय होते हैं, उस समय कवि नाम के प्राणी में भौतिक, शारीरिक, और स्नायिव चेतना कुछ इतनी नवीन और वैयक्तिक होती है और उन सृजन के क्षणों का फल, कवि की कृति, ऐसी अद्भुत है कि उसे और कुछ न कह कर लोकोत्तर कह दिया जाता है। काव्यसृजन साधारण पाठक के लिए विस्मय की ही वस्तु है, अतः रूपक-रूप में उसे लोकोत्तर कहें तो कुछ भी अनुचित नहीं है। साधारण मनुष्य की प्रतिक्षण की काम-काजी

अनुभूति से यह इतनी भिन्न है कि उसे विचक्षण ही कहा जा सकता है। परन्तु मनोविज्ञान की नई खोजों से यह स्पष्ट है कि इस अनुभूति में देवी कुछ भी नहीं है।

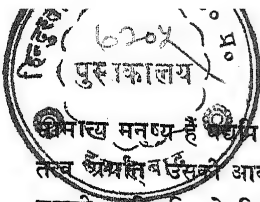
काव्य-सृजन एक संश्लिष्ट प्रक्रिया है, जिसमें भावना, कल्पना और ज्ञान के विभिन्न तत्व विभिन्न अनुपात से एक ही समय में इस प्रकार गुंफित हो जाते हैं कि उन्हें अलग-अलग नहीं किया जा सकता। साथ ही इस संश्लिष्ट प्रक्रिया में अभिव्यंजना के तत्व भी मिले होते हैं। अभिव्यंजना काव्य-सृजन का ही एक अंग है। काव्य-प्रेरणा के भावुक क्षणों में कवि की अनुभूति अत्यंत तीव्र हो जाती है, उसकी निर्मात्री प्रतिभा उद्दीप्त हो उठती है, उसकी अंतर्दृष्टि के विस्तार के साथ उसकी कल्पना-शक्ति दुस्साहसी बन जाती है और पृथ्वी से आकाश तक का सारा प्राकृतिक-वैभव उसके लिए हस्तामलकवत् हो जाता है। कवि की अंतश्चेतना के अनेक अदृश्य स्रोत उन्मुक्त हो जाते हैं और उसकी पूर्वस्मृतियाँ और पूर्वानुभूतियां उसके मन को नई सूक्तियां, नए अप्रस्तुत विधानों, नए नादों-स्वरों, नई लयों और नए संकेतों से भर देती हैं। कवि के व्यक्तित्व के निर्माण में जिन तत्वों ने भाग लिया है, वे सब—उसके घृणा-द्वेष, उसका सूक्ष्म चिन्तन और उसकी चुहलें—एक ऐसी कलाकृति को जन्म देते हैं, जो कवि को भी अपने व्यक्तित्व से भिन्न एकदम नई लगती है। संक्षेप में कवि के मन का सौन्दर्य उसके अपने अस्तित्व से स्वतंत्र सत्ता ग्रहण कर लेता है।

यह प्रक्रिया एक साथ सौन्दर्यनिष्ठ, सृजनात्मक और व्यवहारात्मक अर्थात् टेकनिकल है। इसका आरंभ, मध्य और अन्त सुनिश्चित है। आरम्भ को हम प्रेरणा कह सकते हैं। इस अवस्था में कवि-कलाकार किसी माध्यम के द्वारा अपने भाव की अभिव्यक्ति करना चाहता है। दूसरी अवस्था में वह अभिव्यंजन-कला की ओर विशेष जागरूक रहता है और अंत में वह निश्चित कलाकृति के निर्माण में समर्थ हो जाता है। यह सारी सृजनात्मक प्रक्रिया एक सम्पूर्ण प्रक्रिया है। परन्तु कलाकृति पूर्ण होने पर भी अपने बाहर प्रसारित होती है। कलाकार भी मनुष्य है, साधारण प्राणी है और वह भी अपनीपरिस्थितियों से प्रभावित होता है। उसका माध्यम हैं, शब्द-जिनके पीछे अर्थों, भावनात्मक सम्बन्धों, ऐतिहासिक प्रकरणों, संदर्भों और भंगिमाओं एवं दृष्टिकोणों की एक विस्तृत भूमि है। फलस्वरुप जिन शब्दों का प्रयोग कवि अपनी अनुभूति की पूर्णतम व्यंजना के लिए करता है, वही दूसरे के

लिए विशेष अर्थ देने में भी समर्थ होते हैं। इस प्रकार सृजन के द्वारा कवि आत्माभिव्यंजना में ही समर्थ नहीं होता, वह पर-बोधक भी बन जाता है। इसमें सदेह नहीं कि कवि का पूरा व्यक्तित्व सृजन में डूब जाता है, माध्यम का उपयोग और उसकी संभावनाएं उसे अद्भुत आनन्द से भर देती हैं और जब वह इस प्रक्रिया में सफल होता है तो उसकी सारी अनुभूति ही कलाकृति का रूप ग्रहण कर लेती हैं। कुछ भी अवशिष्ठ नहीं बचता। परन्तु फिर भी उस कलाकृति को एक ओर उसके मूल स्रोत, उसकी पृष्ठभूमि और उसकी सृजन-प्रक्रिया से, और दूसरी ओर उसके साहित्यिक सांस्कृतिक और सामाजिक मूल्यों से सम्बन्धित किया जा सकता है। हम उसे परम्परा से आबद्ध कर सकते हैं, अथवा परम्परा की दी हुई उसकी चुनौती को स्वीकार कर सकते हैं। या तो हम उस रचना से आनन्द ग्रहण कर सकते हैं, या उसके गुण-दोषों को उन्मुक्त कर सकते हैं। इस तरह कलाकृति के एक ओर कवि है, दूसरी ओर जागरूक सहृदय पाठक या आलोचक।

कलाकृति का विश्लेषण करते हुए भी हमें पहले कवि की प्रतिभा, उसके रूप, उसकी स्फूर्ति के सम्बन्ध में विचार करना होता है। क्यों प्रतिभा विशेष अवसर पर, विशेष प्रकार से क्रियाशील होती है, क्यों वह सदैव क्रियाशील नहीं रहती, क्यों विशेष कवियों और कलाकारों का व्यक्तित्व सदैव प्रवहमान रहता है, जड़ीभूत नहीं हो जाता ? ऐसे अनेक प्रश्न हैं जिनका उत्तर देना आज कुछ कठिन है। हमारे देश में प्रतिभा को संस्कार अथवा वासना की उपज माना गया है और उसको पूर्व जन्मों से सम्बन्धित किया गया है। परन्तु क्या हम आधुनिक मनोविज्ञान के अनुसार इस सृजनात्मक प्रतिभा की व्याख्या नहीं कर सकते ? प्रत्येक प्राणी में सृजनात्मक स्फूर्त्ति का निवास है। इसका एक रूप प्रजनन है। क्या रस इसी प्रकार की कोई सृजनात्मक स्फूर्त्ति नहीं हैं ? सामान्य मनुष्य को कलाकृति से जो रसानुभूति मिलती है, वह क्या इससे नितान्त भिन्न है ?

आधुनिक मनोविज्ञान ने मनुष्य के मन को दो भागों में बाँट दिया है। चेतन और अवचेतन। फ्राइड का कहना है कि चेतन मन अक्रियाशील है, अवचेतन मन विशेष क्रियाशील है। मनुष्य की चेतन क्रियाओं के भीतरी तल में अवचेतन की प्रेरणाओं, स्फूर्त्तियों और क्रियाओं का ही विस्फोट है। प्रतिभाशाली कवि और कलाकार भी



सामान्य मनुष्य है यद्यपि उसे विशेष सृजन-शक्ति प्राप्त है। उसके परिवेश के तत्व अर्थात् उसकी आवश्यकताएं, स्फूर्त्तियां, सीमाएं, परिस्थितियां इत्यादि उसकी अभिरुचि के निर्माण में भाग लेती हैं। उसका अपना परिवार रहता है और इस परिवार की जातिगत अथवा वर्गगत एवं स्थानीय कुछ विशेषताएं रहती हैं। उसकी प्रतिक्रिया, उसका ज्ञान, उसका विशेषत्व, उसका व्यवहार और जीवन-दर्शन सब निश्चित रहता है। इनमें से अधिकांश के पीछे उसका वैयक्तिक अथवा समाजगत इतिहास रहता है। यह परिवेश ही उसके मन को गढ़ता है। फिर उसकी शिक्षा-दीक्षा, उसका अध्ययन, उसके ज्ञात-अज्ञात निरोध, उसके व्यक्तित्व के अनिवार्य अंग बन जाते हैं। कवि-कलाकार का यह व्यक्तित्व ही उसकी कलाकृति को विशिष्टता प्रदान करता हैं।

परन्तु इसके अतिरिक्त और भी बहुत कुछ है जो कलाकार अपने परिवेश से ग्रहण करता है। उसकी चेतना के विभिन्न स्तरों पर अथवा उसके उपचेतन और अवचेतन मन पर अज्ञान, स्मृति, करण,कारण,सम्बन्ध, भावभंगिमा (दृष्टिकोण) व्यवहार और अनुभूति की अनेकानेक छापें छिपी या उभरी रहती हैं। ये कवि की अंतःप्रेरणा के अदृश्य स्रोत हैं। ये जातिगत या सार्वभौमिक तत्व एक अव्यक्त तत्व के रूप में कलाकार के व्यक्तित्व में सदैव अंतर्हित रहते हैं। कवि के अंतर्जगत का यह भाग साधारणतः सुषुप्ति की अवस्था में रहता है परन्तु जब वह एक बार जाग्रत हो जाता है तो वह कवि को अदमनीय स्फूर्ति से भर देता है और उसकी कल्पना में ऐसे तत्व समाविष्टि हो जाते हैं जिनका उसे आभास भी नहीं होता या जो सामान्यतः उसके ज्ञान, व्यवहार और चिन्तन के विषय नहीं होते। सृजन के क्षणों में कवि-कलाकार इन्हीं अदृश्य स्रोतों में डुबकी लगाता है। इससे वह अपने व्यक्तिगत बंधनों से मुक्ति पा जाता है और निर्बन्ध,उन्मुक्त जीवन चेतना उसकी अनुभूति को नया रूप देने में समर्थ होती है। उसकी कल्पना निर्बाध गति से बहने लगती है। "निर्झरेर स्वप्न-भंग" नाम की कविता में श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने जिस स्वच्छन्द, निर्द्वन्द जाग्रति का चित्रण किया है, कुछ उसी प्रकारकी जागरण-स्फूर्ति कवि को पकड़ लेती है। यही अद्‌भुत विस्फोट, कवि की अशरीरी सृजन-प्रतिभा को काव्य-शरीर देता है। इन क्षणों में कवि का पुनर्जन्म होता है, उसकी चारित्रिक परिसीमा टूट जाती है और उसका सम्पूर्ण व्यत्तित्व ही क्रियामाण हो उठता है। इस अवस्था में

कल्पना, तथ्य गीति, लक्षणा के तत्व एक परिपूर्ण सम्बन्ध-सूत्र में बन्ध कर नई कलाकृति के अविच्छिन्न अंग बन जाते हैं। सृजन के अन्त में संसार को जो नई भेंट मिलती है, वह कवि का मानस-पुत्र होने पर भी उसके अपने व्यक्तित्व से बहुत कुछ भिन्न होती है, उसका अपना स्वतन्त्र व्यक्तित्व होता है। जिस अवस्था में यह सृजन-प्रकिया गतिमान रहती है उसे परिपूर्ण समाधि की अवस्था कहा जा सकता है। इस अवस्था में ध्येता और ध्येय में कुछ भी अन्तर नहीं रह जाता। यदि समाधि शिथिल है तो रचना में आत्मचेतन शैथिल्य और असंतुलन रहता है। निस्सन्देह सृजन के क्षणों में कवि भाव और अभिव्यंजना के क्षेत्र में तटस्थ बन जाता है। उसकी इसी स्थिति को हम 'लोकोत्तर' कह सकते हैं।

यह सृजन' कलाकृति का एक छोर है। दूसरा छोर है उसके सौन्दर्य का उद्घाटन, उसका अनुभव, कलाकृति के अर्थों की व्याख्या और उसका मूल्य-निर्धारण। यह आलोचना का क्षेत्र है। श्रेष्ठ समीक्षक बनने के लिये शिक्षा, अनुभूति, संवेदन, कलानिष्ठा, जीवन और साहित्य का सूक्ष्मातिसूक्ष्म ज्ञान, नई प्रतिभा को पहचानने की शक्ति और नए मूल्य-निर्धारण का साहस अपेक्षित है। समीक्षक की स्थापनाएं उसकी अभिरुचि की उच्चता और विशिष्टता पर निर्भर रहती हैं और उनके निर्माण में वे कलागत मूल्य सहायक होते हैं जिन्हे वह मापदण्ड बना कर चलता है। श्रेष्ठ समीक्षक जब किसी कलाकृत्ति की विवेचना करता है तब वह कलाकृत्ति सामाजिक तत्व बन जाती है। उसे उस कला-कृति तक अनेक प्रकार से पहुंचना होता है। कलाकृति के पीछे जो जीवन-संन्देश या तथ्यस्थापना है, उसमें कलाकार का जो जीवन-स्वप्न मूर्त्तिमान हुआ है, उसमें अभिव्यंजना के जिन नए साधनों का उसने उपयोग किया है और इन विभिन्न उपकरणों में वह जिस प्रकार संतुलन स्थापित करने में सफल हुआ है—ये समीक्षक के कुछ महत्वपूर्ण विषय हैं। इसके अतिरिक्त वह विशेष कृति की अन्य समान कृतियों से तुलना करता है, उसे नए-पुराने मूल्यों पर परखता है, उसे वर्गनिष्ठ करता है अथवा युग और परम्परा से सम्बन्धित करता हैं। कलाकृलि का रसास्वादन यदि महत्वपूर्ण वस्तु है तो उसका मूल्य-निर्धारण भी उतना ही महत्वपूर्ण है। आवश्यकता इस बात की है कि समीक्षक अपने क्षेत्र का पूर्ण अधिकारी हो, वह पक्षपात रहित हो, कलाकृत्ति में वह अपने अर्थों की स्थापना न करे। ऐसे निष्पक्ष अधिकारी समीक्षक

ही कलाकृति को नया संवेदन देने में समर्थ हो सकते हैं।

कला के मानों और समीक्षक के मूल्य-निर्धारण में सार्वभौमिकता हो, यह आवश्यक नहीं है। यह सम्भव नहीं है। प्रत्येक युग अपने साहित्यिक दाय के परखने के लिए नए मानों का निर्माण करता है। प्रत्येक नए युग का अपना दृष्टिकोण, अपना स्वप्न, अपना पहलू होता है। फलतः एक कलाकृति के चारों ओर समीक्षा के अनक परत जम जाते हैं। यही नहीं, सैद्धान्तिक समीक्षा भी सदैव अपरिवर्तनशील नहीं रहती। कला के जन्म, उसकी प्रकृति, उसके प्रकार, उसके माध्यम और उसकी अभिव्यञ्जना शक्ति आदि के सम्बन्ध में भी विचार बदलते रहते हैं। परन्तु बदलते हुए मानों और विचारों से श्रेष्ठ कलाकृतियों को हानि नहीं पहुंचती। श्रेष्ठ कलाकृतियां जड़ नहीं होतीं। वह जीवन और चेतना से ओत-प्रोत रहती हैं। उनका अपना इतिहास बन जाता है। प्रत्येक युग में उनका सौंदर्य बृद्धिमान हो जाता है और प्रत्येक नया युग उनमें नया जीवन-सन्देश ढूंढ लेता है। काव्य समीक्षक के लिए यह आवश्यक है कि वह कलाकृति के इस प्रवहमान सत्य को अपने युग की वाणी दे। कलाकार के मन की प्रारम्भिक अस्पष्ट रसानुभूति से लेकर परिपूर्ण कलाकृति तक का वृहद क्षेत्र उसके लिए दर्पण की तरह उज्ज्वल होना चाहिए। उसे यह भी जानना चाहिए कि कलाकृति का सौंदर्यात्मक, रचनात्मक, कलात्मक और समीक्षात्मक मूल्यांकन वस्तुतः उसके अर्थ, सौंदर्य और रूप का प्रसार-मात्र है।

वस्तुतः कलाकृति को कई कोणों से देखा जा सकता है। कलाकार के लिए वह उसके व्यक्तिगत जीवन का एक अंश, उसका एक अविभाज्य अनुभव, उसके मानस का एक अखण्डित अंग है। मनोविज्ञान के विद्यार्थी को उसमें मन की विभिन्न प्रक्रियाओं का संयोजन महत्वपूर्ण जान पड़ेगा। साहित्यिक, सहृदय या समीक्षक के लिए वह वाणी का एक विशिष्ट प्रयोग है और उसकी सफलता-असफलता को वह रस, अलंकार, छन्द, गुण, वृत्ति, और ध्वनि की कसौटी पर आंकता है। समाजविज्ञानी उसमें सामाजिक चेतना देखता है अथवा उसे सम-सामयिक जीवन से सम्बन्धित करता है। वह वर्ग प्रेरणा को साहित्यिक प्रेरणा से कहीं अधिक महत्व देता है। उसके लिए कलाकार और उसकी कलाकृति परिवेश से बाहर की उपज नहीं है और इस परिवेश में कभी-कभी मानव जाति का सारा विकास सिमट आता है। समीक्षक की दृष्टि से वह ऐसा केन्द्रविन्दु है जो उसे नए तथ्यों की ओर

उन्मुख करता है अथवा पुराने तथ्यों और अभिरुचियों के लिए कंचन-कसौटी का काम करता है। इन सब दृष्टिकोणों से स्वतन्त्र भी कलाकृति का अस्तित्व है। उसमें एक अतिभावुक, प्रबुद्ध, जागरूक आत्मा का संवेदन आलेखित है। वह स्वयं एक विशिष्ट इकाई है।

फलतः काव्यालोचन के लिए किसी विशेष दृष्टिकोण का आग्रह वांछनीय नहीं है। उसमें काव्य-सृजन की प्राथमिक अनुभूति से लेकर कवि के व्यक्तित्व, रचना के साहित्यिक और मनोवैज्ञानिक पक्ष, उसके सामाजिक परिवेश, उसकी ऐतिहासिक और मूल्यगत विशेषता और उसकी युगनिष्ठा तक, सब कुछ ग्राह्य है। एक तरह से वह कवि के मन का पुनर्निर्माण है। साहित्य-समीक्षा में रचना के विविध शास्त्रीय उपकरणों को विश्लेषित और संश्लेषित किया जाता है, परन्तु यह वस्तुतः कृति के आलोचन का एक अंग मात्र है। आज इस बात की आवश्यकता है कि हम विशुद्ध शास्त्रीय समीक्षा से बाहर जाएं और रचना में साहित्यकार की मनःप्रवृति, उसकी वर्गचेतना और युग-धर्म का प्रतिबिंब खोजें और उसे परम्परा एवं परिवेश से पूर्णतया सम्बन्धित करते हुए भी उसमें कवि की स्वतन्त्र, उदात्त और मौलिक स्फूर्ति की स्थापना करें। परन्तु यह भी आवश्यक है कि हम नए-नए 'वादों' में कृति के साहित्यिक सौंदर्य को न खो दें और हमारे लिए कवि का भौतिक परिवेश ही सब-कुछ न हो जाय। प्रत्येक क्षेत्र की तरह समीक्षा के क्षेत्र में भी सम्यक् दृष्टि की आवश्यकता है।

: ५ :

काव्यानुभूति का स्वरूप

प्लेटो और अरिस्टाटल के समय से अब तक काव्यानुभूति के स्वरूप और उसके विभिन्न प्रकारों के सम्बन्ध में बराबर चर्चा होती रही है और विभिन्न युगों में आलोचकों एवं कवियों ने काव्यानुभूति के विभिन्न स्वरूपों को प्रधानता देते हुए उनके आधार पर अपने काव्य सम्बन्धी दृष्टिकोण के निर्माण का प्रयत्न किया है। यूरोप में ही नहीं, भारत में भी इस प्रकार की चर्चा की लम्बी परम्परा है जो भरतमुनि के नाट्य-शास्त्र से आरम्भ होकर इस युग में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, कविगुरु रवीन्द्रनाथ ठाकुर और योगी अरविन्द घोष तक आती है। यह चर्चा इतनी विविध और विभिन्न है कि उसके आधार पर काव्यानुभूति का कोई निश्चित स्वरूप निर्धारित करना कठिन ही है, परन्तु इस चर्चा की ऐतिहासिक और विकासात्मक पृष्ठभूमि में रख कर हम स्वतन्त्र रूप से काव्यानुभूति के स्वरूप का प्रश्न उठा सकते हैं।

काव्यानुभूति के स्वरूप की प्राथमिक विवेचना हमें प्लेटो और अरिस्टाटल में मिलती है। ये दोनों ही उपयोगितावादी हैं और काव्य को सामाजिक उपयोगिता से सम्बन्धित करते हैं। सुधारवादी या नैतिक धारणा से इन काव्य समीक्षकों का पक्ष बहुत भिन्न नहीं है, यद्यपि वह अपेक्षाकृत

सूक्ष्म है और स्वयं प्लेटो और अरिस्टाटल के मतवादों में काफी भेद है। प्लेटो काव्य को अनुकृति 'मिमेसिस' मानता है। अनुकृति होने के कारण ही यह सत्य से दूर है और अपने आदर्श राज्य में प्लेटो कवि को इसलिए स्थान नहीं देना चाहता कि वह सामाजिकों को सत्य की वास्तविकता से हटा कर अनुकरण की काल्पनिकता की ओर ले जाता है। फलतः काव्य प्लेटो के लिए लांक्षा की वस्तु है। काव्य के द्वारा सामाजिक, भावुकता की अतिशयता से पीड़ित हो जाता है और जीवन के संघर्षों से मोर्चा लेने की शक्ति उसमें नहीं रहती। यह स्पष्ट है कि यह दृष्टिकोण काव्य को सामाजिक के व्यवहार या आचार से सम्बन्धित करता है और उसके स्वरूप को अच्छे बुरे या समाज के लिए उपयोगी अनुपयोगी दृष्टिकोण से आंकता है। प्लेटो ने दुःखान्त के सम्बन्ध में विवेचन करते हुए यह स्पष्ट कर दिया है कि उसके द्वारा सामाजिकों में भय और करुणा का संचार होता है, जो उनके व्यावहारिक जीवन के लिए हानिकर है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि प्लेटो का काव्य-सम्बन्धी दृष्टिकोण व्यावहारिकता से बंधा हुआ है और इस व्यावहारिकता का मापदण्ड सामाजिक उपयोगिता है। वह फल से वृक्ष को जांचता है। उपयोगिता से काव्य-स्वरूप की ओर बढ़ता है। उसके लिए कला कौशल मात्र है, उसे वह दैवी प्रेरणा से उद्‌भूत नहीं मानता।

अरिस्टाटल ने प्लेटो की मान्यताओं को ही अपना केन्द्रविन्दु बनाया है, परन्तु काव्य के मूल स्रोत और दुःखाँत के सम्बन्ध में प्लेटो के दृष्टिकोण से उसका दृष्टिकोण भिन्न है। प्लेटो अनुकृति को सत्य से त्रिधा दूर मान कर उसे लांछित समझता है, परन्तु अरिस्टाट्ल काव्य को वास्तविकता या सत्य की अनुकृति न मानकर कल्पनात्मक आदर्श या कल्पना के सत्य की अनुकृति मानता है। संगीत और नृत्य भी कलाएं हैं, परन्तु उनमें किसी भी स्थूल तथ्य की अनुकृति सम्भव नहीं है। अनुकृति मानी जाए तो उसे जीवन के वस्तु-सत्य की अनुकृति नहीं, कवि द्वारा अनुभूत भाव-सत्य की अनुकृति मानना होगा। वास्तव में काव्यगत सृष्टि कवि से बाहर नहीं, स्वयं कवि के भीतर है। गीति-काव्य में ही नहीं, महाकाव्य और उपन्यास में भी यथार्थोन्मुख वस्तु-सत्य, भाव-सत्य बनकर ही उपार्जनीय बनता है। इस प्रकार अरिस्टाट्ल काव्यानुभूति को सूक्ष्मता प्रदान करता है और प्लेटो की लांक्षा से उसे मुक्त करता है। परन्तु काव्यानुभूति की उपयोगिता पर विचार करने के लिए उसे प्लेटो द्वारा निर्णीत सामाजिक जीवन के तल

पर उतरना होता है। कविता का भाव-सत्य कवि और श्रोता दोनों के लिए उपयोगी है, परन्तु इस उपयोगिता की भूमि सूक्ष्म और मनोवैज्ञानिक है। इस सूक्ष्म उपयोगिता को अरिस्टाट्ल ने "केथारिसिस" शब्द से प्रकट करना चाहा। इस शब्द से अरिस्टाटल का क्या अर्थ है इस विषय में मत भेद है। करुणा और भय की संवेदनाओं को जाग्रत कर कविता मनुष्य के अंतरतम की करुणा और भय की भावनाओं को निष्कासित करती है और उसे स्वस्थ, प्रसन्नचेत्ता एवं प्रबुद्ध बनाती है।

"केथारिसिस" की प्रक्रिया क्या है? कविता करुणा और भय के भावों से चेतना को प्रताड़ित कर किस प्रकार उसे भावोन्मुक्ति देती है, यह भी मतभेद का विषय है। आधुनिक औषधि-विज्ञान की होम्योपेथी अथवा सूचीभेद (इनाकुलेशन) की प्रक्रियाओं से केथारिसिस की प्रक्रिया की चेष्टा हुई है। प्रारम्भ में यह समझा गया कि केथारिसिस से अरिस्टाटल का तात्पर्य "रेचन" से है, परन्तु स्वस्थ मनुष्य का अर्थ यह नहीं है कि वह भाव-विनिर्मुक्त हो जाए करुणा और भय उसमें रहे ही नहीं। कदाचित् अरिस्टाटल का मन्तव्य यह था कि इन भावों के अतिरेक से कवि एवं श्रोता के व्यक्तित्व में जो आत्यंतिकता आ जाती है—वह समाप्त हो जाए, करुणा भय की थोड़ी सी मात्रा देकर वह उन्हें तल पर उभार कर कवि एवं श्रोता को मानस-रोग से उबार कर स्वास्थ्य प्रदान करता है, अथवा इस थोड़ी सी मात्रा से उसके भाव-जगत को आन्दोलित कर इनसे मुक्त होने की शक्ति उसे प्रदान करता है।

परन्तु औषधि-विज्ञान के ये रूपक बहुत दूर तक नहीं जाते। स्वस्थ मनुष्य क्यों औषधि ग्रहण करे? क्या प्रत्येक सहृदय अस्वस्थ है? क्या दुःखमयी काव्यानुभूति हमारे आनंद का विषय नहीं है? क्यों दुःखान्त से हमें आनन्द-बोध होता है? दुखानुभूति हमें भाव-संकुल और जड़ नहीं बनाती। कविता हमारी भावनाओं और हमारे संस्कारों का परिष्कार करती है और हमारी संवेदना-शक्तियों को सूक्ष्म और व्यापक बनाती है। हम उच्च भाव-भूमि का अनुभव करते हैं और जीवन-तत्व की सुविस्तत समाहृति के योग्य बनते हैं।

फ्राइड के मनोविश्लेषण में स्मृतिमूलक भावोद्वेलन (एबरिएक्शन) द्वारा रोग-मुक्ति का आयोजन है। काव्यानुभूति में कल्पना का महत्वपूर्ण स्थान है और यह कहा जा सकता है कि प्रतीकों और कल्पना यत्नों के आवरण में

सूक्ष्म है और स्वयं प्लेटो और अरिस्टाटल के मतवादों में काफी भेद है। प्लेटो काव्य को अनुकृति 'मिमेसिस' मानता है। अनुकृति होने के कारण ही यह सत्य से दूर है और अपने आदर्श राज्य में प्लेटो कवि को इसलिए स्थान नहीं देना चाहता कि वह सामाजिकों को सत्य की वास्तविकता से हटा कर अनुकरण की काल्पनिकता की ओर ले जाता है। फलतः काव्य प्लेटो के लिए लांछा की वस्तु है। काव्य के द्वारा सामाजिक, भावुकता की अतिशयता से पीड़ित हो जाता है और जीवन के संघर्षों से मोर्चा लेने की शक्ति उसमें नहीं रहती। यह स्पष्ट है कि यह दृष्टिकोण काव्य को सामाजिक के व्यवहार या आचार से सम्बन्धित करता है और उसके स्वरूप को अच्छे बुरे या समाज के लिए उपयोगी अनुपयोगी दृष्टिकोण से आंकता है। प्लेटो ने दुःखान्त के सम्बन्ध में विवेचन करते हुए यह स्पष्ट कर दिया है कि उसके द्वारा सामाजिकों में भय और करुणा का संचार होता है, जो उनके व्यावहारिक जीवन के लिए हानिकर है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि प्लेटो का काव्य-सम्बन्धी दृष्टिकोण व्यावहारिकता से बंधा हुआ है और इस व्यावहारिकता का मापदण्ड सामाजिक उपयोगिता है। वह फल से वृक्ष को जांचता है। उपयोगिता से काव्य-स्वरूप की ओर बढ़ता है। उसके लिए कला कौशल मात्र है, उसे वह दैवी प्रेरणा से उद्भूत नहीं मानता।

अरिस्टाटल ने प्लेटो की मान्यताओं को ही अपना केन्द्रविन्दु बनाया है, परन्तु काव्य के मूल स्रोत और दुःखांत के सम्बन्ध में प्लेटो के दृष्टिकोण से उसका दृष्टिकोण भिन्न है। प्लेटो अनुकृति को सत्य से त्रिधा दूर मान कर उसे लांछित समझता है, परन्तु अरिस्टाट्ल काव्य को वास्तविकता या सत्य की अनुकृति न मानकर कल्पनात्मक आदर्श या कल्पनाके सत्य की अनुकृति मानता है। संगीत और नृत्य भी कलाएं हैं, परन्तु उनमें किसी भी स्थूल तथ्य की अनुकृति सम्भव नहीं है। अनुकृति मानी जाए तो उसे जीवन के वस्तु-सत्य की अनुकृति नहीं, कवि द्वारा अनुभूत भाव-सत्य की अनुकृति मानना होगा। वास्तव में काव्यगत सृष्टि कवि से बाहर नहीं, स्वयं कवि के भीतर है। गीति-काव्य में ही नहीं, महाकाव्य और उपन्यास में भी यथार्थोन्मुख वस्तु-सत्य, भाव-सत्य बनकर ही उपार्जनीय बनता है। इस प्रकार अरिस्टाट्ल काव्यानुभूति को सूक्ष्मता प्रदान करता है और प्लेटो की लांछा से उसे मुक्त करता है। परन्तु काव्यानुभूति की उपयोगिता पर विचार करने के लिए उसे प्लेटो द्वारा निर्णीत सामाजिक जीवन के तल

पर उतरना होता है। कविता का भाव-सत्य कवि और श्रोता दोनों के लिए उपयोगी है, परन्तु इस उपयोगिता की भूमि सूक्ष्म और मनोवैज्ञानिक है। इस सूक्ष्म उपयोगिता को अरिस्टाट्ल ने "केथारिसिस" शब्द से प्रकट करना चाहा। इस शब्द से अरिस्टाटल का क्या अर्थ है इस विषय में मत भेद है। करुणा और भय की संवेदनाओं को जाग्रत कर कविता मनुष्य के अंतरतम की करुणा और भय की भावनाओं को निष्कासित करती है और उसे स्वस्थ, प्रसन्नचेत्ता एवं प्रबुद्ध बनाती है।

"केथारिसिस" की प्रक्रिया क्या है? कविता करुणा और भय के भावों से चेतना को प्रताड़ित कर किस प्रकार उसे भावोन्मुक्ति देती है, यह भी मतभेद का विषय है। आधुनिक औषधि-विज्ञान की होम्योपेथी अथवा सूचीभेद (इनाकुलेशन) की प्रक्रियाओं से केथारिसिस की प्रक्रिया की चेष्टा हुई है। प्रारम्भ में यह समझा गया कि केथारिसिस से अरिस्टाटल का तात्पर्य "रेचन" से है, परन्तु स्वस्थ मनुष्य का अर्थ यह नहीं है कि वह भाव-विनिर्मुक्त हो जाए करुणा और भय उसमें रहे ही नहीं। कदाचित् अरिस्टाटल का मन्तव्य यह था कि इन भावों के अतिरेक से कवि एवं श्रोता के व्यक्तित्व में जो आत्यंतिकता आ जाती है—वह समाप्त हो जाए, करुणा भय की थोड़ी सी मात्रा देकर वह उन्हें तल पर उभार कर कवि एवं श्रोता को मानस-रोग से उबार कर स्वास्थ्य प्रदान करता है, अथवा इस थोड़ी सी मात्रा से उसके भाव-जगत को आन्दोलित कर इनसे मुक्त होने की शक्ति उसे प्रदान करता है।

परन्तु औषधि-विज्ञान के ये रूपक बहुत दूर तक नहीं जाते। स्वस्थ मनुष्य क्यों औषधि ग्रहण करे? क्या प्रत्येक सहृदय अस्वस्थ है? क्या दुःखमयी काव्यानुभूति हमारे आनंद का विषय नहीं है? क्यों दुःखान्त से हमें आनन्द-बोध होता है? दुखानुभूति हमें भाव-संकुल और जड़ नहीं बनाती। कविता हमारी भावनाओं और हमारे संस्कारों का परिष्कार करती है और हमारी संवेदना-शक्तियों को सूक्ष्म और व्यापक बनाती है। हम उच्च भाव-भूमि का अनुभव करते हैं और जीवन-तत्व की सुविस्तत समाहृति के योग्य बनते हैं।

फ्राइड के मनोविश्लेषण में स्मृतिमूलक भावोद्वेलन (एबरिएक्शन) द्वारा रोग-मुक्ति का आयोजन है। काव्यानुभूति में कल्पना का महत्वपूर्ण स्थान है और यह कहा जा सकता है कि प्रतीकों और कल्पना यत्नों के आवरण में

'सेन्सर' अवचेतन-ग्रन्थियों को छिपाता है। परन्तु जहां स्मृतिमूलक भावान्दोलन में इन ग्रंथियों का बंध-मोचन एवं भावनिकायों का निरावरण आवश्यक है, वहां काव्य में अवचेतन-ग्रन्थि के खोलने का कोई प्रयत्न नहीं होता। वह स्वयं काव्यानुभूति की इकाई बन जाती है। अन्य कला-यत्नों की तरह काव्य सृजन में भी असंतुलित एवं विकृत संघर्ष एवं चेतना-ग्रन्थियां आनन्दमयी अनुभूति बन सकती हैं। उसमें पाठक तो क्या, कवि का भी भावमोचन नहीं होता। कम-से-कम हम यह आशा नहीं करते कि सभी श्रोताओं के भीतर वही मानस-ग्रन्थियां होंगी जो कवि में हैं। मनः-विकृतियों और मनोग्रंथियों के पीछे व्यक्तिगत संस्कार एवं संदर्भ ही प्रमुख रहते हैं और इसीलिए दो कुंठित व्यक्तियों की मनःभूमि समान नहीं होगी।

धार्मिक परिभाषा में जिसे चरित्र-परिष्कार कहा जाता है, वह केथारिसिस से भिन्न है, क्योंकि उसमें करुणा और भय की प्रवृत्तियों को जाग्रत करने का प्रयत्न नहीं है। सन्त भावनाओं के दमन में विश्वास करता है। करुणा और भय मनःजगत के क्षोभ के कारण हैं। इसलिए ये त्याग के विषय हैं, संग्रह के नहीं। भावनाओं का उदात्तीकरण भी इस प्रक्रिया से भिन्न है क्योंकि केथारिसिस अयत्नज, उपचेतनीय प्रक्रिया है और उदात्तीकरण के लिए यह आवश्यक नहीं है कि वह स्वयंभू और अजाना प्रयत्न हो। उसके पीछे पलायन और प्रयत्न हैं, निरोध और संग्रह हैं, संकल्प है। काव्यानुभूति (कलानुभूति) पलायनवादी प्रक्रिया नहीं है, उसे हम उदात्तीकरण नहीं कह सकते। उदात्तीकरण में तटस्थता की भावना नहीं रहती जो काव्य और कला के चरमोत्कर्ष के लिए आवश्यक है। काव्य और कला के लिए यह भी आवश्यक नहीं है कि वे उदात्त और निश्रेयस् हों। फलस्वरूप काव्यानुभूति के स्वरूप-स्थापन के लिए हमें कोई अन्य समाधान खोजना होगा।

[२]

क्या काव्यानुभूति की प्रक्रिया को हम किसी अन्य प्रकार से उद्घटित कर सकते हैं? काव्यानुभूति कवि अथवा पाठक की इन्द्रियजन्य संवेदनाओं और उसके परिवेश के बीच का समझौता है। यह समझौता आंशिक और अस्थायी है, परन्तु इससे इसका महत्व कम नहीं होता। काव्यानुभूति में भावुक का भाव-बोध व्यावहारिक लक्ष्य-साधना से हट कर तटस्थ भाव से 'अनुभूत' से आनन्द-ग्रहण करने लगता है। यह अयत्नज प्रक्रिया है, भावुक

को इसके लिए चेष्टा नहीं करनी होगी। इस प्रक्रिया में सहज संवेदनाओं और परिवेश का द्वन्द नष्ट हो जाता है। यह इसलिए कि अनुभूत को हम परिवेश से विच्छिन्न कर स्वतंत्र एवं पूर्ण इकाई के रूप में देखते हैं। फलस्वरूप, रस-बोध स्वयं अपना लक्ष्य बन जाता है। काव्यानुभूति की प्राथमिक शर्त यह है कि वह असंपृक्त एवं तटस्थ हो। काव्य असुन्दर को सुन्दर और विजुगुप्सक को आनन्दप्रद बना देता है। ऐसा क्यों होता है? ऐसा इसलिए होता है कि काव्य जीवन की अनुकृति नहीं है, वह कल्पनात्मक अभिव्यंजना है अथवा कल्पना का भाषाबद्ध स्वरूप है। वस्तु सत्य नहीं, भाव-सत्य है। कवि का मन वस्तु-सत्य से अनुभूति ग्रहण करता है, परन्तु यह अनुभूति वस्तुनिरपेक्ष बन कर देश-काल से परे और व्यावहारिक जीवन की सीमाओं से अनाबद्ध हो, कवि का भाव-सत्य बन जाती है। कवि असंपृक्त और तटस्थ भाव से उसका आस्वादन करता है। काव्य-कला 'व्यवहारवदे' नहीं है वह कल्पनाजन्य आनन्द की सृजक है। वास्तविक जीवन में प्रत्येक अनुभूति जाने-अनजाने संवेदनात्मक प्रक्रियाओं और तज्जन्य भावों को जन्म देती है। परन्तु जीवन की परिकल्पना में हमारी प्रतिक्रिया का क्रियात्मक अंश नष्ट हो जाता है। फल यह होता है कि अनुभूति का भावात्मक और गोचर स्वरूप सामान्य व्यावहारिक जीवन की अपेक्षा कहीं अधिक स्पष्ट और मोहक रूपरेखा धारण कर लेता है। हम सच्चे अर्थों में "दृष्टा" बन जाते हैं। जो हम देखना चाहते हैं, अपने को बहकाते हुए, वही नहीं देखते हैं। हमारे परिप्रेक्षण में "सबकुछ" आ जाता है। वस्तु-सत्य के नए और अदृष्ट कोण विकसित हो जाते हैं। संपूर्णता का यह आग्रह वस्तु-सत्य को नया रूप दे देता है। वस्तु-सत्य अब वस्तु-सत्य नहीं रह जाता। वह अनुकृति होने पर भी अनुकृति नहीं है। वह सर्वप्रेक्षण है। कवि की वस्तु-जागतिक अनुभूति स्वयंभू और परिभूः बन कर नए नाम रूप एवं नए भाव-सत्य का सृजन करती है।

इस प्रकार काव्यानुभूति के दो प्रमुख अंग बन जाते हैं—स्वतंत्रता और तटस्थता। कवि अपने भाव-कल्प की अनुकृति करता है। अथवा वह अपने संपूर्ण, असंपृक्त और व्यवहारविच्छिन्न अनुभव को वाणी देता है। हमारा वास्तविक जीवन कार्य–कारण की शृंखला में बंधा है और प्रत्येक कार्य अगणित सूत्रों में परिवर्द्धित एवं परिछिन्न है। काव्य-सत्य वस्तु-सत्य से अधिक उत्कृष्ट और सूक्ष्म वस्तु है। इसलिए काव्यानुभूति एक समाहृत

अनुभव का क्षणिक विस्फोट नहीं है, वह अगणित क्षणों का शृंखलित एवं एकीकृत अनुभव है जो अपनी अंतर्बद्धता और परिपूर्णता के कारण स्थायीत्व और चिरंतनत्व प्राप्त करता है। फलस्वरूप, उसके द्वारा वस्तु-जगत में सत्यं, शिवं, सुन्दरं की नई प्रतीति हमें होती है। अनुभूति को अनुभूति मात्रा के रूप में ग्रहण करने में एक विशेष आनन्द की उपलब्धि है। प्रतिक्रियारहित, परिपृष्ठहीन सर्वप्रेक्षण काव्यानुभूति का सबसे बड़ा सत्य है। इस सत्य को व्यक्तिगत चेतना की समस्त शक्ति से ग्रहण करना एवं ग्रहीत रखकर उसका आनन्दमय अनुभव करना ही कविकर्म है। कवि की वाणी इस आनन्दानुभूति की साक्षी मात्र है।

काव्यानुभूति बंध्या नहीं है। वह सृजनात्मक है। कवि की मनःस्फूर्ति के बिना भाव-सत्य का जन्म ही असंभव था, फिर चाहे वह भाव-सत्य कवि के व्यक्तित्व से स्वतंत्र संपूर्ण इकाई बन कर अपना जीवन जीने लगे। परन्तु इस भाव-सत्य के अस्तित्व के लिये कवि के साथ 'सहृदय' भी उतना ही महत्वपूर्ण है। वास्तव में काव्यानुभूति दोनों के सम्मिलित सहयोगी और निरंतर प्रयत्नों का फल है, जैसा रामचरित मानस में गोस्वामी तुलसीदास ने लिखा है।

मनि मानिक मुकुता छवि जैसी। अहि गिरि गज सिर सोह न तैसी ॥
नृप किरीट तरुनी तनु पाई। लहहिं सकल सोभा अधिकाई ॥
तैसहि सुकवि कवित बुध कहहीं। उपजहिं अनत अनत छवि लहहीं ॥
(बालकाण्ड, ११)

वस्तु-जागतिक सत्य मन के द्वारा बदला नहीं जा सकता, मन उससे बंधा है। परन्तु कवि का भाव-सत्य किसी भी प्रकार के अपरिवर्त्तनशील नियमों में आबद्ध नहीं है। वह मन द्वारा बदला भी जा सकता है, क्योंकि 'एकमेव सत्य' होने पर भी सौन्दर्य अनेककल्पी है। यहीं से काव्यानुभूति का व्यक्तिगत पहलू आरम्भ होता है। सत्य शाश्वत है, परन्तु सुन्दर बन कर वह सापेक्ष बन जाता है। किसी सुन्दर वस्तु को भिन्न-भिन्न सहृदय अथवा एक ही सहृदय भिन्न-भिन्न मनःस्थितियों में विभिन्न रूपों में ग्रहण करेंगे। इस तरह काव्यानुभूति प्रवहमान और सर्वस्वतंत्र है। उसके नियम उसके भीतर हैं, बाहर नहीं। कवि की वाणी बन्धनहीन और अप्रतिहत होकर ही युगों-युगों तक प्रसारित होती है। प्रत्येक युग में उसे नई चेतना मिलती है। वह जीवंत स्वप्न है।

हमारे दैनंदिन अनुभव प्रकृत्यः खण्ड होते हैं। हम निरंतर सम्बन्धों और सम्पर्कों द्वारा अनुशासित रहते हैं। इन सम्बन्धों और सम्पर्कों की बहुसूत्री विधाओं का हम सम्पूर्ण ज्ञान प्राप्त नहीं कर पाते। फलस्वरूप हमें 'सत्य' की आंशिक अनुभूति ही उपलब्ध होती है। कविता में हमें अखण्ड परिवृत्त सम्पूर्ण के दर्शन होते हैं क्योंकि काव्यानुभूति प्रत्येक वस्तु को असंवृत्त व्यष्टि के रूप में देखती है। इस दृष्टि से देखने पर उसकी रेखाएं तरल और दुग्राह्य बन जाती हैं। यही तारल्य श्रेष्ठ काव्य की संजीवनी शक्ति है। इसी दुर्ग्राह्यता में उसके अर्थों का निरंतर संवर्द्धन है। काव्यानुभूति की लोकोत्तरता और आनन्दमयता के मूल में यही अखण्डित, अनवद्य अपरिसीम स्वीन-तारल्य है। इसी में उस लोकोत्तर आनन्द की स्थिति है जिसे 'रस' कहा गया है। यही रस-बोध कवि का चरम लक्ष्य है। सामान्य और वर्गीय के ऊपर व्यष्टिगत, अनुपम एवं अखण्डित की स्थापना से एक विचक्षण अनुभुति की सृष्टि होती है और साथ ही अधिक शुद्ध और उत्कृष्ट भाव-निकाय का आस्वादन होता है। यही उदात्त, चिरविकसित, सूक्ष्म जीवन बोध काव्यानुभूति की परिणति है। यही उसकी उपादेयता है।

: ६ :

कविता में कवि का व्यक्तित्व

कविता पर विचार करते हुए कवि के व्यक्तित्व की बात बराबर उठती है—कि अमुक कवि की रचना में उसके इस प्रकार के व्यक्तित्व का प्रसार है, रचना व्यक्तित्वनिष्ठ है या नहीं, अथवा यह कि रचना कवि-विशेष के व्यक्तित्व का संपूर्ण प्रतिबिम्ब है या नहीं। कभी-कभी यह भी कहा जाता है कि कवि का व्यक्तित्व उसकी रचना से बड़ा होता है, रचना में वह सब नहीं आ पाता। उसके व्यक्तित्व का एक बड़ा अंश बाहर रह जाता है। एक तीसरे प्रकार की बात टी० एस० इलियट ने उठाई है कि कविता व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति नहीं है, वह व्यक्तित्व से पलायन है। उसमें कवि की भावुकता की सर्वोन्मुक्ति ध्येय नहीं है। भावना से पलायन ही कविता का लक्ष्य है।[1] इलियट ने यह शंका भी उठाई है कि जो भावनाएं और अनुभूतियां कवि के जीवन या व्यक्तित्व के लिए महत्वपूर्ण हैं, वे उसकी रचना में अनुपस्थित भी हो सकती हैं, अथवा जिनकी रचना में अभिव्यक्ति है, उनका कवि के जीवन और व्यक्तित्व में नगण्य स्थान हो सकता है।

[1]'Poetry is not a turning loose of emotion, but an escape from emotion; it is not the expression of personality, but an escape from personality. (The 'Sacred wood' T. S. Eliot)

इस प्रकार के अनेक वक्तव्य हैं, जो काव्य के अंतर्गत कवि के व्यक्तित्व-प्रकाशन की समस्या को उलझा देते हैं।

परन्तु पहिले तो प्रश्न "व्यक्तित्व" का ही उठता है। व्यक्तित्व है क्या ? कवि और उसकी कृति के बीच में इस व्यक्तित्व की स्थिति समझनी होगी और कवि के व्यक्तित्व को कुहासे के अंधकार से बाहर लाना होगा। व्यक्तित्व के ताने-बाने ठीक बैठने पर ही हम काव्य-क्षेत्र में उसकी सार्थकता सिद्ध कर सकेंगे।

शिपले ने अपने ग्रन्थ "डिक्शनेरी आफ वर्ल्ड लिटरेचर" में व्यक्तित्व की परिभाषा इस प्रकार उपस्थित की है: 'चाहे रचना निर्वैयक्तिक हो या व्यक्तिगत, उसमें व्यक्ति की समस्त उद्घटित विशेषताओं के विचक्षण योग को हम व्यक्तित्व कहेंगे।'[2] उन्होंने यह भी कहा है कि कृति में रचयिता का कुछ भी गोपनीय नहीं हो, कवि या लेखक अपनी ओर से कुछ भी नहीं छिपाए और साथ ही व्यक्तित्व-प्रकाशन का कोई भी आयास नहीं जान पड़े, नहीं तो रचना अस्वाभाविक और यत्नज बन जाएगी। उसमें कवि के व्यक्तित्व का अजस्र प्रवाह नहीं आ सकेगा। उपर्युक्त कथन से यह स्पष्ट है कि व्यक्तित्व रचनाकार की प्रकृति, उसकी प्रवृत्तियों, अभिरुचियों और ज्ञाताज्ञात धारणाओं की संहृति है। परन्तु आज मनोविज्ञान ने 'मनुष्य' को संपूर्ण रूप से विश्लेषित कर दिया है और हम व्यक्तित्व के प्रश्न को फ्राइड, एडलर और युंग की मनोविश्लेषणात्मक खोजों के भीतर से देख सकते हैं। इन खोजों से उन धारणाओं और अनुभूतियों की पुष्टि ही होती है, जिनका कवियों और कथाकारों ने बराबर उल्लेख किया है। आइन (Ion) नाम के अपने लघु संवाद में प्लेटो ने काव्य की प्रकृति पर विचार करते हुए कहा है, 'सभी महाकवि, विशेषतः उत्कृष्ट कोटि के महाकवि, अपनी सुन्दर रचनाएं कला के द्वारा प्रस्तुत नहीं करते वरन् इसलिए उनमें देवी प्रेरणा रहती है और वे अभिभूत रहते हैं। यही बात अच्छे गीतकार पर भी लागू होती है। कवि हमें बतलाते हैं कि उन्हें अपनी रचनाएं कविता देवी के उपवनों-कुंजों के अमृत-प्रपातों से प्राप्त होती हैं और वे मधुपों की भाँति हमारे लिए चयन करते हैं। उनके भी कल्पना के पंख होते हैं। वे ठीक ही

---

[2]The unique sum of the characteristics of an individual manifest in the work, whether 'objective, or subjective'

(Dictionary of World Lit. P. 431)

कहते हैं, क्योंकि कवि-कर्म कोमल, नभचारी और पवित्र है। जब तक कवि देवताओं द्वारा प्रेरित और उन्मुक्त नहीं होता, जब तक उसमें चिन्तन की अवस्थिति है, तब तक वह कविता नहीं कर सकता ..., उनके शब्द कलासिद्ध नहीं, देवी शक्तियों द्वारा प्रेरित होते हैं।'[3] अरिस्टाटल ने काव्यानुभूति की व्याख्या करते हुए कविता को प्रतिभावान व्यक्तियों अथवा पागलों की कृति माना है।[4] और इन प्राचीन वक्तव्यों के समक्ष हम शैली और क्रोचे के आधुनिक मंतव्यों को उपस्थित कर सकते हैं, जिन्हें हम एक प्रकार से रोमांटिक काव्य की प्रेरणा एवं व्याख्या मान सकते हैं।[5-6] वास्तव में ये लेखक कवि को कृति में नहीं देखते। कृति के पीछे की प्रेरणाएं और रचना-क्षण ही उनके लिए मूल कृति हैं। सच तो यह है कि कवि के व्यक्तित्व तक पहुंचने के लिए साधनों के अभाव में यह व्यक्तित्व-चर्चा बहुत कुछ अस्पष्ट और रहस्य-मय रही है। फ्राइड द्वारा प्रवर्तित आधुनिक मनोविज्ञान ही 'व्यक्तित्व' को इस कुहासे से उभारता है। उससे पूर्ववर्तियों की साक्षी पुष्ट होती है और काव्या-नुभूति के साथ काव्यस्वरूपों या काव्ययत्नों के समझने में भी सहायता मिलती है।

[२]

फ्राइड के मनोविश्लेषण-शास्त्र में व्यक्तित्व के अध्ययन के किए विस्तृत सामग्री मिल जाती है और कवि के काव्यगत व्यक्तित्व के अध्ययन के लिए

---

[3]'For all good poets, epic as well as lyric, compose their beautiful poems not by art, but because they are inspired and possessed.......... For the poet is a light and winged & Holy thing. and there is no invention in him until he has been inspired and is out of his senses, and the mind is no longer in him, when he has not attained to this state, he is powerless and is unable to utter his oracles. (Ion : Tr. Jowett)

[4]'Poetic art is the affair of the gifted man or of the mad man. (Poetics, 17)

[5]'Poetry is not reasoning...a feeble showdown of the original conceptions of the poet. (Shelley Defence of Poetry)

[6]'The person of the poet is an acolian harp which a wind of unwise causes to vibrate.

(La Poesia, PP 66, 316)

हम उसका उपयोग कर सकते हैं। यह ठीक है कि फ्राइड के अवचेतनवाद के सम्बन्ध में मतभेद है—कम-से-कम आज हम अवचेतन को सम्पूर्ण इकाई और एकमात्र शक्ति स्रोत नहीं मानते। परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि मानव-मन की विभिन्न चेतनाओं के स्वरूप का जैसा प्रकाशन इस मतवाद में हुआ है वैसा अन्यत्र नहीं मिलता।

मनोविश्लेषण मानसिक जीवन को चेतन और अवचेतन दो भागों में बांटता है। इस विभाजन के फलस्वरूप ही मानस-रोगों और विकृतियों का अध्ययन सम्भव हो पाता है और ये रोग तथा विकृतियां सर्वमान्य और महत्वपूर्ण हैं। मनोविश्लेषण चेतन मनःप्रक्रिया को मानसिक जीवन का सारभूत नहीं मानता। उसके अनुसार चेतन प्रक्रिया मानसिक जीवन का एक अंश मात्र है और उसके साथ-साथ मन में अन्य प्रक्रियाओं की अवस्थिति भी है। यह भी सम्भव है कि चेतन प्रक्रिया एकदम अनुपस्थित हो।

यह 'अवचेतन' है क्या? फ्राइड का विचार है कि मन में ऐसे शक्तिवान विचारों अथवा चेतनाओं का अस्तित्व है, जो प्रच्छन्न रहते हुए भी चेतन विचारों और प्रक्रियाओं की भांति हमें प्रभावित करते हैं। ये विचार मन के तल में प्रसुप्त रहते हैं, निग्रहीत रहते हैं—इसलिए कि कोई ऊपरी शक्ति उन्हें दबाए रखती है। ये यदि मनःतल पर आ जाते हैं, तो सामान्य विचारों से किंचित मात्र भी विभिन्न नहीं होते। चेतन बनने से पहले ये विचार जिस मनःस्थिति में रहते हैं उसे 'निरोध या निग्रह' (रिप्रेशन) शक्ति कह सकते हैं और जो शक्ति मनोविश्लेषण के समय उन्हें तल पर आने से रोकती है उसे निग्रहण शक्ति (रिसिस्टेन्स)। कहते हैं। फ्राइड ने इस अवचेतन के दो रूप स्थापित किए हैं–उपचेतन (प्रीकान्शस) और अपचेतन (अनकान्शस प्रापर)। उपचेतन प्रसुप्त है, परन्तु वह स्वतः ही चेतन बनने में समर्थ है। इसके विपरीत अपचेतन सामान्य रूप से चेतन नहीं बन पाता। चेतन बनने के लिए उसे निरोधों से मुक्त होना होगा। अतः अपचेतन शक्तिमान अवचेतनीय निग्रहण है। इस प्रकार मन के तीन भाग हुए– चेतन, उपचेतन और अपचेतन (या अवचेतन)। चेतन और अपचेतन को मनो-विश्लेषण की भाषा में 'ईगो' और 'इड' कहा गया है। चेतन मन में हमारे विचार, हमारी अनुभूतियाँ और संवेदनाएं ज्ञात रूप से प्रवहमान रहते हैं। मन के इस भाग का कार्य मानसिक प्रक्रियाओं का अंगीभूत संगठन है, परन्तु इस मनः संगठन की प्रक्रिया में उन निरोधों का जन्म होता है जो

मन की कुछ चेतनाओं को चेतन मन से बाहर रोक देते हैं—यही नहीं, उन निरुद्ध विचारों के लिए किसी प्रकार की अभिव्यक्ति या क्रियाशीलता सम्भव नहीं है। फ्राइड के मतानुसार चेतन मन जीवनभर अक्रिय रहता है और मन की अज्ञात एवं अनियन्त्रित शक्तियां ही हमें क्षण-क्षण आन्दोलित करती हैं। यही अन्ध शक्तियाँ व्यक्तित्व की मूल इकाइयां हैं और प्रत्येक व्यक्ति में इनकी स्थिति और इनका स्वरूप भिन्न है। ये अन्ध शक्तियाँ हमारी निरुद्ध मूल संवेदनाओं और आसक्तियों का पुंजीभूत रूप हैं और हमारी चेतन तर्क-शक्ति के नियन्त्रण को ये सम्पूर्ण रूप से स्वीकार नहीं करतीं। इस चेतन-शेष मन को (जिसे चेतन का निर्वैयक्तिक स्वरूप कहा जा सकता है) फ्राइड ने अवचेतन (इड) कहा है।

चेतन और अवचेतन के साथ फ्राइड ने एक तीसरी प्रक्रिया भी मानी है, जिसे उन्होंने चेतनादर्श (ईगो-आइडियल) कहा है। सामाजिक मान्यताओं के कारण मनुष्य अपनी आसक्तियों को उस रूप में रखना चाहता है, जिसमें उसे समाज की स्वीकृति मिलती रहे। फलतः उसमें पाप-पुण्य, कर्म-अकर्म की नैतिक चेतना का जन्म होता है और वह अपने लिए एक मनोराज्य की सृष्टि कर लेता है। जैसे-जैसे यह मनोराज्य दृढ़ और विस्तत होता जाता है, वैसे-वैसे निरोध सबल होते जाते हैं और अवचेतन का अतल सागर अपने बन्दीगृह में गुरुगर्जन करता हुआ सतत उद्वेलित रहता है।

व्यक्तित्व में मन के इन तीनों रूपों चेतनादर्श, चेतन मन और अवचेतन का समझौता है। वास्तव में इस सन्दर्भ में हम 'चरित्र' और 'व्यक्तित्व' इन दो शब्दों का प्रयोग कर सकते हैं। चरित्र जड़ीभूत तत्व है, व्यक्तित्व प्रवहमान। चरित्र व्यक्तित्व से कहीं अधिक सीमित है। व्यक्तित्व चेतना का अप्रतिहत प्रवाह है, चरित्र दो सिकता-कूलों में सिमटा हुआ नदी-तट। व्यक्तित्व की कुछ आसक्तिमूलक प्रवृतियों के निरोध से मन का पल्ला निश्चयात्मक ढंग से एक ओर झुक जाता है और चरित्र का निर्माण करता है। चरित्र कीलिताक्षर है, ढांचे में ढला, तरतम, शृंखलित (नियोजित) और विश्वसनीय। जीवन पर कुछ विशिष्ठ प्रमुख आसक्तियों (एवं प्रवृतियों) को बलिष्ठ बनाए रखने की शक्ति को ही हम 'चरित्र' कहते हैं। परन्तु यह निरोधक शक्ति है क्या? क्या यह व्यक्ति के भीतर है या बाहर? मनोवैज्ञानिक 'निग्रह' (इन्हिबीशन) को चरित्र का मूलाधार

मानते हैं। यह निरोध सामाजिक अथवा व्यक्तिगत मूल्यों से अनुशासित रहता है। निरोध के बिना अन्तःसंघर्ष असम्भव है, अन्तःसंघर्ष के बिना चरित्र का निर्माण नहीं होता। वह नए अनुभवों के लिए कवच का काम देता है। भावाघात भी उसके सुदृढ़ दुर्ग को ढहा नहीं सकते। संक्षेप में चरित्र एक निर्वैयक्तिक, सार्वभौमिक आदर्श की उपज है जिसे व्यक्ति अपने सामने बराबर रखता है और जिसके लिए वह बराबर अपनी अन्तःप्रेरणाओं आसक्तियों और भावनाओं की बलि देता है। वास्तव में वह 'व्यक्तित्व' का दूसरा अथवा विपरीत छोर है। 'व्यक्तित्व' हमारी भावात्मक संवेदनाओं और रसात्मक अनुभूति का सामान्य-सूत्री योग है।

[३ [

मनोविश्लेषण के इन विभिन्न सूत्रों से कवि के मनस का क्या सम्बन्ध है ? सामान्यतः काव्यरचना में मन के सभी अंग उपादेय हैं क्योंकि काव्य समग्रगत चेतना है, परन्तु सभी कवियों में समान रूप से उनका उपयोग नहीं होता। 'चरित्र' और 'व्यक्तित्व' को दो विरोधी रूपों में हम ले सकते हैं। यह स्पष्ट है कि प्रगीतात्मक चेतना व्यक्तित्व की उपज है और चरित्र में उसका बाध है। इसी प्रकार 'चरित्र' का उपयोग क्लासिकल काव्य का विषय है, स्वच्छन्दतावादी काव्य का विषय नहीं। क्योंकि क्लासिकल काव्य में अध्ययन, नियोजन, सन्तुलन और शास्त्र ज्ञान के निर्वाह का प्रसार है। क्या हम कला के इन दो भेदों (क्लासिकल और रोमांटिक) की 'व्याख्या' 'चरित्र' और 'व्यक्तित्व' के मूलभूत अन्तर पर आधारित नहीं कर सकते ? 'चरित्र' कर्म में प्रकट होता है और 'व्यक्तित्व' भावना में। तो क्या हम यह नहीं कह सकते कि कर्मियों में चरित्र-बल विशेष रहता है और कवियों में व्यक्तित्व बल ? कि कवि और कलाकार के लिए यह आवश्यक है कि वह अपने व्यक्तित्व को जड़ नहीं बनने दे, क्योंकि जड़ीभूत व्यक्तित्व ही तो चरित्र है ? फिर एक प्रश्न यह भी उठता है कि काव्य में व्यक्तित्व से हमारा क्या तात्पर्य है, और जब हम कहते हैं कि अमुक कवि के पास अपना निजी व्यक्तित्व है तो हम किन काव्यगत मूल्यों की अपेक्षा रखते हैं। क्या काव्य और अन्य कलाओं में व्यक्तित्व का प्रसार एक ही रूप में, एक ही मात्रा में होता है ? इस प्रकार के अनेक प्रश्न उठते हैं।

कविता का प्रधान तत्व कल्पना है। मनोवैज्ञानिक व्यक्तित्व में ऐसी कौन सी वस्तु है, जो कल्पना के साथ रखी जा सके। मनोवैज्ञानिकों का कहना

है कि फ्राइड ने जिसे उपचेतन कहा है, वही कल्पना का स्रोत है। चेतना में जो बाधित है, वही कल्पना में सक्रिय हो उठता है। डा० युंग भी इसी मंतव्य के समर्थक हैं। परन्तु कल्पना के साथ एक मनःप्रक्रिया और भी है जिसे "कल्प" (फेन्सी) कहा गया है। डा० युंग की धारणा है कि चेतना के अतिरेक आरोप से बौद्धिक व्यक्ति की अवचेतना चेतना की बुद्धिमूलक तार्किकता के विपक्ष में अतिवादी बन कर विचक्षण एवं विकृत हो जाती है। जहां चेतन विचार लक्ष्यसंबद्ध और नियंत्रित रहते हैं। वहां दूसरी ओर बौद्धिक व्यक्ति की संवेदना (या भाव संपत्ति) अतिप्रबुद्ध, अनियंत्रित भावाकुल, अतर्कित, आदिम और अनिरुद्ध होती है। अधुना प्रयोगवादी ासहित्य में, विशेषकर सुररियलिस्ट कवियों-कलाकारों में, अवचेतन का यह अपरिकल्पित, विकृत रूप प्रधानता पा गया है वहां बुद्धि के भार से कल्पना प्रताड़ित, विकृत और अपरिच्छिन्न दिखलाई पड़ती है।

कविता के सम्बन्ध में विचार करते हुए प्रेरणा की बात भी आती है। यह प्रेरणा कोई विचक्षण वस्तु नहीं है। हम में से प्रत्येक व्यक्ति कभी-कभी अतिचैतन्य का अनुभव करता है, अंतर केवल चैतन्य की मात्रा का रहता है। सामान्य मनुष्य और प्रतिभाशाली कवि-कलाकार में मूल्यगत अथवा तात्विक अंतर कुछ भी नहीं है। प्रतिभासम्पन्न व्यक्ति में प्रेरणा अधिक स्थायी लक्ष्य-सम्बद्ध और अंतर्योजित रहती है, परन्तु यह वस्तु क्या है? जिसे आचार्यों ने 'प्रतिभा' कह कर काव्य का उद्गम माना है और हम जिसे 'प्रेरणा' कहते हैं? मनोवैज्ञानिक उसे अवचेतन से अभिन्न मानते हैं। प्रेरक क्षणों में कवि का सम्पूर्ण व्यक्तित्व संहृत होकर उसके सामने प्रत्यक्ष हो उठता है। उसके चेतन मानस की रूपरेखाएं उद्वेलित और स्पष्टग्र हो जाती हैं और वह निचले तल के उपचेतन से अपना रस ग्रहण करने लगता है। ऐसा लगता है, जैसे परदा एकाएक हट गया है और शक्ति, प्रकाश एवं आह्लाद के नए स्रोत उन्मुक्त हो गये हैं। अवचेतन के गहन गर्त में बन्दी स्मृतियां-अनुभूतियां-प्रतिक्रियाएं विद्युत्वेग से तल पर उभर आती हैं और चेतन द्वारा त्वरित गति से ग्रहीत होती हैं। यदि चेतन मन के स्वीकार करने में कोई बाधा हो, तो ये फिर अंतर्मन में लौटना चाहती हैं और एकाकी पड़ जाने पर भाविक दुःख और निराशा का अनुभव होता है। श्रेष्ठ कलाकार अवचेतन में आबद्ध अपने व्यक्तित्व के प्रति जागरूक रहता है और अवचेतनमूलक संवेदनाओं का समग्र और अविभक्त रूप से आस्वादन

कर सकता है। इस प्रकार प्रेरणा या प्रतिभा का स्रोत अवचेतन ही ठहरता है।

परन्तु यहां प्रश्न अवचेतन के उपयोग का उठता है। विभिन्न कलाओं में एक ही अवचेतन का उपयोग है, तो कलाओं का स्वरूप भिन्न क्यों है ? मनोविज्ञान इसका भी उत्तर देता है। उत्तर यह है कि यह अंतर मनःस्थितियों या संवेदनाओं का नहीं है, यह अंतर इन्द्रियों की ग्राह्य शक्तियों का है। कलाएं चाक्षुष हैं या श्रौतीय। कवि में ध्वन्यात्मक-नादात्मक संवेदना अधिक विकसित होगी, मूर्तिकार में रूपात्मक और चित्रकार में रंगात्मक। परन्तु प्रत्येक कला में अन्य कला-क्षेत्र की संवेदना भी आंशिक रूप में कमाधिक ग्रहीत हो सकती है। ग्राह्यशक्ति का यह अंतर प्रारम्भिक जीवन में ही प्रतिष्ठित हो जाता है और इस प्रकार अवचेतन के ताने-बाने और रूप-रंग निश्चित हो जाते हैं। यह ग्राह्य शक्ति ही कलाकार के व्यक्तित्व को निजत्व देती है और उसे स्वनिष्ठ करती है।

इस प्रकार यह निश्चित है कि व्यक्तित्व के तत्व असामान्य होते हुए भी योगायोग-वैलक्षण्य के कारण ही विचक्षण हैं। कवि का व्यक्तित्व उसके अवचेतन के रूपों-रंगों, अनुभवों, प्रतिक्रियाओं और वासनाओं पर आश्रित हैं। उसमें गुणात्मक परिवर्तन संभव है, स्वरूपात्मक नहीं। फलतः व्यक्तित्व के विकास की बात कोई अर्थ नहीं रखती। यह कहा जाता है कि मनोवैज्ञानिक व्यक्तित्व-विवेचना में एक ही श्रेष्ठ कवि की पूर्वा-उत्तरा रचनाओं की विकासमान स्थिति पर प्रकाश नहीं पड़ता। परन्तु सूक्ष्मता से देखने पर उत्तर रचनाओं में भी पूर्व रचनाओं के भाव-संस्थान मिलेंगे। एक ही कवि की पूर्ववर्ती एवं परवर्ती रचनाओं के काव्यस्वरूप में अधिक अंतर नहीं मिलेगा, परन्तु यह सम्भव है कि इस बीच में कवि के 'मूल्य' बदल गए हों या उसने अपने मूल्यों का पुनर्मूल्यांकन किया हो। ये 'मूल्य' चेतन मन की प्रक्रिया हैं। अवचेतन से उनका कोई सम्बन्ध नहीं है। फलस्वरूप कवि की रचना के बौद्धिक तत्व वही रहते हैं। यह भी सम्भव है कि इस बीच में कवि का 'व्यक्तितत्व' 'चरित्र' बन कर जड़ हो गया हो और उसकी अनुभूति के प्रवहमान तत्व नष्ट हो गए हों। ऐसे भी उदाहरण मिल सकते हैं जब इस बीच में अतिमानस-विजड़ित चरित्र अपनी जड़ता छोड़ कर प्रवहमान व्यक्तित्व बन गया है। दोनों दिशाओं में परिवर्तन संभव है। परन्तु केवल द्विधात्मक अथवा अतिसम्वेदित व्यक्तियों में

ही इतना बड़ा विभेद सम्भव है, जो दो भिन्न प्रकार के काव्यों की सृष्टि कर सके ।

[४]

काव्य में कवि के व्यक्तित्व का पुंजीभूत प्रकाश है । इसलिए काव्य में कवि के व्यक्तित्व को खोजने के लिए हमें यह देखना होगा कि कवि चेतन मन से अनुप्राणित है कि अवचेतन से । सच तो यह है कि आंशिक रूप में प्रत्येक कवि और काव्य में दोनों ही मन रहते हैं और उनके योगायोग से ही काव्य के विभिन्न स्वरूप बनते हैं । परन्तु जब हम विशुद्ध क्लासिकल या रोमांटिक कला की बात करते हैं तो इनमें से एक ही मन को प्रधानता देते हैं । इस तरह हम कवि के काव्यगत व्यक्तित्व को क्लासिकल और रोमांटिक श्रेणियों में बांट सकते हैं । विभिन्न काव्यप्रकारों में कवि की मनःस्फूर्ति का वर्गीकरण इस प्रकार रहेगा ।

क—क्लासिकल काव्य अतिमानसमूलक या चेतनादर्श-प्रधान

चेतन मनःप्रधान (वस्तुसंयोजनसूलक)

„ „ „ (नैतिकतामूलक)

„ „ „ (शास्त्रीय चेतनामूलक)

„ „ „ (व्यंग और परिहास का काव्य)

ख—रोमांटिक काव्य उपचेतनमूलक (कल्पनाप्रधान काव्य)

चेतनारोपमूलक (कल्पप्रधान अथवा पोइट्री आव फैन्सी)

इन काव्य प्रकारों की ह्रासमूलक स्थितियाँ भी हैं और इनके अंतर्योजन तथा पारस्परिक योगा-योग भी हैं । काव्य में जिस रस की प्रधानता कही गई है, और जिसे लोकोत्तर बतलाया गया है, वह अवचेतन की उन्मुक्ति से उत्पन्न आह्लादक भावप्रक्रिया ही है । उसकी रहस्यमयता अवचेतन के अंध गुहागत की रहस्यमयता है । परन्तु यह आवश्यक नहीं है कि अवचेतनसूलक काव्य में चेतन मन का किंचित् मात्र भी उपयोग नहीं हो ।

जो हो, यह स्पष्ट है कि फ्राइड के मनोविश्लेषण के आधार पर हम क्लासिकल और रोमांटिक काव्यों के मूल स्रोतों और उनके विभिन्न स्वरूपों की व्याख्या कर सकते हैं । क्लासिकल कला का स्वरूप-निर्माण रिल्के की इन पंक्तियों से हो सकता है जो क्लासिकल कवि की काव्यानुभूति को सुविस्तृत रूप से उपस्थित करती हैं । रिल्के का कथन है—"जैसा लोग समझते हैं, काव्य अनुभूति मात्र नहीं है । वह स्वतः अनुभव है । एक

श्रेष्ठ रचना के लिए कलाकार को अनेक नगरों, अनेक मनुष्यों और वस्तुओं को देखना होगा। उसे पशुओं का, पक्षियों की उड़ान का और प्रातःकाल के समय विकासमान पुष्पों की मुद्राओं का ज्ञान प्राप्त करना होगा। अज्ञात प्रदेशों की राहों को, अप्रत्याशित संघर्षो को और वर्षों पहले सोची-समझी बिदाइयों की ओर उसे लौटना होगा—बचपन के वे दिन, जो अब धुंधले में खोते जाते हैं, माता-पिता के प्रति की हुई वे अवज्ञाएं जो इस कारण अवघटित हुईं क्योंकि हम उस सुख से अपरिचित थे, जो वे हमें देना चाहते थे (सम्भव है, दूसरे इन्हीं बातों से आनन्दित होते), बचपन की वे बीमारियां जो इतने अद्भुत रूप से आरम्भ होती हैं और मनुष्य को इतना कुछ बदल देती हैं, एकांत कक्ष में बिताए हुए वे अलस और अवसाद भरे दिन, समुद्र-तट का सुखद प्रभात, समुद्र और महासागर के अपरिसीम विस्तार, सफर की वे रातें जब हम आकाश के तारों को साथ लिए ऊपर उड़े चले जाते थे, और फिर भी इन सबका ध्यान करना काफी नहीं है। प्रेम की अनेक रातों की सुन्दर स्मृतियाँ हममें जाग्रत हों, उनमें से प्रत्येक दूसरी से भिन्न हो, प्रसव-पीड़ा से भरी चीखें और सद्यःजात बालकों का रुदन—और ये स्मृतियां, हल्की छायाओं में लिपटी हमारे भीतर सोती रही हों। परन्तु कलाकार मृत्यु-शैया के सिरहाने भी बैठा हो अकेले कक्ष में, जब खिड़की खुली हो और भयानक हलचल मची हो। यही काफी नहीं कि स्मृतियां हों। कलाकार इन बहुत सी स्मृतियों को भुला देने में समर्थ हो और उसमें अपरिसीम धैर्य हो कि वह इन्हें अपने भीतर शनैःशनैः जगा सके। क्योंकि असली चीज तो स्मृतियां ही हैं। जब वह हमारे रक्त को आन्दोलित कर देती हैं, जब वह अज्ञात और अनाम बन कर हमारी चितवनों और मुद्राओं में घुल जाएं और हमसे अभिन्न हो जाएं—तभी तो यह सम्भव है कि कभी अप्रत्याशित क्षण में इन स्मृतियों के बीच से कविता का पहला शब्द फूट पड़े और स्वतंत्र अस्तित्व धारण कर ले।'[1] क्लासिकल कला की इस से

---

[1]Verses are not, as people imagine, simply feelings; they are experiences. In order to write a single verse, one must see many cities, and men and things ; one must get to know animals and the flight of birds, and the gestures that the little flowers make when they open out to the morning. One must be able to return in thought to roads in unknown regions, to unexpected encounters, and to fastings that had been long

अच्छी व्याख्या और क्या होगी ? चेतन मन की सर्वोच्च और संयोजित प्रक्रिया का स्वरूप इसमें उभरा है। आचार्यों की महाकाव्य-सम्बन्धी परिभाषा रिल्के की काव्यसम्बन्धी धारणा को बहुत कुछ समेट लेती है। परन्तु काव्यानुभूति का एक दूसरा रूप भी है जिसमें कवि अदृश्य भी बन जाता है और विषयी बन कर महत्व को प्राप्त होता है। उसके अंतरतम का विस्फोट ही काव्य बन जाता है अथवा उसका व्यक्तित्व उस निर्मल दर्पण की भांति हो जाता है, जिसमें प्रत्येक हर्षोल्लास अपने सम्पूर्ण रूप-वैभव के साथ प्रतिबिंबित होता है। यह निर्वैयक्तिक व्यक्तित्व-साधना का सर्वोच्च स्वरूप है। इसमें व्यक्तित्व की अस्वीकृति नहीं है, उसकी सर्वसिद्धि है। अपने एक पत्र में कीट्स ने कवि-चरित्र की व्याख्या करते हुए इसी सत्य को वाणी

---

foreseen ; to days of childhood that are still indistinct, and to parents whom one had to part when they sought to give one some pleasure which one did not understand (it would have been a pleasure to some one else) ; to childhood illnesses that so strongly begin with such a number of profound and grave transformations, to days spent in rooms withdrawn & quiet, and to mornings by the sea, to the sea itself, to Oceans, to night of travel that rushd along loftily and flew with all the stars—and still it is not enough to be able to think of all this. There must be memories of many nights of love, each one unlikes the others of the screans of women in labour, and of women in Childbed, light & blanched & sleeping, shutting themselves in. But one must always be be besides the dying, must have sat beside the dead in a room with open windows & with fitful mosses. And still it is not enough to have memories. One must be able to forget them when they are many, and one must have the unmense patience to wait nntil they come again. For it is the memories themselves that matter. Only when they have turned to blood within us, to glance gesture nameless and no longer to be distinguished from ourselves—only then can it happen that in a most rare hour the first word of a poem arises in there midest & goes forth from them.

(The Note-book of Malte Laurids Brigge :
Rainer Maria Rilke)

दी है। कीट्स के शब्द हैं "कवि-चरित्र की बात लें तो उसका कोई निजत्व नहीं, उसका स्वतंत्र अस्तित्व है ही नहीं, वह सब कुछ है और कुछ भी नहीं है। उसका कोई "चरित्र" नहीं है' प्रकाश और छाया दोनों उसे प्रिय हैं। हलचल उसका प्राण है, चाहे वह अच्छी हो या बुरी, ऊंची हो या नीची, अलंकृत या निरालंकृत, सामान्य या उदात्त।.. नीतिमान दार्शनिक के लिए जो असहनीय है, वही गिरगिटी कवि के लिए आनन्ददायक है। वस्तुओं के उजले पक्ष से वह जितना आनन्द ग्रहण करेगा उतना ही उनके अंधकारमय पक्ष से। कवि सबसे अधिक काव्यहीन है। उसका अपना व्यक्तित्व ही नहीं है।[1] वास्तव में काव्यानुभूति के ये दोनों स्वरूप परस्पर पूरक हैं। कीट्स ने कवि-व्यक्तित्व की ग्रहणशीलता, उसकी प्रवहमानता, उसकी तरलता और अप्रत्याशितता पर प्रकाश डाला है और रिल्के ने यह बतलाया है कि कवि के व्यक्तित्व में उसकी विच्छिन्न अनुभूतियाँ किस प्रकार संयोजित होकर नवदीप्ति को प्राप्त होती हैं।

संक्षेप में, काव्य में व्यक्तित्व-स्थापन की यह अवस्थिति है। यह स्पष्ट है कि प्राचीनों ने इस प्रश्न को नहीं उठाया है और "प्रतिभा" जैसे रहस्यमय शब्द की आड़ ली है, परन्तु यह स्पष्ट है कि वे काव्य से जिस वस्तु का बोध करते थे, वह संयोजित वस्तु थी, एकाँगी नहीं। उसमें चेतन अवचेतन तत्वों की पूर्ण संहृति थी, जैसा तुलसी के इस कथन से स्पष्ट है कि—

हृदय सिंधु मति सीप समाना। स्वाति सारदा कहहिं सुजाना॥
जौं बरषइ बर बारि विचारू। होहिं कबित मुकुतामनि चारू॥
जुगुति बेधि पुनि पोहिअहिं रामचरित बर ताग।
पहिरहिं सज्जन बिमल उर सोभा अति अनुराग॥

(रामचरितमानस, बाल० ११)

फ्राइड के चेतन-अवचेतन के स्थान पर यहां बुद्धि और हृदय के योग की बात कही गयी है, परन्तु काव्यप्रक्रिया स्वयंभू, अतः रहस्यमयी

---

[1]As to the poetical character itself......, it is not itself— it has no self—it is everything & nothing. It has no character it enjoys light & shade++ A poet is the most unpoetical of anything in existence, because he has no identity,

(Letters., II, P 245)

है। इसी में उसकी लोकोत्तरता है। काव्यानुभूति के क्षण में आकस्मिकता है। वह कवि के लिए घटना है। श्रेष्ठ काव्य पाठक के लिए भी उतना ही आकस्मिक है। काव्य-रसिक और सहृदय, कवि की अनुभूति को अपनी अनुभूति के तागे में पिरो कर अपने हृदय पर धारण करते हैं। "जुगुति बेधि" में काव्यानुभूति के अभिव्यंजना-पक्ष का बोध होता है जो कवि और पाठक के बीच में, अथवा भाव-सत्य और वस्तु-सत्य के बीच में, सेतुबन्ध का कार्य करती है। कवि का सम्पूर्ण और अखंडित व्यवितत्व ही काव्य-भूमि है और इसीलिए कविता में उसका अबाध प्रसार है। प्रच्छन्न अथवा प्रकाश में वही कवि का उपजीव्य है। कविता के प्रकार-भेद इसी एक बात पर आधारित हैं कि कवि के व्यक्तित्व का कौन-सा स्वरूप (चेतन अथवा अवचेतन मानस) किस अंश में उपयोग में आया है। इसमें सन्देह नहीं कि कविता में कवि के व्यक्तित्व का अध्ययन मूलतः कबि-मानस के विभिन्न उपकरणों के योगायोग का अध्ययन है।

: ७ :

आलोचना का मूल्यांकन

आलोचना के मूल्यांकन पर विचार करने से पहिले हमें आलोचना की व्याप्ति और उसके स्वरूप पर विचार करना होगा। आलोचना क्या है, आलोच्य कृति से अथवा लेखक या कवि की प्राथमिक अनुभूति से उसका क्या सम्बन्ध है और अन्त में आलोचना के वे विशिष्ट तत्व कौन से हैं जिनके आधार पर हम अच्छी या बुरी, समर्थ या असमर्थ आलोचना की परख कर सकते हैं। यह सब जान कर ही हम आलोचना के मूल्यांकन के विविध पहलुओं पर विचार कर सकेंगे।

साधारणत: यह समझा जाता है कि सर्जनात्मक प्रक्रिया आलोचनात्मक प्रक्रिया से भिन्न है। कवि सृजन के क्षणों में जिस सौन्दर्य की अनुभूति करता है, उसे वह शब्दों में बांध कर कृति का रूप देता है। आलोचक का आधार यही कृति है, जो स्वयं अपने में पूर्ण है, अपने में नियम है और जिसके माध्यम से ही हम कवि के व्यक्तित्व का परिचय पा सकते हैं। इस 'कृति' को आधार बना कर समीक्षक उसके सम्बन्ध में अपनी मान्यता देता है कि वह अच्छी या बुरी है, उसमें वक्तव्य और अभिव्यंजना की पटरी ठीक बैठी है या नहीं, आदि-आदि। एक कृति या कई कृतियों को ले कर वह कुछ सामान्य स्थापनाएं भी कर सकता है। समीक्षक के इस कार्य का अपना

महत्व है। परन्तु यहां प्रश्न समीक्षक के इस कार्य के मूल्यांकन का है। यह, कि वह किन नियमों को लेकर चला है, उनकी व्याप्ति क्या है, वे कृति को खोलने में समर्थ हैं या नहीं, या अन्य समीक्षकों की अपेक्षा इस विशेष समीक्षक का दृष्टिकोण उदार है या नहीं। कृति के प्रति, कवि के प्रति या आलोच्य जीवन के प्रति उसने न्याय किया है या नहीं। इसे ही हम आलोचना की आलोचना या आलोचना का मूल्यांकन कह सकते हैं। प्लेटो के अनुसार काव्य सत्य से त्रिधा दूर है : वह अनुकृति की अनुकृति है। इस दृष्टि से 'आलोचना की आलोचना' सत्य से कितनी दूर चली जाती है, यह जानने का साधन हमारे पास नहीं है। परन्तु काव्य की तरह आलोचना की भी परम्परा सनातन काल से चली आती है। कदाचित उसी में ही सन्निहित है क्योंकि काव्य भी मूल्यगत जीवन या मूल्यगत संवेदना का अंकन है। आलोचना की आलोचना कुछ नई चीज़ है और वह कदाचित् इसीलिए महत्व प्राप्त कर रही है। आज कवि और पाठक के बीच में मध्यस्थ की तरह आए आलोचक का महत्व बढ़ रहा है और प्रचार एव प्रसार के अनेकानेक साधनों के विकास से आज स्थिति यह है कि अच्छी-बुरी आलोचना के अन्तर को पहचानना हमारे लिए अनिवार्य हो गया है। जिस आवश्यकता ने आलोचना को जन्म दिया, यानी कवि और पाठक के अन्तराल को दूर करने की योजना, वही आज आलोचकों के आलोचकों को भी जन्म दे रही है। विविध 'वादों' और विरोधी साहित्यिक मान्यताओं के बीच में पाठकों को प्रकाश-चिह्न चाहिए ही। सम्भव है, इस तरह हम कवि की अनुभूति के सत्य से इतनी दूर हो जाएं कि उस तक पहुंच ही नहीं सकें परन्तु व्यावहारिक स्थिति ऐसी ही है।

पहले हम यह देखें कि कवि क्या करता है और आलोचक क्या करता है। दोनों का कार्य-व्यापार किस प्रकार समान और भिन्न हैं। कवि अपने चारों ओर के जीवन का विश्लेषण करता है, या अपनी अनुभूतियों के भीतर झांक कर उन्हें छिन्न-भिन्न करके देखता है। अन्त में वह समष्टिगत दृष्टि की प्राप्ति करता है जिसे हम उसका जीवन-दर्शन कहते हैं। यह रचना के पीछे या उसके बीच में छिपी मूल्यगत दृष्टि है। इसके आधार पर वह वस्तुगत जगत या अपने भीतर की अनुभूतियों का समाहार करता है और इस समन्वय को अपनी भावना के रस में डूबो कर उसे कला का रूप देता है। इस तरह कृति का जन्म होता है। उसके

दो पक्ष स्पष्ट हैं, —मूल्यगत जीवन या जीवन-सम्बन्धी अंतर्दृष्टि और कृति का कलात्मक रूप जो उसे रसास्वादन के योग्य बनाता और उसे सौन्दर्यनिष्ठ करता है। यह सौन्दर्य भावगत है, परन्तु भाषा के माध्यम से कवि उसे सब की चीज़ बनाता है। इसके लिए उसे भाषा की अन्यतम शक्तियों का भी उपयोग करना पड़ता है, जैसे लक्षणा-व्यंजना का प्रयोग या प्रतीकों की योजना। इस प्रकार वह अपने भाव-बोध को संग्रहणीय बनाता है और पाठक के प्रति निवेदित होता है। आलोचक यों तो पाठक ही है, परन्तु सामान्य पाठकों से अधिक संवेदित, सहृदय और जागरूक। उसकी उपयोगिता यही है कि उसके माध्यम से पाठक को कृति अधिक सुगमता से, अधिक सरसता से प्राप्त हो और वह लेखक और पाठक के बीच में सेतु-बन्ध का कार्य करे। आलोचक की भाव-प्रक्रिया कवि या लेखक की भाव-प्रक्रिया से ठीक उलटी है। वह विश्लेष से नहीं, संश्लेष से शुरू करता है, उसका केन्द्र-बिन्दु कृति है। वह कवि या लेखक की तरह जीवन के विश्लेषण से अपनी मूल्यगत धारणा नहीं बनाता। कवि की कृति के विश्लेषण से वह जीवन तक जाता है और उसमें अंतर्हित अर्थों की खोज करता है। कवि या लेखक के जीवनगत दृष्टि-कोण तक वह कृति के विश्लेषण के सहारे ही पहुंच सकता है। पहुंच कर उसे उससे समरस होजाना होगा। वह कवि या लेखक के 'मूल्य' पर प्रश्न-चिह्न नहीं लगा सकता, जब तक कि वह एकदम अतर्क्य और अनपेक्षित ही न हो जाए। यदि उसमें इतनी सहृदयता नहीं कि वह कवि या लेखक के दृष्टिकोण को अपना बना ले तो वह उस भावना-कोष को छू ही नहीं सकता जिसने कृति को जन्म दिया है। आलोचक के लिए भी सहृदयता और संकलपात्मक अनुभूति की उतनी ही नितान्त आवश्यकता है जितनी कवि के लिए। वह भी अपने सीमित क्षेत्र में कवि है। कवि या लेखक की प्रेरणा से स्फूर्ति पाकर आलोचक कृति के आधार पर उसके भाव-जगत का पुर्ननिर्माण करता है। यह उसके कर्तृत्व का दूसरा पक्ष है। पहला पक्ष है कवि की मूल्यगत दृष्टि का आविष्कार और उससे समरसता की प्राप्ति। इसके बाद तीसरा पक्ष सामने आता है और वह कृति के सौन्दर्य का उद्घाटन है। इसके लिए वह जाने-माने साहित्यिक उपकरणों से सहारा ले सकता है। कवि या लेखक के अंतर्जगत को प्रेक्षणीय और सुन्दर बनाने में रचना के बहिरंग अर्थात् अलंकार, छंद, भाषा-शैली, प्रतीक-प्रयोग आदि कहां तक सहायक हैं और इन्हें कवि अपने वक्तव्य या भाव के अनुकूल सामरस्य दे सका है या नहीं, यह भी उसके चिन्तन का विषय हो सकता है।

एक वर्ग की यह धारणा रही है कि साहित्य-समीक्षक सर्जक से नितान्त भिन्न कोटि का प्राणी है। वह नियामक है, शास्ता है। विधाता वह नहीं है, परन्तु विधाता की सृष्टि के सम्बन्ध में अंतिम शब्द कहने का अधिकारी वही है। वही है, अर्थात् सर्जक भी अपनी सृष्टि पर कहने का अधिकारी नहीं है। उसका गर्व है कि वह सृजन के स्रोतों को जानता है, सृष्टि के रहस्य में उसकी अंतर्दृष्टि है। कवि-सृष्टा नहीं जानता। वह मनीषी मात्र है, परिभू भी हो सकता है, स्वयंभू भी। परन्तु अपने को समझने का अधिकार उसे नहीं है। यह दृष्टिकोण ही भ्रामक है। इससे अज्ञान और पूर्वग्रह का जन्म होता है। किसी भी कृति के मूल्यांकन की पहिली शर्त यह है कि आलोचक उसके सृष्टा की जीवनदृष्टि से समरसता प्राप्त कर ले। कलाकृति की उत्कृष्टता इसी में है कि वह सृजन के समय उठे सृष्टा के भीतर के भावोल्लास को सहृदय पाठक या समीक्षक के मन में जागृत कर दे। कवि की कल्पना ने जीवन के जिस सत्य को वाणी दी है, वही सत्य या वही भाव आलोचक के मन में उसी भावोद्दीप्ति, उसी कल्पनामयता और उसी तेजस्विता के साथ उद्भासित हो उठे। आलोचक के कर्तृत्व में यही पुनर्निर्माण, यही कलाकृति का सम्यक् बोध और रस-ग्रहण पहले आता है।

अंशतः कवि या लेखक (यानी सर्जक) भी समीक्षक है और समीक्षक भी सर्जक है। परन्तु जहां कवि या लेखक जीवन समीक्षा से आरम्भ करके कृति पर समाप्त करता है, वहां समीक्षक कृति से आरम्भ करके जीवन-समीक्षा तक जाता है। इस विभेद को दृष्टि में रख कर ही हमें आलोचना का मूल्यांकन करना होगा। हमें इन प्रश्नों का उत्तर देना होगा।

१—क्या आलोचक ने कवि या लेखक की जीवन-दृष्टि के साथ सामरस्य प्राप्त किया है? क्या कृति के विश्लेषण से उसने सर्जक के जीवन बोध को प्राप्त किया है और उसे सहानुभूति से देखा है?

२—क्या आलोचक ने प्राथमिक अनुभूति तक पहुंचने की चेष्टा की है और तदनुरूप भाव-जगत का पुनर्निर्माण किया है?

३—क्या आलोचक कलाकार के साथ चलता हुआ कृति के विकास की प्रत्येक सरणि पार करता हुआ चला है और इस प्रकार रचना से और उसके माध्यम से रचनाकार के व्यक्तित्व से तादात्म्य प्राप्त कर सका है?

४—क्या आलोचक कृति के कलात्मक सौष्ठव और भावात्मक सौन्दर्य का सम्यक् रसास्वादन कर सका है और क्या उसकी साहित्यिक दृष्टि इतनी

विकसित, परिमार्जित और सूक्ष्म है कि कवि या लेखक के साथ पूर्णतः न्याय कर सकी है ? आलोचक द्वारा कृति का रसास्वादन ही अपेक्षित नहीं है, वह पाठकों को भी कृति का रसास्वादन करा सके अथवा कृति के सम्बन्ध में उनके सौन्दर्य-बोध को जागृत कर सके। इस सम्बन्ध में वह साहित्य-शास्त्र की मूलगत मान्यताओं का सहारा ले सकता है और अलंकार, रस, छंद प्रतीक-योजना, भाषा-शैली और शब्द-शक्ति को आधार बना कर कृति का विवेचन कर सकता है।

परन्तु यहां एक कठिनाई भी सामने आती है। पूर्व और पश्चिम में साहित्य-समीक्षा के अंतर्गत अनेक 'वाद' विकसित हैं। भारतीय समीक्षा में रस, रीति, गुण, अलंकार, ध्वनि और औचित्य को ले कर छः सम्प्रदाय हैं ही। यूरोप में क्लासिकल और रोमांटिक समीक्षा-दृष्टियाँ हैं और इनके भीतर अनेक सूक्ष्म और विरोधी वाद-सृष्टियां हैं। निओक्लासिसिज्म और निओ-रोमाँटिसिज्म के साथ इमेजिज्म, क्यूबिज्म, सुररियलिज्म दादाइज्म, एक्सप्रेशनिज्म और सार्त्र के आस्तित्वाद जैसी अनेक-अनेक विधियाँ हैं, जो एकांगी और अपूर्ण होने पर भी साहित्य-जगत के चलते सिक्के हैं। आलोचना का मूल्यांकन करते हुए इन सिक्कों का क्या किया जाय। फिर यह भी नहीं कि सब विधियां साहित्य-भूमि पर से ही आई हों, मार्क्सवाद और समाजवाद भी क्षेत्र में हैं। ये व्यापक जीवनदृष्टियां हैं, परन्तु समीक्षकों का एक वर्ग इन्हें राजनीति के क्षेत्र से ला कर साहित्य के क्षेत्र में भी प्रतिष्ठित करना चाहता है। फलस्वरूप समीक्षा के क्षेत्र में अराजकता का जन्म होता है और साहित्यिक दृष्टि पीछे पड़ जाती है। ये वादीय दृष्टियाँ साहित्य-समीक्षा के क्षेत्र में कहां तक स्वीकार की जाएं ?

आलोचना का मूल्यांकन करते हुए यह स्पष्ट कर देना होगा कि आलोचना वादग्रस्त है, या विशुद्ध साहित्यिक अनुभूति को ले कर चलती है। वादीय आलोचनादृष्टि निश्चय ही आलोचक को तटस्थ नहीं रहने देगी और वह सर्जक की जीवनदृष्टि से समरसता प्राप्त नहीं कर सकेगा। यह सचमुच बहुत बड़ा खतरा है। मार्क्सवादी आलोचक की द्वन्द्वात्मक भौतिकवाकी दृष्टि कालिदास या शेक्सपियर की कला के साथ कितना न्याय कर सकेगी ? यही बात अन्य वादीय दृष्टियों के सम्बन्ध में कही जा सकती है। इसी से यह आवश्यक है कि आलोचना का मूल्यांकन करते समय आलोचक के पूर्वग्रहों, उसकी जीवनदृष्टि की विशेषताओं, उसकी अभिरुचि सम्बन्धी सीमाओं और उसके साहित्यिक दृष्टिकोणों को स्पष्ट कर दिया जाए।

आलोचना मूल्यांकन है, परन्तु वह मूल्यांकन से आगे बढ़ कर रसास्वादन का साधन भी है। आलोचना की आलोचना जहां एक ओर इस मूल्यांकन की परख है, वहां वह आलोचना की रसास्वादन-शक्ति की समीक्षा भी है। वह स्वयं न तो कवि की प्राथमिक अनुभूति के पुन निर्माण की चेष्टा करती है, न रसास्वादन की प्रक्रिया का विश्लेषण करती है। उसका दृष्टिकोण तथ्यमूलक और वैज्ञानिक अधिक है। उसे हम 'सेन्स' और 'सेन्सिबिलिटी' का इतिहास कह सकते हैं। इसमें सन्देह नहीं कि उससे हमारी बुद्धिमत्ता और सौन्दर्यनिष्ठा के विकास का इतिहास बनता है। परन्तु वह कवि की प्राथमिक अनुभूति के सत्य से बहुत दूर है और आलोचना के भावात्मक पुनर्निर्माण से भी कम दूर नहीं है। फिर भी खोटे-खरे सिक्कों को परखने में उसका अपना मूल्य है। इसी दृष्टि से हम उसे देखें। आलोचना का मूल्यांकन यदि हमारे सौन्दर्य-बोध को तीव्र करता है और हमें वादीय पूर्वग्रहों के भयंकर गर्तों से बच कर निकलने के लिए प्रकाश देता है, तो हम उसका स्वागत ही करेंगे। नहीं तो वह बुद्धि-व्यवसाय मात्र रहेगा और उससे असत्य की तीसरी पीढ़ी ही पनपेगी।

संक्षेप में, आलोचना का मूल्यांकन करते हुए हमें यह देखना होगा कि स्वयं आलोचक ने कृति से रस-ग्रहण किया है या नहीं। और यदि रस-ग्रहण किया भी है तो उसे पहले यह सिद्ध करना होगा कि वह 'सहृदय' या रसिक भी है या नहीं और किस कोटि का सहृदय है। इलियट ने अपने एक निबन्ध 'द परफ़ेक्ट क्रिटिक' में आलोचकों की तीन कोटियां बतलाई हैं। सौन्दर्यानुभूति प्रधान या प्रभाववादी आलोचक, शास्त्रीय या सिद्धान्तवादी आलोचक और रीतिवादी या 'टेकनिक' सम्बन्धी आलोचक। ऐतिहासिक और दार्शनिक समीक्षकों को वे इतिहासकार और दार्शनिक मात्र मानते हैं। परन्तु इन कोटियों के मूल में आलोचक का रसग्राही व्यक्तित्व और सौन्दर्यनिष्ठ मन है। ये नहीं हैं तो आलोचना कोरा काव्यात्मक प्रलाप, सिद्धान्तवाद या काव्य-रीति-चर्चा मात्र रह जायेगी और समीक्षक कवि या लेखक के सौन्दर्य-बोध को न स्वयं ग्रहण कर सकेगा, न पाठक तक पहुंचा सकेगा। इसी से यह कहा गया है कि आलोचना साहित्य और उस संसार के बीच में पुनरसंयोजन की प्रक्रिया है जिसमें और जिसके लिए उसका निर्माण हुआ है। किसी कृति के सम्बन्ध में विभिन्न युगों के आलोचकों के विचार और संवेदन पढ़ कर हम उसके

सम्बन्ध में स्वतन्त्र अन्तर्दृष्टि विकसित करने की प्रेरणा पा सकते हैं। साथ ही बदलते युगों और मानों के बीच में आलोचना का अध्ययन करने से (यदि आलोचना कृति विशेष को लेकर युग की प्रतिक्रिया अंकित करती है, या युगानुकूल पुनर्मूल्यांकन है) साहित्य के स्थायी और शाश्वत तत्वों का आभास पा सकते हैं। उदाहरण के लिए हम रामचरित मानस को लेते हैं। प्रत्येक युग ने मानस को अपनी प्रवृत्ति के माध्यम से आँका है और बदलते मानों ने उसे नए मूल्य दिए हैं। क्या है मानस में जो बदले युगों और मानों में नहीं बदलता ? उस अपरिवर्त्तनशील शाश्वत तत्व को हम समानता और अन्तर के अनेकानेक चक्रों के पार ही देख सकते हैं। साहित्य की सर्वोच्च उपलब्धि है, विशेष से सामान्य की ओर प्रगति। इस प्रकार के अध्ययन से ही हम सार्वभौमिक सहृदयता अथवा व्यापक रस-दृष्टि प्राप्त करेंगे। तभी हम स्वयं अपनी सीमाओं का उल्लंघन कर सकेंगे और कुछ पूर्वग्रहों से अपने को मुक्त कर पायेंगे। आलोचना का मूल्यांकन हमें विशेष से सामान्य की ओर बढ़ाए, हमारी रस-ग्रहण-शक्ति को विस्तृत और दृढ़ करे और हमें सम्यक् सम्बोधि दे, तभी वह सफल कहा जा सकेगा।

: ८ :

आधुनिक कविता और मनोविज्ञान

मनोविज्ञान एवं मनोविश्लेषण का शास्त्र मनुष्य के उपार्जित ज्ञान-क्षेत्र में जुड़ा हुआ एक नया अध्याय है। उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त में उसका जन्म हुआ और बीसवीं शताब्दी के पहले दो दशाब्दों में उसे विशेष मान्यता प्राप्त हुई और उसकी स्थापनाओं ने साहित्य को प्रभावित करना आरम्भ किया। फ्राइड-एडलर-युंग की नई तथ्य-स्थापनाएं जब साहित्य के क्षेत्र में पहुंचीं तो उन्होंने अनेक युग-पुराचीन भावनाओं और परम्पराओं को एकदम झकझोर डाला। अब तक मनुष्य के मन को एक स्वतन्त्र इकाई माना गया था, यद्यपि सतरहवीं शताब्दी में डेकार्टे ने पहली बार मनस्तत्व और विचार-प्रक्रिया के क्षेत्र में नई जिज्ञासाएं उपस्थित की थीं और यह उद्घोषित किया था कि सभी प्रकार की बौद्धिक चेष्टाओं का उद्गम होने के कारण मन की सीमाओं, उसकी प्रकृति और उसके कार्य-व्यापार को समझना सब से पहिले आवश्यक है। उन्नीसवीं शताब्दी के आरम्भ तक मनस्तत्व की खोज दर्शन का विषय थी, परन्तु धीरे-धीरे यह स्पष्ट हो गया कि केवल-मात्र तर्क-वितर्क से मानसिक जगत के मूल स्रोतों तक पहुंचना कठिन है। फलतः वैज्ञानिकों ने इस क्षेत्र में प्रवेश किया और मनोविज्ञान दर्शन-शास्त्र से भिन्न एक स्वतन्त्र शास्त्र के रूप में सामने आया।

मनोविज्ञान-शास्त्र का क्षेत्र बड़ा विस्तृत है। वह मनुष्य तथा अन्य प्राणियों के मनःव्यापार तक ही सीमित नहीं है, वह व्यवहार के सारे क्षेत्रों को अपना लेता है और यह समझना चाहता है कि व्यवहार की क्या क्या सीमाएं हैं। वह व्यक्ति पर ही समाप्त नहीं हो जाता, समाजगत मनोविज्ञान के रूप में वह संस्थाओं और समूहों के विस्तृत क्षेत्र को भी अपनी खोज का विषय बना लेता है। परन्तु वास्तव में आधुनिक लेखकों और कलाकारों को जिस चीज ने अनन्यतः प्रभावित किया है वह स्वयं मानव-मन के संगठन और उसके उपादानों के सम्बन्ध में मनोवैज्ञानिकों की खोजें हैं। ये खोजें मनोविश्लेषण के अन्तर्गत आती हैं: मनुष्य का मन क्या है और वह किस प्रकार क्रियाशील होता है? हमें देखना है कि मन के सम्बन्ध में यह नई मान्यता क्या है? अब तक मन को एक स्वतन्त्र और पूर्ण इकाई समझा गया था। कहा गया है कि मन वह 'वस्तु' है जो धारणा करती है, अनुभव करती है और विचार करती है; और इस 'वस्तु' का अस्तित्व एक ही धरातल पर है और यह चेतना का धरातल है। परन्तु प्राचीन युगों में भी दार्शनिकों ने यह तत्व प्राप्त कर लिया था कि मन का एक भाग, और सम्भवतः बड़ा भाग, चेतना के धरातल के नीचे स्थित रहता है। ज्ञान तथा स्मृति के सम्बन्ध में तात्विक विचार करते हुए इस धारणा पर पहुंचना अनिवार्य था। परन्तु यह मान्यता-मात्र थी। चेतना के धरातल के नीचे मनःप्रवाह का क्या रूप है, यह कभी जाना भी जा सकेगा, ऐसा बोध नहीं था। केवल चेतन मन की क्रिया-प्रकिया को जाना-बूझा जा सकता था।

मनोवैज्ञानिकों ने तर्क-वितर्क और अनुमान की दार्शनिक पद्धति को छोड़ कर प्रयोगों की वैज्ञानिक पद्धति को अपनाया और उन्होंने फलस्वरूप अनेक और विविध निष्कर्ष प्राप्त किए। उदाहरण-स्वरूप, उनका एक निष्कर्ष यह था कि मन और देह में अत्यन्त गहरा सम्बन्ध है और मन की जो प्रक्रियाएं अब तक स्वतन्त्र समझी जाती थीं, वे ऐसी शक्तियों का प्रसार या फल है जिन पर मनुष्य का कोई अधिकार नहीं है। परन्तु कदाचित और भी महत्वपूर्ण मनोवैज्ञानिकों की यह खोज थी कि व्यक्ति का मन एक सम्पूर्ण इकाई न हो कर विभिन्न, एक या अधिक इकाइयों या व्यक्तियों से बना हुआ है। स्नायिव विकारों के सम्बन्ध में हिप्नाटिक परीक्षण करते समय मनोवैज्ञानिक इस महत्वपूर्ण निष्कर्ष पर पहुंचे थे। इस नई खोज ने फ्राइड के मनःचिकित्सण अथवा मनःविश्लेषण-परीक्षणों को जन्म दिया। इस पथ पर आगे बढ़ते हुए फ्रॉइड ने यह स्थापित किया कि असामान्य और सामान्य

मनुष्य तत्वतः एक हैं, अन्तर केवल गुणात्मक है। इस प्रकार स्नायुविकार-ग्रस्त प्राणी उपहासास्पद नहीं, हमारी सहानुभूति के पात्र बन जाते हैं।

इन नए दृष्टिकोणों ने हमारे ज्ञान-क्षेत्र में अकल्पित रूप से क्रान्ति कर दी है। अब हम मन को ऐसी सम्पूर्ण छोटी इकाई नहीं मानते जिसका एक अनिश्चित अंग या उपांग भी है, जिसको सम्पूर्णतयः जानना या जिसके सम्बन्ध में अध्ययन करना असम्भव बात है। मनोवैज्ञानिकों ने चेतना–धरातल के इस अतिरिक्त अंग या उपाँग को ही अपनी विशेष खोज का विषय बनाया है और अब हम मन को कई धरातलों या स्तरों के रूप में देखते हैं। सब के ऊपर हमारे चिरपरिचित चेतन मन का स्तर है जिसके विषय हैं--धारणा, भावना और विचार; परन्तु आज इस चेतन स्तर का महत्व बहुत कम हो गया है। वह अपदस्थ हो गया है। इस चेतनस्तर के नीचे उपचेतन या अवचेचत का समस्त विस्तार है। मनोवैज्ञानिक इस विषय में सहमत नहीं हैं कि इसे क्या कहा जाये, परन्तु सुविधा के लिए हम इस मन को दो स्तरों या धरातलों में ले सकते हैं, यद्यपि यह धरातलों की बात बहुत कुछ रूपक ही होगी और उससे वस्तु-स्थिति का स्पष्ट रूप सामने नहीं आ सकेगा। तीन धरातल भी हम मान सकते हैं। चेतन मन के एकदम नीचे उपचेतन मन का धरातल है और बहुत नीचे, काफी गहराई पर, सब से नीचे अवचेतन मनःप्रवाह है। जिस प्रकार भारतीय योगियों ने मूल शक्ति-स्रोत के रूप में कुण्डलिनी की कल्पना की है, कुछ इसी प्रकार इस आधुनिक मनोविज्ञान में यह अबूझा, व्यक्तित्व के अंध गर्त में लीन, कुण्डली मार कर बैठा हुआ अवचेतन ही मनुष्य की सारी उपचेतन–चेतन क्रियाओं का मूल है।

परन्तु मनोविज्ञान की मान्यताएं और भी अनेक हैं और कभी-कभी हमें उनमें तत्वतः विरोध भी दिखलाई दे जाता है। मनोविज्ञान ने मनुष्य के सामने नई विचार-भूमियां उपस्थित की हैं और जीवन के प्रति उसके दृष्टिकोण को ही बदल दिया है। इन विचार-भूमियों में हमें जो असंगति दिखलाई पड़ती है, वह मनोविज्ञान की शास्त्रीय अपरिपक्वता का द्योतक है, परन्तु इससे उसके महत्व में किसी प्रकार की कमी नहीं आती। यहां हम कुछ ऐसी मान्यताओं को ले कर चलना चाहते हैं जिन्होंने आधुनिक काव्य को अनन्यतः प्रभावित किया है।

पहली बात तो यह है कि उपचेतन और चेतन में बराबर आदान–प्रदान चलता है। हम अभी उपचेतन के सम्बन्ध में सम्पूर्ण ज्ञातव्य नहीं

जानते। वह अब भी रहस्यमय, अपरिदिष्ट और अनिश्चित है, परन्तु इस आदान-प्रदान के सम्बन्ध में सारे वैज्ञानिक निश्चित हैं। उपचेतन मन के सम्बन्ध में आज हम जो जानते हैं, उससे उसके तत्वों का एक आकर्षक रूप सामने आता है। उसके कुछ तत्व तो उसके अपने तत्व हैं और कुछ ऐसे अर्जित तत्व हैं जो उसने चेतन मन से प्राप्त किए हैं। चेतन मन के अवाँछित विचार और भाव उपचेतन में सङ्कलित होते रहते हैं। इसे यों भी कह सकते हैं कि अवचेतन चेतन मन के निरोध का पुञ्जीभूत रूप है। विशेष कारणों से, सामाजिक या नैतिक नियन्त्रणों के कारण चेतन मन उन्हें भुलाना चाहता है, परन्तु वे या तो अवचेन के तल पर स्वयमेव और अप्रत्याशित रूप से निम्नमुख तैरते रहते हैं, या उन्हें जानबूझ कर उभारा जा सकता है। प्रत्येक विचार या भाव दूसरे से शृङ्खलित रहता है। एक भाव से दूसरा भाव फूटता है या एक भाव दूसरे भाव की ओर इङ्गित करता है। पुनर्स्मरण या उद्‌बोधन की प्रक्रिया का यही आधार है। ये भाव या विचार जब उभर कर ऊपर आते हैं तो प्रत्येक तल में दूसरे से जुड़ा होता है और इस प्रकार एक लम्बी शृङ्खला बन जाती है। यह आवश्यक नहीं है कि इनमें से एक दूसरे से अनिवार्यतः सम्बन्धित हों। वास्तव में प्रत्येक स्वतन्त्र इकाई है और जोड़ने वाला तन्तु अत्यन्त सूक्ष्म है और कभी-कभी चेतन मन से उनका सम्बन्ध खोज निकालना असम्भव हो जाता है। उनमें बौद्धिक, ऊहापोहात्मक मनस्प्रक्रिया का बांध है। इस सारी शृङ्खलित प्रक्रिया को "चेतन का मुक्त प्रवाह", फ्री-ऐसोसिएशन, कह सकते हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि मन के विभिन्न स्तरों के सम्बन्ध में नई सूचना ने हमारी काव्यात्मक संवेदनाओं और काव्य-रचना-प्रक्रियाओं को अप्रत्याशित रूप से प्रभावित किया है। एक नया सतरङ्गी इन्द्रधनुषी संसार ही हमारे सामने विकीर्ण हो उठा है जो उड़ा-उड़ा फिरता है, जिसे हम पकड़ नहीं पाते, परन्तु जो इसीलिए चेतन मन के द्वारा संजोए उपकरणों से अधिक आकर्षक है।

यह स्पष्ट है कि अन्तश्चेतन के मुक्त प्रवाह में संकेतों का या प्रतीकों का महत्व सब से अधिक है। परन्तु प्राचीन काव्य में भी प्रतीकों का बराबर उपयोग हुआ है और पिछले युगों के पश्चिमी प्रतीकवादी काव्य में प्रतीकों के महत्व और प्राचुर्य की ही स्वीकृति है। अन्तर यह है कि अब हम प्रतीकों के प्रयोग की सारी प्रक्रिया को पूर्णतयः समझने लगे हैं और बौद्धिक भूमि पर उनका उपयोग करते हैं। आधुनिक काव्य मन के तलस्पर्शी स्तरों में

डूबने का प्रयत्न करता है और मनोविज्ञान-शास्त्र के सिद्धान्त और उसकी मान्यताएं उसे इस दिशा में बड़ी सहायता देते हैं। इसीलिए हम आज के काव्य में उद्‌बोधन, एवोकेशन' के द्वारा जिस संसार से परिचित होते हैं, वह इतना चुनौतीपूर्ण और अकल्पित रूप से आकर्षक दिखलाई पड़ता है। प्राचीन कवियों में जहां इस प्रकार की सामग्री का उपयोग हुआ है, वहां संकेतित अर्थो, व्यंग्य, के साथ-साथ अभिधार्थ का भी आग्रह है। परन्तु नए काव्य में अभिधार्थ का आग्रह न हो कर व्यङ्ग्यार्थ या संकेतित अर्थ का ही प्राधान्य है।

आधुनिक कविता में जिन मनोवैज्ञानिक तत्वों एवं प्रक्रियाओं का उपयोग हुआ है, वे इस प्रकार हैं :

१- निबन्ध निक्षेप, (फ्री एसोसिएशन), जिसका आधार है आत्मोद्‌बोधन, (एवोकेशन)।

२- व्यंजना का उपयोग, (सांकेतिकता)।

३- प्रतीकवाद। ये प्रतीक अनेक कोटियों के हैं : स्वप्न-प्रतीक, नागरिक प्रतीक, यौन प्रतीक आदि।

४- अन्तश्चेतन के प्रवाह को पकड़ने के लिए आधुनिक कवि वाक्य-विन्यास में अनेक परिवर्तन करता है। विचार-विन्यास में विक्षेप डाल कर और भावात्मक संगति के उपयोग के द्वारा वह अपने अन्तरंग का स्पष्ट चित्र हमें देना चाहता है। फलतः आधुनिक काव्य में तर्क-सिद्धि के द्वारा अभिव्यंजना न होकर उद्‌बोधक प्रतीकों द्वारा भावाभिव्यंजना का प्रयत्न है। इसीलिए आधुनिक काव्य का एक पक्ष ऐसा है जो बौद्धिकता का विरोधी है।

५- नया काव्य निर्वैयक्तिकता को वैयक्तिक ढंग से पकड़ता है और इस प्रकार उसमें जहां स्वच्छन्दतावादी काव्य की व्यक्तिपरता आ जाती है, वहां उसमें क्लासिकल काव्य की सार्वभौमिकता और तटस्थता भी रहती है। इस दृष्टिकोण में कदाचित् बहिरंग कवि के अन्तरंग से प्रभावित होते हुए भी अपना स्वतन्त्र व्यक्तित्व रख सकता है और उसका भावात्मक एवं वैज्ञानिक परीक्षण सम्भव है।

६- नए काव्य में मानव-चरित्र के सम्बन्ध में भी एक अभिनव दृष्टि विकसित हुई है। मानव-चरित्र आज स्वतन्त्र एवं स्थूल इकाई न रह कर अचेतन प्रतिक्रियाओं का विशृङ्खल समूह मात्र रह गया है। इसीलिए नए कवि पात्र को सम्पूर्णता न देकर उसके खण्ड चित्र ही हमें देते हैं और उनमें

तारतम्य स्थापित करने के लिए हमें अपनी ओर से प्रयत्न करना पड़ता है। स्वयं कवि और पाठक का चरित्र तथा व्यक्तित्व भी इसी प्रकार विशृंखलित है। उसे एक सूत्र में बाँधने के लिए कवि और पाठक दोनों को अपनी समस्त भावात्मक प्रक्रियाएं जाग्रत करनी होंगी और व्यक्तिगत उद्‌बोधनशील प्रतीकों द्वारा ही बिखरे सूत्र एक में ग्रथित हो सकेंगे।

इसमें सन्देह नहीं कि मनोविज्ञान ने काव्य-प्रक्रिया के सम्बन्ध में हमें बहुमूल्य सूचनाएं दी हैं और कवि के व्यक्तित्व की अन्यतम झाँकी हमारे सामने उपस्थित की है। एक नया और अप्रत्याशित रूप से रोचक क्षेत्र कविता के सामने खुल गया है, परन्तु यह भी सम्भव है कि हम पश्चिमी कवियों की भांति उपचेतन को ही सब कुछ मान लें और चेतन प्रक्रिया की बात एकदम भूल जाएँ। काव्य में लक्षणा, व्यञ्जना और प्रतीकों का उपयोग प्राचीनतम काल से बराबर होता रहा है। अन्तर केवल इतना है कि आज हम मनःप्रक्रिया को तत्वतः समझ गये हैं और हमारे प्रतीक अबूझे तथा अयाचित नहीं हैं। आधुनिक कवि मनोविज्ञान की मान्यताओं या सूत्रों के सहारे अन्तरङ्ग के अतल में डुबकी लगाता है और वहां ऐसे रहस्यमय, चित्र-विचित्र भावायोगों की खोज करता है जो केवल अर्द्ध स्फुट स्वप्नों तथा अर्द्ध मुकुलित प्रतीकों एवं ध्वनियों में ही आभासित किए जा सकते हैं।

चेतन मन के नीचे के अस्पष्ट भाव-जगत के इस उपयोग ने काव्य-निधि को अन्यतम रूप से प्रभावित किया है। परन्तु यह अभी नई कविता के प्रयोग की दिशा ही है। जहां कवि अवचेतन को रूप देने में समर्थ हुआ है, वहाँ उसे अभीप्सित सफलता मिली है, परन्तु जहां वह असफल हुआ है वहां उसकी रचना कूट-काव्य बन गई है। डे लेविस के शब्दों में (फ्रीऐसोसिएशन) की यह प्रक्रिया पाठकों को कठिनाई में डाल देती हैं, क्योंकि विचार अथवा कल्पना-चित्र के सम्बन्ध में उसके सम्पर्क कवि के सम्पर्क से विभिन्न हैं और यह सम्भव है कि वह कदाचित् ऐसा चकित और उद्वेलित हो जाय मानो वह नींद में किसी से वार्त्तालाप कर रहा हो* परन्तु सैद्धान्तिक रूप से भाव-ग्रहण की यह कठिनाई चाहे बड़ी हो, क्योंकि कवि

---

* "The Process (ie, Free Association) makes the things difficult for the reader, because his association with any given idea or image are probebly different from those of the poet, and he is likely to feel as puzzled and uncomfortable as if he were listening to some one talking in sleep" (A Hope for Poetry) Cecil Day Lewis) P.20-)

के मन के प्रतीक स्वभावतः प्रत्येक पाठक के लिए वही अर्थ नहीं रख सकते परन्तु व्यावहारिक रूप से आधुनिक कवि अपने व्यक्तिगत प्रतीकों द्वारा भी अनेक श्रेणियों के पाठकों को भाव-बोध करा सका है। क्यों ऐसा है, यह अभी तक निश्चित रूप से संस्थापित नहीं हो सका है, परन्तु बहुधा एक से उद्बोधक शब्दों और शब्द-समूहों से विचार और चित्र की समान श्रृंखला ही जाग्रत हुई है, भले ही क्रम में थोड़ा-बहुत अन्तर रहा है।

काव्य-प्रक्रिया में जो विचार या भाव मूर्त्तिमान होते हैं वे मूलगत और सर्वमान्य रहते हैं और इनहीं के कारण श्रेष्ठ काव्य की अभिव्यक्ति सार्वभौमिक रहती आई है। जहां कवि विशिष्ट संश्लिष्ट विचार, भाव या चित्र जाग्रत करना चाहता है, वहाँ भी सामान्य पाठक के लिए विचार, भाव या चित्र का एक सर्वसामान्य धरातल वह देता है। फलतः सभी पाठक उसकी रचना के प्रति पर्याप्त संवेदनशील हो सकते हैं। यह अवश्य सम्भव है कि कवि अपने निजी व्यक्तिगत और सूक्ष्म अनुभव के क्षेत्र को इतना संकीर्ण बना ले कि सभी पाठकों की पहुंच वहाँ तक नहीं हो, या उसके प्रतीक इतने विशिष्ट, निजी और व्यक्तिगत हों अथवा उसका भाषा का प्रयोग इतना विचित्र और अपरंपरागत हो कि वह अपनी अनुभूति को पाठक तक नहीं पहुंचा सके। परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि अवचेतन के व्यापक और असीम स्रोतो तक पहुचने का कोई अन्य मार्ग ही नहीं है। आवश्यकता इस बात की है कि कवि इस नई काव्यनिधि का सीमित रूप से ही उपयोग करे और इस दिशा में अतिवाद से काम नहीं ले। इस में सन्देह नहीं है कि मनोविज्ञान की अधुना खोजों ने काव्यविधि और रसदृष्टि को अप्रतिम रूप से प्रभावित किया है और नई काव्यधारा का उससे लाभ ही हुआ है। उसकी जड़ता छूटी है और उसे नई अंतर्दृष्टि मिली है।

मनोवैज्ञानिकों ने आज मन को अनेक खण्डों में विभक्त कर दिया है। जो वस्तु पहले एक स्वतंत्र इकाई और अविभक्त थी, वह आज टुकड़े-टुकड़े हो कर बिखर गई है। इन बिखरे हुए टुकड़ों में अराजकता है परन्तु उनका अपना आकर्षण भी है। उनसे हमारी जिज्ञासा की भी शांति होती है और हमें क्षण भर क्रीड़ा-कौतुक का आनन्द भी होता है। स्वयं विधाता की भांति हम मन को तोड़-फोड़ लेते हैं और टूटे हुए टुकड़ों को कभी एक तरफ, कभी दूसरी तरफ रखकर चमत्कार-सृष्टि कर सकते हैं। ये मन के टुकड़े मात्र हैं, परन्तु ये मानवी प्रकृति के अंग होने के कारण कवि और

लेखक के लिये महत्वपूर्ण है । ये वे ईंटें हैं जिन पर वह भव्य भवन का निर्माण कर सकता है । इसलिए यदि आज का कवि और कलाकार इन बिखरे मन के टुकड़ों का उपयोग करता है तो हमें कोई शिकायत नहीं होना चाहिए ।

परन्तु प्रश्न यह है कि वह इन टूटी-फूटी ईंटों का उपयोग किस प्रकार करे ? क्या वह इनसे एक निश्चित रूप और आकार का निर्माण करे ? पिछली उन्नीसवीं शताब्दी के उपन्यासकार चरित्रांकन करते समय चरित्र के विभिन्न टुकड़ों को एक दूसरे से बिलकुल सटा कर एक सम्पूर्ण और निश्चित् चरित्र का निर्माण करने में अपनी कला की सार्थकता समझते थे। यह नहीं कि वे मानव-चरित्र असम्बद्धताओं और सम्पूर्णताओं को नहीं समझते थे और मनुष्य को देवता या राक्षस मान कर ही अपने कर्त्तव्य की इतिश्री समझ लेते थे। हमें ऐसे अनेक चरित्र उन्होंने दिये, जो सफेद और काले रंगों के मिश्रण हैं या जिनमें हेमलेट-जैसी रहस्यवादिन है, जो निश्चित् रूपरेखाओं में बन्ध नहीं पाते। परन्तु फिर भी इन उपन्यासकारों का लक्ष्य यही था कि वे चरित्र को "चरित्रता" दें, अर्थात् वह निश्चित्, सुसंबद्ध, स्पष्ट, तर्कसिद्ध और अविभाज्य इकाई हो, चरित्र की डोरियों के सिरे परस्पर बन्धे हों, वे झूलती न रहे। परन्तु बीसवीं शताब्दी की मनोविज्ञान की खोजों ने चरित्र-सम्बन्धी मान्यताओं में महान क्रांति कर दी। यह अवश्य है कि अब भी पुरानी परम्परा के सैंकड़ों कथाकार हैं जो चरित्रों को सुनिश्चित और अखण्डित इकाई बना रखने में ही कला की सार्थकता समझते हैं, परन्तु उपन्यासकारों का एक दूसरा वर्ग भी है। जो परम्परा की ओर मुड़ कर नहीं देखना चाहता। उसकी दृष्टि भविष्य पर है और उसका कहना है कि किसी भी पात्र को अविभाज्य और सुस्पष्ट बना देना वास्तविकता से दूर चले जाना है, जीवन में ऐसा नहीं होता। जिन व्यक्तियों से हम परिचित होते हैं, वे हमें खण्डित रूप में ही, या अनेक खण्डों के रूप में ही मिलते हैं और हमें स्वयं उन चरित्रगत खण्डों को जोड़ कर अपने लिए एक सम्पूर्णाभास तैयार करना होता है। इसीलिए आज का उपन्यास सम्पूर्णता पर बल नहीं देता, वह चरित्र के विभिन्न अगों या खण्डों पर प्रकाश डालता है। मनोविज्ञानिकों ने मन को जिन विभिन्न टुकड़ों में विभाजित कर दिया है, वे विभिन्न स्तरों की चीजें होते हुए भी चरित्र के पुनर्निर्माण के आवश्यक अंग हैं। क्योंकि आज हम यह जानते हैं कि यद्यपि मनुष्य चेतन मन से कार्यक्षेत्र में उतरता है, या वह समझता है कि वह चेतन मन की प्रेरणा से

संचालित है। परन्तु उसके पीछे उसकी अन्तश्चेतना के परस्पर विरोधी, कभी-कभी असंबद्ध और भयावह तत्व हैं और उसकी चेतना उसके अवचेतन के निरन्तर प्रहारों से प्रताड़ित होती रहती है। आज उपन्यासकार ने मानव मन के अवचेतन के तत्व को समझ लिया है और उसका रूपविधान (टेकनिक) भी बदल गया है। वह अपनी ओर से कुछ भी सहायता हमें नहीं देता। न कोई छोटा-सा, निश्चित-सा रेखाचित्र है, न कहीं सारांश। वह असम्बद्ध खण्ड-चरित्र मात्र को सामने रख कर तटस्थ भाव से अलग हो जाता है। वह पाठक और चरित्र के बीच में ज़रा भी खड़ा होना नहीं चाहता। नए उपन्यास अपने चरित्रों को कई टुकड़ों में देते हैं। कभी वे स्पष्ट और सम्बद्ध हो जाते हैं, कभी विरोधाभास-पूर्ण, कभी असम्बद्ध। उनका कहना है कि मनुष्य का मन सभी असंगतियों और विरोधों का घर है। फिर उसे हम उसी प्रकार क्यों नहीं चित्रित करें? एक दूसरी कठिनाई यह है कि ये सब मनस्-खण्ड एक ही प्रकार के नहीं होते। उनमें कुछ चेतन विचार और कर्म से सम्बन्धित हैं, कुछ केवल अन्तश्चेतना का प्रवाह-मात्र अथवा उपचेतन में बहती हुई विचार-प्रक्रिया मात्र, और कहीं अवचेतन की अंध शक्तियाँ हमारे सामने आती हैं जो पात्रों की चेतन मान्यताओं को झकझोर डालती हैं। इस विभिन्न स्तरों और खण्डों को लेकर हमें एक समन्वित चरित्र तैयार करना होता है।

इस प्रक्रिया का फल यह हुआ कि उपन्यास के क्षेत्र से कालानुक्रम अब लगभग समाप्त ही हो गया है। नायक के जीवन के चित्र हमें मिलते हैं, परन्तु वे किसी निश्चित काल-क्रम से नहीं। कभी हम सहसा आगे बढ़ जाते हैं, कभी झटका खा कर एकदम पीछे, उसके बचपन या किशोर जीवन के गर्त्त में गिर पड़ते हैं। चेतना की विषम और असम्बद्ध गति की भांति कथा और चरित्रभूमियां आज विषम, असंबद्ध और अगतिशील बन गई हैं।

उपन्यासकारों की भाँति आज कवि भी हमें अखण्डित सम्पूर्ण नहीं देता। वह भी हमें जीवन-खण्ड ही देता है। वह भी सुनिश्चित् नहीं होना चाहता और चरित्र के खण्ड दे कर तटस्थ भाव से अलग हो जाता है। जो वह देता है, उसमें एक सूत्रतास्थापित करना पाठक का काम है।

परन्तु यह एकसूत्रता चरित्रगत या विचारगत एकसूत्रता नहीं होगी। इसे हम भावगत एकसूत्रता कह सकते हैं। सेसिल डे लेविस ने इसे "इमोशनल सीक्यून्स" कहा है। वह कहते हैं—'तर्क-संगति के नितान्त अभाव का आदि

न होने के कारण पाठक पहले तो चिढ़ सा जाता है। ... संगति सोचने के प्रयत्न में उसे अपनी बुद्धि पर जोर डाल कर उसे अतिसंवेदित कर लेना ठीक नहीं होगा। इस व्यवस्था में भाव-संवेदन के द्वारा ही वह रसनिष्ठ हो सकेगा। यदि वह कल्पना-चित्रों को कुछ देर तक अपने भीतर पड़ा रहने देगा तो उसे लगेगा कि उसने सूत्र को पकड़ लिया है। जैसे एक स्फुलिंग मात्र से सारी पार्श्वभूमि जगमगा उठी हो'। * वास्तव में नया कवि चेतन मन का उपयोग नहीं करता। इसलिए तर्कग्रहीत सम्बन्ध सूत्रों की उसके काव्य में स्थापना असंगत होगी। अब तक के साहित्य में तर्क-सम्बन्ध और विषय-निर्वाह को सर्वोपरि माना गया था, परन्तु जहाँ साहित्यकार चेतन मन के ऊपरी धरातल को छोड़ कर उपचेतन या अवचेतन के विरोधाभासपूर्ण, असंगत और अर्द्धस्फुट विचार-प्रवाह या भाव-प्रवाह को अपना स्रोत बनाता है, वहां तर्क-शास्त्र-सम्मत निर्वाह की कल्पना ही असम्भव है। परन्तु यहां प्रश्न यह हो सकता है कि ये असंगत भाव-खंड सम्पूर्ण चित्र कैसे दे सकेंगे? आज का कवि इसकी कोई आवश्यकता ही नहीं समझता। यदि यह कहा जाय कि इस प्रकार हम चरित्र को संपूर्णतया नहीं जान सकेंगे, तो नया दृष्टिकोण कहता है कि हम आज तक अपने परिचित से परिचित सम्बन्धी का अंतर्वाह्य पूर्णतया नहीं जान सकते हैं। कभी जान भी सकेंगे, यह भी नहीं कह सकते जब दैनिक जीवन में ऐसा है, तो हम कलाकार से क्यों यह चाहें कि वह हमें संपूर्ण व्यक्तित्व का चित्र दे। आज का कवि-कलाकार यह विश्वास करता है कि मनुष्य की अंतरात्मा उसकी अपनी चीज है। उसे छोड़ कर कोई उससे सम्पूर्णतयः परिचित होने का दावा नहीं कर सकता। फिर भी जो असंबंधित खण्ड-चित्र आज का कवि हमें देता है, वह पात्र के मन की एक झांकी देने में समर्थ है। केवल यह जानना होगा कि इन चित्रों में तर्कसिद्धता या

---

* op Cit, P–P.20.1

'The reader unaccustomed to the total absence of logical continuity is at first inclined to irritation ... Let him not over beat his intellectual bearings in an attempt to 'think out' the connectives: the only entry into the position is an emotional one....If he will not allow the image to cohabit in is mind for a little, he will find that a contact is made, a speark thrown off which illuminates the whole situation.

गणित का योगफल हमें नहीं ढूंढ़ना है। जीवन न तर्कों पर आधारित है, न गणित पर। उससे अकल्पित और असंभाव्य का भी स्थान है। वहां हमें योगफल से बड़ी या सब तरह से नवीन उपलब्धि भी मिल सकती है। आवश्यकता है कि हम अपने को पर्याप्त संवेदनशील बनाएं। हम कवि के कल्पना-चित्रों में डूब जांए और उनके प्रवाह में अपने व्यक्तित्व को बहने दें। तभी हम कोशीय अर्थ से बड़ी चीज़ प्राप्त कर सकेंगे।

फ्राइड की कला सम्बन्धी मान्यताएं काव्य-तत्व और कवि-प्रकृति पर भी गहरा प्रभाव डालती हैं। फ्राइड ने स्वप्न, रुग्ण मनःस्थिति और कला को बहुत पास-पास रखा है। यह स्पष्ट है कि इनमें कुछ तत्व समान हैं। तीनों स्थितियों में अवचेतन प्रक्रियाएं गतिशील रहती हैं, साथ ही तीनों में कम-अधिक कल्पनातिरेक का तत्व रहता है। परन्तु इनमें एक बड़ा अंतर भी है। जिसका चार्ल्सलेम्ब ने अपने एक निबन्ध में इशारा किया है: "कवि का स्वप्न जाग्रत स्वप्न है। वह अपने विषव से अनुभूति नहीं हो जाता, उस पर उसका अधिकार रहता है।" * यह सचमुच बहुत बड़ा अंतर है। स्वप्न और रुग्ण मनःस्थिति में स्वप्नद्रष्टा और रोगी कल्पनाविभोर रहता है, मन के अश्व की वल्गा उसके हाथ में नहीं रहती, परन्तु कवि का उस पर पूरा अधिकार रहता है। एक और भी अन्तर यह है कि कवि वस्तु-जगत या प्रकृति से भाग कर भी उससे बंधा होता है। कला का मायिक जगत वस्तु-जगत से अधिक सत्य और अधिक निकट का सम्बन्ध स्थापित करने के लिये ही निर्मित होता है। कलाकृति और स्वप्न में निश्चित अन्तर ही यह है कि कला-कृति के द्वारा हम वस्तु जगत की ओर एक बार फिर लौटते हैं। फ्राइड कला-कृति के आनन्दकारी तत्व को ही सब कुछ मान लेते हैं और इसी से वह कला-कृति की सामाजिक, वस्तुनिष्ठ और उपयोगी भित्ति पर ध्यान नहीं देते।

फिर भी फ्राइडीय मनोविश्लेषण को यह श्रेय मिलना चाहिए कि अन्य मनस्तत्त्वों के विपरीत वह कविता को मन की प्रमुख प्रक्रिया मानता है। उसके अनुसार मन की प्रकृति ही उसे बड़ी दूर तक काव्य-सृजन करने वाला अंग बना देती है। मन की अवचेतन प्रक्रिया और काव्य-सृजन को फ्राइड ने बहुत कुछ एक समझ लिया है, यद्यपि अवचेतनीय काव्यानुभूति और

* "Psychoanalys is is a science of tropes, of metaphor and its variants—syneedocpe and metonomy. (Axils Castle. Wilson, P. 213)

उद्भूत काव्यानुभूति के बीच में सामाजिक बोध और चेतन मन के नियंत्रण के तत्व भी आते हैं। प्राचीनों के लिए कविता मन की स्वाभाविक सृजन-क्रिया का उपयोगी रूप था और उसमें चेतन की प्रधानता थी। फ्राइड ने इस गलत मान्यता को झकझोर दिया और आज कदाचित हम कवि की मनःप्रक्रिया तक पहुंच गए हैं।

फ्राइड ने काव्य को विशिष्ट स्थान ही नहीं दिया है, वह उसे विचार प्रक्रिया से भिन्न नहीं देखता, यद्यपि बहुधा वह उसे वस्तु-जगत या यथार्थ के आकलन में अक्षम, अविश्वसनीय और असफल मानता है। फिर भी फ्राइड की यह मान्यता है कि प्रतीकों के बिना विचार को प्रकट ही नहीं किया जा सकता। वास्तव में मानव-सभ्यता के आरम्भिक युगों में मनुष्य रूपकात्मक और चित्रात्मक भाषा का ही उपयोग, विचार-विनिमय के लिए करता है और आज फ्राइड की साक्षी पर हम कह सकते हैं कि इस वैज्ञानिक युग में भी हम रूपकात्मक चित्रों या चित्रात्मक रूपों में ही भाव या विचार का सृजन करते हैं। वास्तव में मनोविश्लेषण प्रतीक-विज्ञान ही है।

फ्राइड ने यह स्पष्ट कर दिया है कि मन का एक अंश ऐसा है जिसमें तर्क-प्रक्रिया का लक्ष्यगत आधार नहीं होता, यद्यपि तर्क के मूल स्रोत उसमें अंतर्निहित रहते हैं। यह मन का अवचेतन, अंशकाव्यगत संयोजकों का सहारा नहीं लेता और ये संयोजक ही तर्क के प्राण हैं। अवचेतन मन में भाव या विचार स्वप्न की भांति तह पर तह लगाती हुई चित्रपटी के रूप में प्रगट होते हैं। चेतन मन सूक्ष्म और व्यापक स्थापनाओं पर चलता है। उसके विरोध में अवचेतन क्षुद्र, परन्तु स्थूल की ओर देखता है। वास्तव में यही स्थूल चित्रात्मक भाव-संवेदना काव्य का प्राण है। मन की इसी स्थूलीकरण, चित्रात्मक प्रकृति के द्वारा ही कला के प्रभावोत्पादक तत्व जैसे अर्थ-गांभीर्य और स्वरपात-विपर्यय का जन्म होता है।

परवर्ती वर्षों में फ्राइड ने कलात्मक अनुभव के सम्बन्ध में जो अपने विचार प्रकट किए हैं—जैसे "बियांड द प्लेज्ज़र प्रिंसिपिल १९२० में" वे उनके पूर्ववर्ती विचारों से भिन्न हैं, यद्यपि फ्राइड ने इस भिन्नता को स्पष्ट रूप से नहीं माना है, न अपनी पूर्ववर्ती धारणाओं में संशोधन ही किया है। परन्तु इन विचारों को हम अरिस्टाट्ल के केथारिसिस सिद्धान्त के समकक्ष रख सकते हैं। इससे अरिस्टाट्ल के सिद्धांत की पुष्टि मिलती है और यह सिद्धाँत एक अंश में अरिस्टाट्ल के सिद्धाँत को कुछ परिवर्तित भी कर देता है।

गणित का योगफल हमें नहीं ढूंढ़ना है। जीवन न तर्कों पर आधारित है, न गणित पर। उससे अकल्पित और असंभाव्य का भी स्थान है। वहां हमें योगफल से बड़ी या सब तरह से नवीन उपलब्धि भी मिल सकती है। आवश्यकता है कि हम अपने को पर्याप्त संवेदनशील बनाएं। हम कवि के कल्पना-चित्रों में डूब जांए और उनके प्रवाह में अपने व्यक्तित्व को बहने दें। तभी हम कोशीय अर्थ से बड़ी चीज़ प्राप्त कर सकेंगे।

फ्राइड की कला सम्बन्धी मान्यताएं काव्य-तत्व और कवि-प्रकृति पर भी गहरा प्रभाव डालती हैं। फ्राइड ने स्वप्न, रुग्ण मनःस्थिति और कला को बहुत पास-पास रखा है। यह स्पष्ट है कि इनमें कुछ तत्व समान हैं। तीनों स्थितियों में अवचेतन प्रक्रियाएं गतिशील रहती हैं, साथ ही तीनों में कम-अधिक कल्पनातिरेक का तत्व रहता है। परन्तु इनमें एक बड़ा अंतर भी है। जिसका चार्ल्सलेम्ब ने अपने एक निबन्ध में इशारा किया है: "कवि का स्वप्न जाग्रत स्वप्न है। वह अपने विषय से अनुभूति नहीं हो जाता, उस पर उसका अधिकार रहता है।" * यह सचमुच बहुत बड़ा अंतर है। स्वप्न और रुग्ण मनःस्थिति में स्वप्नद्रष्टा और रोगी कल्पनाविभोर रहता है, मन के अश्व की वल्गा उसके हाथ में नहीं रहती, परन्तु कवि का उस पर पूरा अधिकार रहता है। एक और भी अन्तर यह है कि कवि वस्तु-जगत या प्रकृति से भाग कर भी उससे बंधा होता है। कला का मायिक जगत वस्तु-जगत से अधिक सत्य और अधिक निकट का सम्बन्ध स्थापित करने के लिये ही निर्मित होता है। कलाकृति और स्वप्न में निश्चित अन्तर ही यह है कि कला-कृति के द्वारा हम वस्तु जगत की ओर एक बार फिर लौटते हैं। फ्राइड कला-कृति के आनन्दकारी तत्व को ही सब कुछ मान लेते हैं और इसी से वह कला-कृति की सामाजिक, वस्तुनिष्ठ और उपयोगी भित्ति पर ध्यान नहीं देते।

फिर भी फ्राइडीय मनोविश्लेषण को यह श्रेय मिलना चाहिए कि अन्य मनस्तत्वों के विपरीत वह कविता को मन की प्रमुख प्रक्रिया मानता है। उसके अनुसार मन की प्रकृति ही उसे बड़ी दूर तक काव्य-सृजन करने वाला अंग बना देती है। मन की अवचेतन प्रक्रिया और काव्य-सृजन को फ्राइड ने बहुत कुछ एक समझ लिया है, यद्यपि अवचेतनीय काव्यानुभूति और

* "Psychoanalys is is a science of tropes, of metaphor and its variants—syneedocpe and metonomy. (Axils Castle. Wilson, P. 213)

उद्भूत काव्यानुभूति के बीच में सामाजिक बोध और चेतन मन के नियंत्रण के तत्व भी आते हैं। प्राचीनों के लिए कविता मन की स्वाभाविक सृजन-क्रिया का उपयोगी रूप था और उसमें चेतन की प्रधानता थी। फ्राइड ने इस गलत मान्यता को झकझोर दिया और आज कदाचित हम कवि की मनःप्रक्रिया तक पहुंच गए हैं।

फ्राइड ने काव्य को विशिष्ट स्थान ही नहीं दिया है, वह उसे विचार प्रक्रिया से भिन्न नहीं देखता, यद्यपि बहुधा वह उसे वस्तु-जगत या यथार्थ के आकलन में अक्षम, अविश्वसनीय और असफल मानता है। फिर भी फ्राइड की यह मान्यता है कि प्रतीकों के बिना विचार को प्रकट ही नहीं किया जा सकता। वास्तव में मानव-सभ्यता के आरम्भिक युगों में मनुष्य रूपकात्मक और चित्रात्मक भाषा का ही उपयोग, विचार-विनिमय के लिए करता है और आज फ्राइड की साक्षी पर हम कह सकते हैं कि इस वैज्ञानिक युग में भी हम रूपकात्मक चित्रों या चित्रात्मक रूपों में ही भाव या विचार का सृजन करते हैं। वास्तव में मनोविश्लेषण प्रतीक-विज्ञान ही है।

फ्राइड ने यह स्पष्ट कर दिया है कि मन का एक अंश ऐसा है जिसमें तर्क-प्रक्रिया का लक्ष्यगत आधार नहीं होता, यद्यपि तर्क के मूल स्रोत उसमें अंतर्निहित रहते हैं। यह मन का अवचेतन, अंशकाव्यगत संयोजकों का सहारा नहीं लेता और ये संयोजक ही तर्क के प्राण हैं। अवचेतन मन में भाव या विचार स्वप्न की भांति तह पर तह लगाती हुई चित्रपटी के रूप में प्रगट होते हैं। चेतन मन सूक्ष्म और व्यापक स्थापनाओं पर चलता है। उसके विरोध में अवचेतन क्षुद्र, परन्तु स्थूल की ओर देखता है। वास्तव में यही स्थूल चित्रात्मक भाव-संवेदना काव्य का प्राण है। मन की इसी स्थूलीकरण, चित्रात्मक प्रकृति के द्वारा ही कला के प्रभावोत्पादक तत्व जैसे अर्थ-गांभीर्य और स्वरपात-विपर्यय का जन्म होता है।

परवर्ती वर्षों में फ्राइड ने कलात्मक अनुभव के सम्बन्ध में जो अपने विचार प्रकट किए हैं—जैसे "बियांड द प्लेज्ज़र प्रिंसिपिल १९२० में" वे उनके पूर्ववर्ती विचारों से भिन्न हैं, यद्यपि फ्राइड ने इस भिन्नता को स्पष्ट रूप से नहीं माना है, न अपनी पूर्ववर्ती धारणाओं में संशोधन ही किया है। परन्तु इन विचारों को हम अरिस्टाट्ल के केथारिसिस सिद्धान्त के समकक्ष रख सकते हैं। इससे अरिस्टाट्ल के सिद्धांत की पुष्टि मिलती है और यह सिद्धाँत एक अंश में अरिस्टाट्ल के सिद्धाँत को कुछ परिवर्तित भी कर देता है।

फ्राइड का पहला विचार था कि साहित्य और कला आकांक्ष-पूर्ति (विश-फुलफिलमेंन्ट) मात्र है, जिस प्रकार स्वप्न की स्थिति है। मनुष्य मात्र तिक्त अनुभूतियों से बचना चाहता है और इसीलिए दुखःपूर्ण अनुभूति भी आह्लादक होती है। दुःखद स्वप्नों में हम क्यों रस लेते हैं ? फ्राइड के अनुसार उनसे द्रष्टा की दमित आकांक्षाएं ही अभिव्यक्त होती हैं। फ्राइड के इस स्वप्न-सिद्धांत का उनके कला-सिद्धांत पर भी प्रभाव पड़ा है। परन्तु बाद में युद्ध क्षेत्र की प्रताड़ित चेतना के सम्बन्ध में खोज करते-करते फ्राइड ने यह जाना कि रोगी बार-बार स्वप्नावस्था में उसी तिक्त अनुभव की ओर लौटता है और इस अनुभव की व्याख्या आनन्दकारी सिद्धांत पर नहीं की जा सकती। बच्चों के खेलों के अध्ययन में भी यह बात देखी गई है कि कुछ खेल भावी के सम्बन्ध में आकांक्षाओं या दमित आकांक्षाओं की पूर्ति नहीं है। उनमें बालक अपने जीवन के उन दुःखद अनुभवों की, जो उस की सुखानुभूति को नष्ट कर रहे हैं, पुनरानुभति करना चाहता है। इस प्रक्रिया को स्पष्ट करने के लिए फ्राइड को नया सिद्धांत गढ़ना पड़ा। उनका कहना है कि कदाचित् मनः जीवन में एक पुरानुभव-आग्रह है जो रसानुभूति के सिद्धाँत से भी अधिक महत्वपूर्ण है। परन्तु यह आग्रह क्यों ? फ्राइड का विश्वास है कि इसका कारण भय का विकास हैं। दुःखद स्वप्नों में यह प्रयत्न अंतर्निहित रहता है कि उस भय के विकास द्वारा जिसने स्नायिव प्रताड़न को जन्म दिया है प्रेरणा-ग्रंथियों को नियंत्रित किया जाय। स्वप्न में हम दुःखद परिस्थितियों का पुर्ननिमाण करते हैं, जिससे कि हमारी तत्-सम्बन्धी जीवनगत असफलता का प्रतिकार हो सके। इन स्वप्नों में प्रच्छन्न रूप से पलायन की प्रवृत्ति नहीं रहती, केवल वस्तुस्थिति का सामना करने का प्रयत्न रहता है, पुरास्थिति पर हावी होने की चेष्टा रहती है। बालक असुन्दर अनुभूतियों की पुनरावृति करता है, जिससे वह अपनी ही क्रियाशीलता के द्वारा अपनी निष्क्रियता और दुर्बलता पर विजय पाने के गर्व का अनुभव कर सके। फ्राइड को यह स्थिति दुःखान्त नाटक के समकक्ष दिखलाई पड़ती है, परन्तु उनकी यह धारणा नहीं है कि दुःखान्त की लोकप्रियता का कारण यह है कि हम स्वयं उस दुःखान्त स्थिति पर काल्पनिक विजय पाकर गौरवान्वित होते हैं। यह अवश्य है कि अरिस्टाट्ल के दुःखान्त-सिद्धान्त का प्रभाव फ्राइड पर है जो पीड़ा में भी रसानुभूति की कल्पना करता है। परन्तु दुःखान्त की रसानुभूति संदिग्ध ही है और कभी-कभी ऐसा अनुभव होता है कि रेचन भय की अनुभूति का फल नहीं है,

वरन् सुन्दर भाषा द्वारा भयावह स्थिति के विकल्प का फल है। और कभी-कभी सुन्दर भाषा के बीच में भी भय अपनी सम्पूर्ण नग्नता में उपस्थित हो जाता है, जैसे ओडीपस के दृष्टिविहीन और रक्तरंजित चेहरे की कल्पना द्वारा। फिर भी अरिस्टाट्ल का सिद्धाँत दुःखान्त (और सुखान्त के लिए भी) एक अन्य मनोनिवेश को अस्वीकार नहीं करता जो फ्राइड के स्थापन में संकेतित है। वह मनोनिवेश यह है कि दुःखान्तकी की पीड़ा कीथोड़ी सी मात्रा, होम्योपैथी की छोटी सी मात्रा की तरह, हमें उस बड़ी पीड़ा के प्रति संगठित करती है, जो जीवन में हमें कभी भी भविष्य में मिल सकती है। दुःखान्त की की रेचन-थ्योरी बहुत कुछ नकारात्मक है और उससे दुःखान्त की द्वारा प्राप्त उस सूक्ष्म शक्ति का द्योतन नहीं होता जो उसकी एक निश्चित विशेषता है ।

इसी निबन्ध में जहाँ फ्राइड ने किसी प्राणद लक्ष्य के लिए मन द्वारा पीड़ा के संयोजन की कल्पना की है, वहां उसने शोफनहावर के उस विचार को भी स्वीकारोक्ति दी है जो मृत्यु को मनुष्य का अन्तिम और अभीप्सित ध्येय मानता है। स्वयं फ्रायड-स्कूल के अन्य मनोवैज्ञानिकों ने फ्राइड द्वारा नियोजित इस मरणासक्ति (डैथ-इंस्टिंट) में अविश्वास प्रगट किया है। परन्तु इस स्थापना का चाहे व्यावहारिक महत्व नहीं हो, नियति के प्रति सम्पूर्ण समर्पण में जो एक त्रसद साहस होता है उसके अप्रतिम सौन्दर्य को एकदम छोटा नहीं किया जा सकता। मानव-जीवन के प्रति फ्राइड की धारणाओं में वस्तुवादिता (रियलिटी प्रिंसिपिल) और मरणासक्ति(डेथइंस्टिंक्ट सम्बन्धी स्थापनाए कदाचित् सर्वोच्च हैं। उनकी कठोर काव्यमयता फ्राइड के मनःशास्त्र की विशेषता है और इनके द्वारा ही उसे जीवन-दर्शन का रूप प्राप्त होता है।

वास्तव में कलाकार के लिये सिद्धान्त उतने महत्वपूर्ण नहीं हैं जितनी विचार भूमि। जीवन के प्रति उसका दृष्टिकोण ही उसकी रचना को छोटा-बड़ा बनाता है। उसके चारों ओर जो वैचारिक भूमियाँ हैं वे उसकी रचना को अन्तिम रूप नहीं देतीं, परन्तु फिर भी उनकी उपेक्षा उसके लिए असंभव है। इन विचारभूमियों में से कुछ कलाकार के लिए अन्य की उपेक्षा अधिक फलप्रद सिद्ध हो सकती हैं। उदाहरण के लिए हम मानवतावादी आशावाद को ले सकते हैं जो इस शताब्दी के पहले तीन दशकों में काफी लोकप्रिय रहा है। मानवतावादी आशावाद राजनैतिक और दार्शनिक भूमिका पर अयथेष्ट सिद्ध हुआ है। अपने सीमित

दृष्टिकोण के कारण उसने मनुष्य की संभावनाओं को छोटा ही किया है। और उसकी सर्जनात्मक संभावनाओं पर निरंतर अंकुश रखा है। फ्राइड का जीवन-दर्शन इस प्रकार की कोई सीमाएं नहीं मानता। यह निश्चित है कि फ्राइडियन व्यवस्था के कुछ तत्व मानव-महिमा की धारणा के विपरीत पड़ते हैं। मानव-प्रकृति का गम्भीर समीक्षक होने के कारण फ्राइड का यह विश्वास है कि मानव के दुःख का सबसे बड़ा स्रोत उसका अहं भाव है और कापरनिकस एवं डारविन की भांति उसे भी मनुष्य के देवीपन के गर्व में कुछ भी सार्थकता नहीं दिखलाई दी है। फिर भी अन्य धारणाओं द्वारा कल्पित मनुष्य की अपेक्षा फ्राइड द्वारा परिकल्पित मनुष्य अधिकाधिक महिमामहिम और अधिक रोचक है। सामान्यतः यह समझा जाता है कि फ्राइड की मनुष्य की कल्पना यौन पर समाप्त हो जाती है, परन्तु सच तो यह है कि उसने मनुष्य को किसी सरल सूत्र में नहीं बांधा है, चाहे वह काम का सूत्र ही क्यों न हो। फ्राइड के लिए मनुष्य साँस्कृतिक और प्राणी शास्त्रीय संवेदनाओं का अद्भुत इंद्रजाल है। सरल न होने के कारण वह सम भी नहीं है। एक स्थान पर फ्राइड ने कहा है कि मनुष्य के भीतर ही नरक की अवस्थिति है जिससे निरंतर ऐसी प्रेरणाएं स्फुरित होती रहती हैं जो उसकी पाशविकता को चरितार्थ करना चाहती है और उसके शताब्दियों के अबाध प्रयत्नों से निर्मित सांस्कृतिक राजमहल को भूमिसात करने की चेष्टा करती हैं। वह अपनी सामर्थ्य को कहीं बढ़ा-चढ़ा कर कल्पित करता है और उसे थोड़ा पाने के लिये बहुत देना पड़ता है। इसीलिए समझौता और पराजय के प्रति प्रणति जीवन-यात्रा को सुगम बनाने के लिए परमावश्यक मन्त्र है। उसके सबसे सुन्दर गुण ऐसे संघर्ष की उपज हैं जो अनिवार्यतः दुखान्त है। इतना होने पर भी मनुष्य प्रेममय प्राणी है। फ्राइड ने एडलर की सबसे कड़ी आलोचना यही की है कि उसमें उसने प्रेम को थोड़ा भी महत्व नहीं दिया, विजिगीषा को ही सब कुछ मान लिया है।

फ्राइड के सम्यक् अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि उसकी विचारधारा में मनुष्य के प्रति अवज्ञा का भाव नहीं है। उसकी धारणा है कि मनुष्य मानवीयता को अपनाकर ही सार्थक हो सकेगा। विवर्जित कुंठाओं से ऊपर उठ कर मनुष्य अपने परम प्रेममय रूप को समझे, यही उसकी शास्त्रीय मान्यता है। किसी जीवन-दर्शन के कारण कोई कला-कृति महनीय नहीं बन जाती, परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि फ्राइड के मनस्तत्वीय स्थापन

काफी काव्यमय हैं और ग्रीक-कलासिद्धान्तों के विपरीत नहीं पड़ते। वे न तो कलाकार के क्षेत्र को संकीर्ण बनाते हैं, न मानवी प्रवृतियों को सरल सूत्र में बांध कर कला की दृष्टि से हास्यास्पद बनाते हैं। उनमें संभावनाओं का एक नया संसार जन्म लेता है जो इन्द्रजालिक होने पर भी कलामय और आकर्षक है।

: ६ :

प्रतीकवाद

प्रतीकवादी आन्दोलन को हम एक प्रकार से स्वच्छंदतावादी आन्दोलन का विकास ही कह सकते हैं, यद्यपि दोनों में असमानताएं भी कम नहीं हैं। दोनों धाराओं के पारस्परिक सम्बन्ध को देखने के लिए, हमें उनकी ऐतिहासिक पृष्ठभूमि में जाना होगा।

अट्ठारहवीं शताब्दी के अन्त में हमें इंग्लैंड में एक नई धारा का स्पन्दन सुनाई पड़ने लगता है जो काव्य के आगस्टन चिन्तन को एक बार झकझोर देता है। यही स्पन्दन बाद में भाव और विचार के उन विप्लवी स्रोतों का रूप ले लेता है जिन्हें सामूहिक रूप से 'रोमांटिक धारा' या 'स्वच्छन्दतावाद' कह दिया गया है। इस आन्दोलन की कई विशेषताएं थीं। इसने रूढ़ि, परम्परा और श्रद्धा के स्थान पर अनास्था को महत्व दिया और काव्य-रुचि की सापेक्षिता की घोषणा की। कविता स्वयं अपना मानदन्ड है। उसके बाहर किसी भी दूसरे मानदंड को हमें नहीं ढूंढ़ना है, यह दृष्टिकोण रखा गया। कल्पना की उन्मुक्ति इस आन्दोलन की सबसे बड़ी विशेषता है। वास्तव में उसे सत्य से भी ऊंचा सिंहासन दे दिया गया। कीट्स के शब्दों में' वाट द इमिजिनेशन सीजेज़ एज़ ब्यूटी मस्ट बी ट्रूथ'। (कल्पना में जो सुन्दर लगे वह निश्चय ही सत्य है।) पिछले युग में तर्क को

सर्वोपरि माना गया था, नए युग में कल्पना को वही स्थान मिला। प्लेटो ने काव्य को 'अनुकृति' माना था और आगस्टन-काव्य में इसी धारणा की प्रधानता थी। परन्तु रोमाँटिकों का कहना था, कि मानव-मन प्रकृति का दर्पण नहीं है, वह वाहिसत्य को प्रतिबिंबित नहीं करता, वह नए-नए संसारों का निर्माण करता है, कवि वस्तु-जगत के आधार पर जिस कल्पना-जगत का निर्माण करता है। उसके अपने नियम हैं। कल्पना को एक अत्यंत चमत्कारी आश्लेषक शक्ति माना गया और कल्पना एवं जल्पना में अन्तर स्थापित किया गया। कल्पना अधिक गहरी और संयुक्त वस्तु है। इस प्रकार काव्य-प्रक्रिया में कल्पना-शक्ति को महत्व प्राप्त हुआ क्योंकि उसी के द्वारा कवि की विभिन्न प्रवृत्तियों और कर्तृत्वों में संतुलन स्थापित होता है।

मन की स्वतंत्र प्रकृति के रूप में तर्क या बुद्धि का काव्य-प्रक्रिया में कोई स्थान नहीं था। कल्पना के सीधे संपर्क से कवि जिस सत्य को उद्घटित करता है, या कवि-कर्म के द्वारा शब्दों में जिस प्रकार उस अनुभूति सत्य को बाँधता है, उसे तर्क की कसौटी पर नहीं कसा जा सकता। वास्तव में कालिरिज की यह परिभाषा आदर्श स्थिति की सूचक है। अधिकांश कवियों ने कल्पना के सभी तत्वों का उपयोग नहीं किया है। अतिभावुकता, अनुभूति की आत्यंतिकता, भोवोन्माद, अनियंत्रित असंयम, यही तत्व अधिक लोकप्रिय हैं। स्वच्छन्दतावादी जीवनदर्शन और कला का मूलमंत्र है-भावोन्मेषण। जिस स्वच्छन्दता और असंयम को लेकर कवि आगे बढ़े, वही इस काव्यधारा की शक्ति और दुर्बलता बन गए। स्वच्छदतावादी कवियों की कल्पना अप्रतिहत गति से समस्त विश्व पर छा गई और उसने जीवन के उपेक्षित और दुर्गम स्तरों में भी सौन्दर्यांन्वेषण में सिद्धि प्राप्त करली। जहां भी उसे सौन्दर्य के दर्शन हुए, वहीं उसने अपरिसीम आनन्द और उल्लास का अनुभव किया। वास्तव में शताब्दियों से विश्व के वस्तु-जागतिक सौन्दर्य का ऐसा सूक्ष्म और भावोन्मेषपूर्ण संकलन नहीं हुआ था। सौंन्दर्य ही नहीं, विभ्रम और भय के प्रति भी रोमांटिक कवियों का आकर्षण था। स्वच्छंदतावादी कल्पना सुदूरवर्त्ती, अद्भुत और असाधारण में रम गई। करुण, भयानक, अद्भुत, सभी रसों में उसने सौन्दर्य के दर्शन किए यद्यपि शृंगार के प्रति वह सबसे अधिक संवेदित थी।

स्वच्छन्दतावादी काव्य का कल्पना-जगत वस्तु-जगत से इसलिए भिन्न है कि उसमें आत्यंतिकता और असाधारणता के तत्वों की

प्रधानता है। कभी-कभी-स्वच्छन्दतावादी कवि और पाठक जीवन की विषमता और कटुता से भाग कर इस शीतलच्छाय प्रमोद-वन में विहार करने लगा है और कदाचित् इसीलिए रोमांटिकों पर 'पलायन' का आरोप लगाया जाता है, परन्तु महत्तम स्वच्छन्दतावादी कवियों ने जीवन को भ्रामक न बना कर उसे अप्रतिम सौन्दर्य से मण्डित किया है और एक नई ही परिभाषा सामने रखी है।

काव्य स्वातंत्र्य के स्वच्छन्दतावादी सिद्धान्त ने छन्दों के क्षेत्र में भी प्रयोग किया, क्योंकि स्वच्छन्दतावादी भावनाओं और परम्पराओं को परंपरागत रूढ़ छन्दों में ढालना असंभव बात थी। फलतः काव्यभाषा और छन्दों के सम्बन्ध में समस्त प्रतिबन्ध अमान्य हुए और कवियों ने इन क्षेत्रों में नई-नई उद्भावनाएं आरम्भ कीं। भाषा-शैली के सम्बन्ध में दो दृष्टिकोण हमारे सामने आरम्भ में ही आते हैं, एक दृष्टिकोण वर्डस्वर्थ का सरल बोलचाल की भाषा का था। वर्डस्वर्थ के अनुसार गद्य-पद्य की भाषा में अन्तर नहीं होना चाहिए। उनका कहना था कि छन्द आरोपित वस्तु है, कविता की मूलभूत आवश्यकता नहीं है। परन्तु कालिरिज का विश्वास था कि काव्य-कृति में भावना और धारणा, तात्कालिक स्फूर्ति और बोधमय लक्ष्य के ताने-बाने अनिवार्य रूप से बुने होते हैं और इसीलिए कवि को विशिष्ट और असाधारण भाषा-शैली और चुने हुए छन्दों का उपयोग करना होता है। अन्य रोमांटिक कवियों को कालिरिज का पक्ष ही ग्रहीत हुआ।

रोमांटिक काव्यधारा की कुछ त्रुटियों पर भी विचार कर लेना ठीक होगा।

१- चेतन लक्ष्य की अपेक्षा भावानुभूति को अधिक महत्व दिया जाता है।

२- कवि बुद्धि या तर्क को काव्य-प्रक्रिया में स्थान देने को तैयार नहीं है। उसका कहना है कि इससे कवि की सहज काव्य-स्फूर्ति नष्ट हो जायगी। फलतः उस अनुभूति की अभिव्यक्ति की मार्मिकता में भी कमी हो जायगी।

३- रोमांटिक काव्य में कलाकारिता को उपेक्षाकी दृष्टि से देखा गया है।

४- रोमांटिक काव्य में वह वस्तु नहीं है जिसे क्लासिकल परिभाषा में 'डिस्पोजीशन' कहते हैं।

स्वच्छन्दतावादी काव्यधारा की विशेषताएं हैं—कवि-स्वातंत्र्य, प्राचुर्य, कल्पना, बौद्धिकता की अपेक्षा भावुकता पर बल कला-जागरूकता और विकास का अभाव। ये तत्व हमें भिन्न कवियों में भिन्न-

भिन्न रूप में मिलते हैं। भिन्न-भिन्न कवियों ने कविस्वातंत्र्य और कल्पना से विविध बोध ग्रहण किये हैं और इस विभिन्नता के कारण विभिन्न-विभिन्न कवियों के काव्य और कलागत दृष्टिकोण में धरती-आकाश का अन्तर है। वास्तव में रोमाँटिक धारा को हम एक अत्यन्त विस्तीर्ण अर्थ में ही ग्रहण कर सकते हैं।

यूरोपीय काव्य में रोमांटिक धारा का सर्वोत्कृष्ट उन्मेष हमें अंग्रेजी काव्य में मिलता है। फ्रांसीसी रोमांटिक कवि अपेक्षाकृत असफल रहे हैं। अंग्रेजी कवियों में प्रमुख हैं ब्लेक, वर्डस्वर्थ, कालिरिज, शैली, कीट्स, और बायरन। फ्रांसीसी रोमाँटिक कवियों में सबसे अधिक महत्ता लामार्टीन, शेतूब्रियाँ, विक्तर ह्यूगो, जेरार्द द नर्वल, अल्फ्रेड द मुसे, विग्ने की है। ऐन्द्रे जीद ने इन कवियों में ह्यूगो को ही सर्वश्रेष्ठ माना है। वास्तव में फ्रांसीसी रोमाँटिक कवि रोमांटिक काव्य के किसी एक या अधिक तत्वों में सीमित हो गए। रोमांटिक धारा का जैसा विविध और संपूर्ण विकास हमें अंग्रेजी रोमांटिकों में मिलता है, वैसा हमें फ्रांस के रोमांटिक कवियों में नहीं मिलता।

रोमांटिक काव्य-सिद्धान्तों का सबसे विशुद्ध रूप हमें ब्लेक के सिद्धांन्तों में मिलता है। ब्लेक के काव्य-सिद्धान्त उनके जीवन-दर्शन के ही अंग हैं। ब्लेक के अनुसार कल्पना एक रहस्यमयी प्रवृत्ति है जिससे कवि वास्तविक और शाश्वत जगत से (जिसकी यह दृश्यमान जगत प्रतिच्छाया मात्र है) परिचित होता है। कल्पना के द्वारा कवि आत्मा के जीवन में प्रवेश करता है, जो 'सत्यं, शिवं, सुन्दरं' है और इसी पृथ्वी पर, इसी जीवन में, जिसकी अनुभूति सम्भव है। तर्क और इंद्रिय-बोध को अधिक महत्व देकर हमें प्रातिभ-ज्ञान द्वारा इस आत्मा के जीवन से जो प्राप्त होता है, उससे वंचित रह जाते हैं। विशुद्ध अनुभूति के द्वारा मनुष्य प्रत्येक वस्तु में अंतर्निहित शाश्वत और अनन्त का आभास प्राप्त करता है। मनुष्य इंद्रिय ज्ञान और तर्क के द्वारा एक बंदी-गृह का निर्माण कर लेता है। कल्पना के द्वारा ही वह बंदीगृह से बाहर झांक कर शाश्वत जीवन की झांकी पा सकता है। ब्लेक की मान्यता है कि कल्पना में ही मनुष्य की सभी आत्मिक प्रवृत्तियों, जैसे प्रेम, आस्था, साहस, शक्ति, आकांक्षा आदि का निवास है। तर्क और कल्पना का विरोध है। तर्क और बुद्धि मानव की आत्मिक प्रगति को कुंठित कर देते हैं। कला के द्वारा मनुष्य उस अनन्त से संस्पर्शित होता है और इसीलिए कला शाश्वत जीवन की अभिव्यक्ति है। ब्लेक कला के क्षेत्र में किसी भी प्रकार के

बन्धन को स्वीकार करने को तैयार नहीं हैं क्योंकि इससे मनुष्य की आत्मा कुंठित हो जाती है। फलतः कवि के लिए छन्दों के बंधन को तोड़ना अनिवार्य बात है। काव्य में मानव-मन की संपूर्ण और अबाध अभिव्यक्ति है। यह ब्लेक की मान्यताओं का मूलाधार है। प्रातिभ-ज्ञान या प्रत्यक्षानुभूति के द्वारा ही कवि और पाठक सौन्दर्य और परोक्ष से साक्षात्कार करता है और काव्य के विशुद्ध, आत्यंतिक और चिरनवीन रहस्यानुभवों में प्रविष्ठ होता है। इन मान्यताओं में हम स्वच्छन्दतावाद और कवि के व्यक्तित्व की सबसे व्यापक और सबसे अधिक उन्मुक्त स्थिति पाते हैं।

वर्डस्वर्थ की कल्पना उतनी ही रहस्यमयी है जितनी ब्लेक के लिए। इसी कल्पना के द्वारा वह सामान्य फूल में संपूर्ण जीवन को आत्मसात करके देख लेता है, परन्तु वर्डस्वर्थ की कल्पना उसे जीवन के स्थूल और तार्थ्यिक संस्पर्श से अलग नहीं करती। उसकी अनन्त और शाश्वत जीवनानुभूति जीवन के दैनंदिन अनुभवों और प्रकृति के सर्वसुलभ स्पन्दनों पर ही आधारित है। रोमांटिक काव्य का भावातिरेक, कल्पना-प्राचुर्य और कलात्मक आत्यंतिकता वर्डस्वर्थ के काव्य के तत्व नहीं हैं। उसमें अनुभूति की तीव्रता और आत्यंतिकता हमें नहीं मिलती। वर्डस्वर्थ ने कविता को प्रशान्त क्षणों में पुनर्जाग्रत रसात्मक अनुभूति माना है। इससे उसके काव्य में हमें गम्भीरता और संयम की तो पराकाष्ठा मिलती है, परन्तु बहा देने वाला भावोद्रेक और रोमांटिक उच्छ्वास उसकी विशेषता नहीं है। सरल अभिव्यंजना-शैली ने उसके काव्य को सर्वग्राह्य और मार्मिक बना दिया है। फिर भी वर्डस्वर्थ में वैयक्तिकता की पराकाष्ठा है और विशुद्ध ऐकाँतिक जीवनानुभूति के प्रति उसका आग्रह किसी भी अन्य रोमाँटिक कवि से कम नहीं है। कल्पना उसके लिए प्रत्यक्ष ज्ञान का साधन है। सामान्य वस्तुओं का सौन्दर्य अतिपरिचय और स्वार्थ-भाव के कारण कुंठित हो जाता है। कल्पना के द्वारा कवि उस सौन्दर्य से साक्षात्कार करता है और उसे विशुद्ध और विस्तीर्ण रूप से पाठक को देने का प्रयत्न करता है। कल्पना द्वारा उद्घटित इस वस्तु-सत्य या मूल सौन्दर्य में जो भी बाधक है, वह कवि को स्वीकार नहीं है। फलस्वरूप वर्डस्थर्थ काव्य-रूढ़ियों, परंपराओं, अलंकृतियों और दूरागूढ़ कल्पनाओं को उपेक्षा की दृष्टि से देखता है। विशिष्ट एवं अभिजात भाषा शैली का तीव्र और व्यापक विरोध हमें वर्डस्वर्थ में मिलता है। इस प्रकार वैयक्तिकता और स्वच्छन्दतावादिता का एक नए तल पर प्रसार हमें वर्डस्वर्थ के काव्य में उपलब्ध होता है।

कालिरिज में हम वर्डस्वर्थ के विपरीत असाधारण, अतिप्राकृत और अद्भुत के प्रति विचक्षण रूप से आग्रह पाते हैं। कल्पना-शक्ति के द्वारा उसने असंभाव्य को लेकर एक चित्र-विचित्र, सूक्ष्म और विविध जगत का निर्माण किया है, जिसमें मध्ययुगीन गाथाओं, यात्रा-वृतान्तों, स्वप्न और सत्य की रूपरेखाएं मिलकर एकाकार हो गई हैं। विचित्रलयों और संगीत के सूक्ष्म विधानों एवं भाषा की चित्रात्मक और व्यंजनात्मक संभावनाओं के द्वारा कालिरिज जादुगर की भांति अद्भुत, रहस्य और अप्रतिम को क्षण-क्षण पर जगाने में समर्थ है। रोमांटिक कल्पना की संश्लेषात्मक और अभिचारी विशेषताएं हमें कालिरिज में ही सबसे अधिक मात्रा में मिलती हैं।

शैली और कीट्स के काव्य-सिद्धान्तों और काव्य-परिपाटियों में भी काफी विभिन्नता है। शैली आदर्श की उस ऊंची स्थिति की कल्पना करता है कि वह उसके लिए रहस्यात्मक हो जाता है। वह कवि के जगत को दृश्यमात्र जगत से अधिक संतुलित, सुन्दर और ग्राह्य मानता है और उसके काव्य में एक प्रकार की पलायनशीलता हमें मिल जाती है। परन्तु साथ ही विश्व की अशांति और असंतुलन के प्रति विद्रोह और पुनर्निर्माण की इच्छा भी हमें पूर्ण मात्रा में मिलती है। शैली सौन्दर्य को मानवात्मा की उन्मुक्ति की कुंजी मानता है और उसका विश्वास है कि सौन्दर्यानुभूति के द्वारा ही संसार अंध-संस्कारों, रूढ़ियों और स्वार्थों के बन्धन से मुक्ति पा सकता है। सौन्दर्य की अन्यतम उपासना ही शैली का कवि-दर्शन है। काव्य सामाजिक साम्य, संतुलन और नैतिकता का उद्बोधक बन कर ही सफल है, ऐसा शैली का विश्वास है और इस प्रकार उसने रोमांटिकों की स्वच्छंद और निरपेक्ष कल्पना को उपयोगितावाद से ग्रंथित कर दिया, यद्यपि यह उपयोगितावाद सूक्ष्म और व्यापक है। ब्लेक के बाद रोमांटिक काव्यधारा का सबसे सुन्दर उदाहरण शैली ही है।

कीट्स के काव्य और उसके पत्रों में हम उसकी काव्य-प्रक्रिया और उसके काव्य-सिद्धान्त का विशद विवरण पाते हैं। कलाकार की आत्मचेतना और कलाजागरूकता उसके रोमांटिकों में सबसे अधिक है। उसमें बौद्धिक तत्वों के प्रति विशेष आग्रह है और उसके लिए काव्य आत्मगत भावनाओं की निर्वैयक्तिक अभिव्यक्ति है। इस प्रकार कीट्स के काव्य में क्लासिकल तत्वों का सम्मिश्रण हो गया है। 'ओड्ज़' और 'हाइपीरियन' उसकी काव्य-कला के सर्वोच्च विकास हैं और उनमें हमें जिस कवि और कलाकार के दर्शन होते हैं, वह शैली और वर्डस्वर्थ से भिन्न हैं।

इंग्लैंड की रोमांटिक काव्यधारा में हम जीवन और काव्य का पारस्परिक विरोध ही पाते हैं। कल्पना-जगत और वस्तु जगत में जो अन्तर पड़ गया था, उसने काव्य को विशिष्टता देते हुए भी उसे जन-साधारण के लिए अग्राह्य बना दिया था। काव्य-रचना के लिए कवि का व्यक्तित्व ही काफी समझा जाने लगा। कवि के स्वप्न, उसकी आकाँक्षाएं, उसकी संवेदनाएं उसके अपने मौलिकलयों-तालों और वैयक्तिक कल्पना-चित्रोंमें काव्य के उपादान बने। जैसे-जैसे समय बीतता गया, जीवन और काव्य में यह व्यवधान बढ़ता गया। अन्त में कवियों का आत्मविश्वास डिग गया। भौतिकवादी संस्कृति के विकास और विज्ञान एवं बुद्धिवाद के आग्रह से भावना-जगत में परिवर्तन होना आवश्यक था। आदर्शवाद, सौन्दर्यवाद, कल्पना और स्वच्छन्दता, रोमांटिक काव्य के चार स्तम्भ थे। बुद्धिवाद, विज्ञानवाद, नैतिकता और सामाजिक रूढ़िवाद ने इन्हें एकदम हिला दिया। ढहे तो ये स्तम्भ नहीं, परन्तु जर्जर अवश्य हो गए। परवर्त्तरु काव्य (विक्टोरियन युग के काव्य) में हम बार-बार कला को जीवन के पास लाने या जीवन से भाग कर कला की शरण जाने का प्रयत्न पाते हैं। परन्तु यह निश्चित है कि कवि केन्द्रच्युत हो गया था और केवल-मात्र कल्पना के पंखों पर उड़ कर सौन्दर्य के अतीन्द्रिय देश तक पहुंचना अब उसके लिए असंभव बात थी। विक्टोरियन युग के कवियों ने रोमांटिक काव्योद्भावनाओं और विचार-सरणियों के सूत्र का ही विकास किया और उन्हें अतिवाद तक पहुंचा दिया। पूर्ववर्त्ती धारा के विभिन्न तत्वों के ग्रहण और त्याग के द्वारा उन्होंने अपने काव्य में कुछ विशिष्टता तो दिखलाई, परन्तु किसी नए काव्य-सिद्धान्त को जन्म नहीं दिया। काव्य-सम्बन्धी धारणा में कोई भी क्राँतिकारी परिवर्तन दिखलाई नहीं देता। अधिकांश कवि व्यक्तिवादी थे और वे स्वतंत्र रूप से आगे बढ़े, केवल प्रीरेफ़लाइट वर्ग के रूप में एक विशेष 'स्कूल' के दर्शन हमें होते हैं।

विक्टोरियन युग के कवियों में टेनीसन, ब्राउनिंग और आर्नाल्ड प्रमुख हैं। इनमें आरनाल्ड ने एक बार फिर क्लासिक सिद्धांतों को पुनर्जीवित करने का प्रयत्न किया। ब्राउनिंग और टेनीसन के काव्य में हम जिन तत्वों को पाते हैं, वे मूल रूप से रोमांटिक काव्य तत्वों का अवशेष होते हुए भी-परस्पर दो विरोधी ध्रुवों को सूचित करते हैं। ये दोनों कवि दूसरी पीढ़ी के रोमांटिक कवियों से मिलते-जुलते हैं। वास्तव में वे इसी श्रेणी के कवि हैं। परन्तु वे मूलतः कवि हैं, उनके लिए काव्य-सिद्धाँत महत्वपूर्ण नहीं हैं। कला और जीवन में संतुलन स्थापित करने में दोनों असफल रहे हैं।

टेनीसन मूल रूप से गीति-कवि हैं, परन्तु उत्तर जीवन में वे कवि से अधिक उपदेशक बन गए हैं। शैली भी कवि को द्रष्टा मानते हैं, परन्तु टेनीसन से अधिक व्यापक दृष्टिकोण से। वास्तव में टेनीसन की उपदेशात्मक प्रवृत्ति ने और उनकी रूपात्मक कलाकारिता ने उन्हें "क्लासिकल" कवि के निकट पहुंचा दिया है। ब्राउनिंग के काव्य में हमें रोमांटिक व्यक्तित्व का ही विकास मिलता है। ब्राउनिंग कवि-स्वातंत्र्य का उपयोग करते हुए नए-नए काव्य रूपों की सृष्टि करते हैं। जिनमें उनकी प्रवृत्तियां और अभिरुचियां पूर्ण रुप से प्रतिबिंबित हैं। पाठकों की बौद्धिक चेतना और सौन्दर्य-भावना की ग्राहक-शक्ति की उपेक्षा उनकी रोमांटिक विद्रोहात्मक प्रवृत्ति की ही सूचना देती है। भाषा की निरंकुशता और कलाकारिता के प्रति अन्यमनस्कता ब्राउनिग की रोमांटिक कला की दो विशेषताएं हैं। रोमांटिक कवि की उद्बुद्ध सौन्दर्य-भावना के विपरीत प्रतिक्रिया रूप में ब्राउनिग में कुरूपता और अभव्यता के प्रति आग्रह मिलता है। ब्राउनिग शक्ति, स्वतंत्रता और भावोन्मेष के पुजारी हैं और ये उनके जीवन-दर्शन के प्रमुख अंग हैं। उनमें उस आत्यंतिक कल्पना का अभाव है, जिससे ये विभिन्न तत्व मिलकर एकाकार हो जाते। लक्ष्यबहुलता, अनियंत्रण और उपदेशात्मकता पर आग्रह होने के कारण उनका महत्व कम नहीं हो जाता।

वास्तव में रोमांटिक धारा का पहला अग्र-चरण हमें प्री-रेफलाइट काव्यधारा में मिलता है। राज़ेटी, मारिस, स्विनबर्न—इन्हें हम इस धारा का प्रतिनिधि कवि कह सकते हैं। राज़ेटी के अनसार नई काव्यधारा (प्री-रेफ़लाइट काव्यधारा) का अर्थ है "वस्तुवाद, भावप्रवण परन्तु साथ ही सूक्ष्म भी" (रियलिज़्म, इमोशनल बट एक्सट्रीमली माइन्यूट) रोमांटिक कवियों की भांति इस वर्ग के कवियों में भी मतैक्य नहीं था। राज़ेटी को हम कीट्स और कालिरिज के पास रख सकते हैं। तीनों में समान रूप से सौंदर्य के प्रति ऐन्द्रिय आसक्ति है और तीनों ही रहस्य और स्वप्न के भयद संसार में विचरण करते हैं। मारिस अपने काव्य-विषयों और प्रतीकों के लिए मध्ययुग की ओर जाता है, जब जीवन दुर्दमनीय आकांक्षाओं और अप्रतिहत कर्तत्व से भरा हुआ था। सच तो यह है कि प्री-रेफ़लाइट वर्ग के कवियों ने अपना लक्ष्य इतना ऊंचा रखा था कि वह उनसे सध नहीं सका। इन कवियों ने जीवन-स्थितियों से भाग कर एक सुन्दर कल्पना-लोक का निर्माण किया और उसी के हो रहे। स्विनबर्न विशुद्ध काव्य का समर्थक था और उसने काव्य में नादात्मकता और संगीत-तत्व का इतना उपयोग

उपासना में जब कलाकार जीवन की वास्तविक और गम्भीर संभावनाओं से हट जाता है, तब उसकी रचना अनिवार्य रूप से निर्बल हो जाती है। गातियर के बाद इस वर्ग के दूसरे कलाकार लेकाण्टे द लिस्ले, और जोसेमेरिया द हेरेदिया हैं। इन कलाकारों में हमें नियवैयक्तिकता के सिद्धान्त का पालन, कलात्मक संयम, अप्रतिहत आत्माभिव्यंजना के प्रति उपेक्षा-भावविवरणात्मकता कलाकारिता अथवा कलात्मक सज्जा के प्रति आग्रह जैसे नए तत्व मिलते हैं, जो उन्हें रोमांटिकों के विरोध में खड़ा देते हैं। इन्होंने काव्य को जीवन से समीकृत करने की चेष्टा की है और सामयिक तत्व-चिंता और वैज्ञानिक प्रगति को काव्य में स्थान दिया है। विज्ञान और कल्पना के विभिन्न तत्वों को समीकृत करने का यह नया प्रयास निःसन्देह अभिनन्दनीय था। इस प्रयास में कवियों को पूर्ण रूप से सफलता प्राप्त नहीं हुई। इन कवियों में हम पहली बार प्रतीकों का निश्चित और सैद्धान्तिक प्रयोग देखते हैं। परन्तु इन कवियों की रचनाओं में अंततः 'कला के लिए कला' के सिद्धान्त की ही जय हुई है और जीवनगत गम्भीर आध्यात्मिक मूल्यों की बहुत कुछ हानि या उपेक्षा भी हुई है।

पर्नासी और प्रतीकवादी कवियों के बीच में हम बांदलेर को खड़ा पाते हैं। वास्तव में बांदलेर अंग्रेज़ी और फ्रांसीसी समकालीन कवियों को जोड़ने वाली शृंखला है। अंग्रेज़ी के ह्रासोन्मुख (डिकेडेन्ट) काव्य पर बांदलेर का व्यापक प्रभाव दिखलाई देता है और परवर्ती फ्रेंच प्रतीकवादियों ने भी उनसे बहुत कुछ ग्रहण किया है। बॉदलेर में हमें रूपगत पूर्णता का तो आग्रह मिलता ही है, परन्तु उसने पर्नासी कवियों के विपरीत अपनी निजी और कदाचित् रोमांटिकों से भी अधिक गम्भीर एवं आत्यंतिक अनुभूतियों को अपने काव्य में वाणी दी है। बांदलेर में हमें आदर्श और यथार्थ का सम्बन्ध बड़े मार्मिक ढंग से मिलता है और इस संघर्ष से टूट कर वह अपनी स्वप्न यात्रा के लिए बराबर तैयार दिखलाई पड़ता है। अद्भुत गन्धों और विचित्र गीत-ध्वनियों के प्रति उसकी आसक्ति है। उसने अपनी अंतरानुभूतियों और मनःछलनाओं को बड़े वैभव के साथ वाणी दी है। वस्तु-जगत के पीछे परोक्ष जगत को वह रहस्यवादियों की भांति पकड़ने में सफल है। उसके काव्य में स्वप्न-भंग का महान चीत्कार भी है। निराशा, विद्रोह और पीड़ा में आनन्द की विजुगुप्सक भावना ने उसके काव्य को लाँछित परन्तु अत्यंत आकर्षक बना दिया है। सबसे बड़ी चीज यह है कि बांदलेर ने स्पष्ट रूप से अपने काव्य-सिद्धान्तों की घोषणा की और इस दिशा में

किया कि वह कदाचित् शब्दों के नाद-तत्व तक रह जाता है और इसी एक तत्व से अर्थ-बोध कराने का प्रयत्न रहता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि समस्त उन्नीसवीं शताब्दी में इंग्लैंड में रोमांटिसिज्म का प्राधान्य रहा और उसकी प्रक्रियाएं नए-नए रूपों में ग्रहीत होती रहीं।

: २ :

यहीं से प्रतीकवाद की धारा का आरम्भ होता है। इस धारा का सम्बन्ध फ्रांस से है जहां रोमांटिक आन्दोलन असफल रहा था और निर्बल था। फ्रेंच रोमाँटिक काव्यधारा के दो रूप हमें मिलते हैं। एक में भावुकता की प्रधानता है, कवि अपनी भावधारा और संवेदना के आधार पर ही काव्य भवन का निर्माण करता है और उसका विश्वास है कि मानवता के दुःखों का निराकरण उसका कर्तव्य है। दूसरा वर्ग कलात्मक प्रयोगों और सुन्दर शब्द-चित्रों को प्रधानता देता है। ह्यूगो में हमें इन दोनों वर्गों या दृष्टिकोणों का समुच्चय मिल जाता है। ह्यूगों के ही 'ले ओरियटेले' के आधार पर गातियर ने एक विस्तृत कला-सिद्धान्त का निर्माण किया, जिसमें हमें प्रतीकवाद के परवर्ती विकास के चिन्ह मिलते हैं। गातियर मूलतः चित्रकार था, रूपचित्रण और रंगलेखन के प्रति उसका आकर्षण स्वाभाविक था। उसके लिए स्वच्छन्दतावाद स्थूल वस्तुओं के सौन्दर्यांकन तक सीमित था। कविता में वह इसी इंद्रिय-गोचर सौन्दर्य को वाणी देना चाहता है और इस दिशा में कवि की सफलता ही उसकी सबसे बड़ी सफलता थी। स्वच्छन्दतावादी कवियों की आत्माभिव्यंजना के स्थान पर उसने निर्वैयत्तिक, वस्तुगत दृष्टिकोण को प्रधानता दी और रोमांटिक काव्य की अस्पष्टता और भावोन्मूलक धारा-वाहिकता के स्थान पर स्थूलता और आयाससिद्ध सज्जा काव्य में आई। फलस्वरूप एक ऐसी काव्य-पद्धति का विकास हुआ जिसे पर्नासी काव्य-पद्धति का विकास कहा जा सकता है। कवियों का यह वर्ग काव्य को उपदेशात्मक या नीतिमूलक न मान कर 'कला कला के लिए' सिद्धान्त का समर्थन करता है। परन्तु यह निश्चित है कि इस कलावादिता के पीछे महत् विषयों की उपेक्षा है और कवि की भावुकता एवं महत् विषय का स्थान कलाकारिता कभी भी नहीं ले सकती। फिर भी इस नए सिद्धान्त का स्वागत हुआ। रोमाँटिक काव्य की अतिभावुकता और समसामयिक समाज के भौतिक दृष्टिकोण के विपरीत इस धारा में जीवन से ऊपर उठ कर, तटस्थ भाव से सौन्दर्य-सृष्टि की प्रेरणा थी। कला-जगत का सौन्दर्य ही उसकी एक मात्र सार्थकता थी। इस पार्नेसी साहित्य से यह स्पष्ट हो जाता है कि कला की एकनिष्ठ

प्रतीकवादियों का पथप्रदर्शन किया।

बांदलेर के प्रभाव का एक पक्ष उसके काव्य-सिद्धान्त हैं और दूसरा पक्ष उसका काव्य। संभवतः बांदलेर ने अपने काव्य-सिद्धान्तों के निर्माण में एडगर एलेनपो की समीक्षात्मक स्थापनाओं से सहायता ली है जिनमें कालिरिज और शैली के बहुत से तत्व हमें मिल जाते हैं। बांदलेर के अनुसार काव्य के माध्याम से कवि पीड़ा को आनन्द का रूप देता है और उसके द्वारा उसके मनःस्वप्न को स्थायित्व प्राप्त होता है। कला-जगत में ही कवि के आदर्शों को स्थायित्व और स्थूलता मिलती है। प्रकृति में सौन्दर्य और प्रगति के तत्व बांदलेर को दिखलाई नहीं देते। कला (या कलाकारिता) में ही वह सौन्दर्य की प्रतिष्ठा मानता है। फलतः उसके काव्य में कविता के कला-तत्वों का व्यापक प्रसारहै। काव्य के रूपात्मक, नादात्मक और भूतिमत्तात्मक पक्षों का सम्पूर्ण विकास हमें बांदलेर के काव्य में दिखलाई देता है। उसके काव्य में परवर्ती विकास के अंकुर स्पष्टतः अंतर्निहित हैं। उसकी स्वप्निलता, उसके व्यंजनात्मक प्रतीक, विभिन्न इंद्रिय-बोधों में रहस्यात्मक सम्बन्ध-कल्पना, विभिन्नता में आत्मिक एकता का आग्रह–, ये सब प्रतीकवाद के ही तत्व हैं जो बांदलेलीर के काव्य में पूर्ण रूप से विकसित हैं। लाफार्गो और इलियट के काव्य में व्यंग, परिहास, विशृंखलित रूपकों का उपयोग और इसी प्रकार के जो अन्य तत्व मिलते हैं, वे भी बांदलेर के काव्य में प्रचुर मात्रा में हैं। वास्तव में बोनलेर के काव्य-सिद्धन्त स्वयं उसकी काव्य-प्रक्रिया और काव्य-संवेदना से उद्भूत हैं और उसने उसमें अपने लिए समाधान खोजने की चेष्टा की है। प्रतीकवादियों ने बांदलेर के सिद्धांतों में तत्कालीन जीवन-चिन्ता का आभास पाया है और उनके आधार पर एक विस्तृत सौन्दर्य-शास्त्र ही इड़ा कर दिया है।

: ३ :

प्रतीकवादी सिद्धाँतों के लिए हमें पाल वर्वे, मेलार्मे और रिम्बों की विचारधाराओं और काव्य-प्रक्रियाओं को देखना होता है। इस आन्दोलन का जन्म १८७० ई० के लगभग होता हैं। आन्दोलन का एक महत्वपूर्ण पक्ष बुद्धिवाद का विरोध हैं। पिछली पीढ़ी की मान्यता थी कि बुद्धि के द्वारा सारी सृष्टि-प्रक्रिया को समझा जा सकता है और तटस्थ दार्शनिक दृष्टिकोण ही सर्वोपरि लस्तु है। पर्नासी कवियों की रचनाओं का मूलाधार यह वैज्ञानिक बुद्धिवाद ही था। परन्तु १८७० ई० के लगभग स्पेन्सर, हार्टमां और शोपनहार की नई मान्यताओं ने बुद्धि के प्रति इस आस्था को डांवाडोल

कर दिया। इन तत्ववेत्ताओं का यह कहना था कि जीवन-प्रक्रिया में रहस्यमय बुद्धि-द्वारा अग्रहीत और अवचेतन, अज्ञात शक्तियों का महत्वपूर्ण स्थान है और तत्व वस्तुतः मरु-मरीचिका की भाँति अग्राह्य छलना मात्र है। इस नई विचारधारा ने फ्राँस के कला-चिन्तकों को भी प्रभावित किया और उन्होंने जीवन के रहस्यावर्तो को हटा कर उसने प्रत्यक्ष करने का प्रयत्न किया। कला के माध्यम से जीवन की अपरिमेयता, अपराजितता और रहस्यमयता को प्रगट करना ही सच्चा कला-धर्म है, यह मान लिया गया। अतिप्राकृत, स्वप्न और कल्पना-जगत को वस्तु-जगत से अधिक महत्वपूर्ण मान कर कवि इन्हें ही उद्घटित करने में लगे। यह कहा गया कि काव्य में जो तत्व बौद्धिक तर्कसिद्धता और ऐंद्रिय ग्राह्यता की अपेक्षा करते हैं वे वस्तु-सत्य को देने में असमर्थ हैं। काव्य हमारे उस रहस्यमय अंतर्बोध का प्रकाशन हो—जहां विचार, अनुभूति और ऐन्द्रिक संवेदनाओं एवं प्रतिक्रियाओं में विभाजन-रेखाएं नहीं रहतीं: इनमें परस्पर आदान-प्रदान सम्भव है। स्वप्न और आकांक्षा का एक नया संसार कवियों के प्रयोगों के लिए खुल गया और वस्तु-जगत से हट कर इस नए आत्म-जगत में केंद्रित होने वाले कवियों को अधिक मान्यता मिली।

प्रतीकवादी काव्यधारा की विशेषताएं, जैसी वे वर्लें, मेलार्मे और रिम्बो के काव्य में दिखलाई देती हैं, इस प्रकार हैं:

१- अनुभूति की आन्तरिकता (इन्टिमेसी)

२- व्यंजना (सजेस्शन)

३- ध्वनियों और आयोजित कल्पना-चित्रों के माध्यम से परोक्षा व्यंजना।

४- कवि द्वारा भाव-भूमि के निवेदन का प्रयत्न जिसके लिए वह स्वप्न और सत्य, अनुभूति और इन्द्रिय-बोध को विचित्र ढंग से संयोजित कर देता है जिससे वर्णित वस्तु कवि के भावोन्मेष का आत्यंतिक प्रतीक बन जाती है।

५- कविता के परम्परागत रूपविधान और लय-विधान की अपेक्षा और उन्हें लोकवाणी और संगीत-तत्व के निकट लाने का प्रयत्न।

६- तुकान्त के प्रति विद्रोह और छन्द-मुक्ति के लिए आग्रह।

७- बौद्धिक सूझ और परिपाटी-बद्ध शैली के प्रति अनादर-भाव

८- यह विश्वास कि काव्य में तथ्य-कथन महत्वपूर्ण नहीं है, ध्वनि और व्यंजना महत्वपूर्ण हैं, उसमें भड़कीले रंगों की अपेक्षा सूक्ष्म तरल रग अधिक उपादेय हैं। काव्य की पहली शर्त यह है कि वह संगीतात्मक हो और

उसमें दिवा स्वप्न और भावुक स्पन्दन को जगाने की शक्ति हो।

९- प्रतीकवादी आन्दोलन में बुद्धि का बोध है: और काव्य-प्रक्रिया को सहज अंतस्फूर्ति (अथवा मनोवैज्ञानिक शब्दावली में) अंतश्चेतना का विस्फोट माना जाता है। रिम्बो का विश्वास था कि सर्वोत्तम काव्य-कृति में काव्य-भाषा, तर्क और अर्थ-संगति के संम्पूर्ण अभाव में ही हमें प्रभावित करने में सफल होती है। बाद में रिने गिल ने रिम्बो के इन सिद्धान्तों को और भी विस्तार दिया और उसने भाषा को तर्क-संदर्भ से अलग ही संगीतात्मक मूल्य देने की चेष्टा की जिसका आधार संगीत-शास्त्र की भाँति नाद-संतुलन का सिद्धान्त था, जिसमें साथ-साथ रंगों की निश्चित व्यंजना भी रहती थी। प्रयोग की यह दिशा बोदलेर में भी हमें दिखलाई देती है।

१०- प्रतीकवादियों, विशेषतया रिम्बो के काव्य में उपचेतन तत्वों का अत्याधिक उपयोग हुआ है, और उसका साहित्य मनोविश्लेषकों के लिए अत्यन्त महत्वपूर्ण है। उसके काव्य में उसके अवचेतन की सम्पूर्ण और स्वच्छन्द अभिव्यक्ति है। सुर-रियलिस्ट आन्दोलन के समर्थक कवियों ने रिम्बो की काव्य-प्रक्रिया का व्यापक उपयोग किया है। वे अंतश्चेतन-मूलक लेखन में विश्वास करते हैं और उनके काव्य में अद्भुत कल्पनाओं और विचित्र स्वप्नों का प्राधान्य है। उनके कल्पना-चित्र, स्वतंत्र, परम्पराविच्छिन्न और तर्कविरहित रहते हैं। वास्तव में एक वर्ग प्रतीकवादी काव्य की फ्राइडीय व्याख्या उपस्थित करता है, दूसरा वर्ग यद्यपि (जिसका प्रमुख प्रवक्ता पाल क्लाडेल है) उसे सौन्दर्य और दृश्य-जगत की आध्यात्मिक एवं रहस्यमय अनुभूति मानता है। इसमें सदेह नहीं कि रिम्बो के काव्य में रहस्यानुभव की अनेक प्रतिध्वनियां हैं। आधुनिक काव्य पर रिम्बो की विचारधारा और काव्य-प्रक्रिया का व्यापक प्रभाव है।

११- प्रतीकवादी काव्य का एक नया विकास हमें मेलार्मे और पाल वेलेरे में मिलता है। रिम्बो के काव्य में वह उसके अंतर्जगत के ऐश्वर्य और उसकी विचित्र कल्पनाओं तक सीमित था। मेलार्मे शाश्वत सत्य और संपूर्णता की भावना से त्रस्त था। उसके अनुसार यह असंपूर्ण जगत एक सम्पूर्ण और सत्य जगत की छाया-मात्र हैं। मेलार्मे की सबसे आकर्षक कल्पना अनस्तत्व की हैं। और उसके काव्य का मूलाधार ही नकारात्मक है। अभाव, मौन मरण, ये उसके महत्वपूर्ण अंग हैं। बांदलेर की भांति मेलार्मे का भी विश्वास है कि बौद्धिक और कलात्मक सर्जन के द्वारा ही मनुष्य दृश्यगत सत्ता से अधिक विशुद्ध और आदर्श सत्ता तक पहुंच सकता है। कवि का कर्तव्य यही है कि वह

परोक्ष सत्य और सौन्दर्य की इसी अनुभूति को शब्दों के व्यंजनात्मक एवं ध्वन्यात्मक सौन्दर्य से पाठकों में जाग्रत करे। बड़े परिश्रम से मेलार्मे ने इस सूक्ष्म अभिव्यक्ति के लिए एक नई परिपाटी का निर्माण किया। काव्य-परिपाटी में कल्पना-चित्रों का उपयोग कोई नई चीज नहीं है। दृश्यमान जगत से सम्बन्धित और संवेदना जाग्रत करनेवाली वस्तुओं से एवं प्रक्रियाओं से कवि अपनी आत्मानुभूति की व्यंजना के लिए कल्पना-चित्रों को चुनता है। ये कल्पना-चित्र उसके लिए स्वयमेव महत्वपूर्ण नहीं हैं, वे इसलिए महत्वपूर्ण हैं कि वे आदर्श के प्रतिरूप या प्रतीक हैं। शैली जैसे रोमाँटिक काव्य में हम इस धारणा का प्राचुर्य पाते हैं, परन्तु रोमांटिक काव्य में इस धारणा और तज्जन्य प्रयोग के प्रति उतना निरंतर और जागरूक आग्रह नहीं, जितना हमें मेलार्मे के काव्य में दिखलाई देता है। बोदलेर की भांति मेलार्मे भी विभिन्न इंद्रिय बोधों के पारस्परिक सम्बन्ध और एक्य का विश्वासी है और वह अंततः उस मूलभूत आध्यात्मिक या परोक्ष अनुभव तक पहुंचना चाहता है। जो सभी पार्थिव संवेदनाओं का उद्गम है अथवा सभी इंद्रियानुभूतियों में जिसका मात्र प्रसार है। इस मूलभूत अनुभव को वह इंद्रियगम्य कल्पना-चित्रों के सूक्ष्म और अबाध उपयोग के द्वारा पाठक तक पहुंचाने में प्रयत्नशील है। वह तथ्य-कथन और निश्चित सामान्य अर्थबोध की उपेक्षा करता है। फलस्वरूप उसकी काव्य-कला में वक्रता और सूक्ष्म अगम्यता की प्रधानता है। वह वस्तु-जगत के प्रति अपनी संवेदनाओं और अपनी रसात्मक अनुभूतियों को वर्णित या सूचित किए बिना ही पाठक के प्रति निवेदित करना चाहता है। इसके लिए वह ध्वन्यात्मक व्यंजनाओं और शब्दों एवं कल्पना-चित्रों के अनेकानेक संदर्भों का उपयोग करता है। तथ्य-कथन के द्वारा वह विचार या अनुभूति को सीमाओं में बाँधना नहीं चाहता। इसीलिए वह सहज-ग्राह्य नहीं है। उसकी विचार-प्रक्रिया सूक्ष्म, वक्र और उलझी हुई है और अनेकानेक संदर्भों से पुष्ट होने के कारण वह सहज ही पकड़ में नहीं आती। कविता के बहिरंग में भी नवीनता का आग्रह है। मेलार्मे काव्य की भाषा को स्थूल, ग्राम्य और तथ्यवादी तत्वों से अलग कर विशुद्ध भावमूर्त्ति बनाना चाहता हैं। वह शब्द-समूहों के चुनाव और उपयोग के प्रति इतना जागरूक है कि वह अपने द्वारा व्यंजना की अनंत सीमाएं उद्घटित करता है और वे शब्द-समूह संश्लिष्ट भावनाओं या विचारों के वाहक बन कर एक नई ही इकाई बन जाते हैं।

इसमें संदेह नहीं कि मेलार्मे के काव्य में बौद्धिकता का आग्रह अधिक

है और प्रतीकवाद को दार्शनिक एवं सैद्धान्तिक पृष्ठभूमि देकर उसने उसे एक आकर्षक और निश्चित 'वाद' का रूप दिया है। शब्द-शक्ति के रहस्यों के प्रति उसकी निरंतर जागरूकता और काव्यानुभूति के प्रति ईमानदारी उसके काव्य की विशेषताएं हैं। काव्य का एक नया आत्मचेतन और निश्चित ढंग से प्रयोगवादी रूप हमें प्रतीकवादियों में मिलता है। रोमांटिक कवियों में हम सिद्धान्तों के प्रति उतना आग्रह नहीं पाते और उनका काव्य प्रक्रियाओं एवं कला-तत्वों का बोध भी उतना जागरूक नहीं है। परन्तु रोमांटिक काव्य में भी हमें कल्पना की आत्यंतिकता, छन्द-मुक्ति और शब्द-शक्ति के व्यंजनात्मक प्रयोग का आग्रह उसी प्रकार मिलता है जिस प्रकार प्रतीकवादी काव्य में। वास्तव में फ्रांस का प्रतीकवादी आन्दोलन इंग्लैंड के रोमाँटिक आन्दोलन से अनन्यतः प्रभावित था। एक प्रकार से हम उसे रोमांटिसिज्म का ही परवर्त्ती विकास कह सकते हैं। प्रतीकवाद के दो प्रमुख उन्नायक बांदलेर और मेलार्मे अंग्रेजी रोमांटिक काव्य से पूर्ण रूप से परिचित थे और उन पर एडगर ऐलन पो के काव्य-सिद्धान्तों का व्यापक प्रभाव था। प्रतीकवादी ही नहीं, बाद के सुररियलिस्ट कवि भी पो से प्रभावित हैं और अर्द्ध-जाग्रत चेतना में व्याप्त कल्पनाओं और मनःस्वप्नों के विश्लेषणात्मक और प्रतीकात्मक प्रयोग उन्होंने वहीं से सीखे हैं। पो के काव्य-सिद्धातों और उसकी काव्य-प्रक्रिया को हम अंग्रेज़ी रोमांटिकों (कालिरिज और प्री-रैफ़लाइट) के सिद्धान्तों और काव्य-प्रक्रियाओं से निकटतम रूप से संबंधित कर सकते हैं। इस प्रकार चाहे सीधे, चाहे परोक्ष में, प्रतीकवाद रोमांटिसिज्म का ही विकास सिद्ध होता है और इलियट एवं नवीन कवियों के काव्य में अब भी उसी की जय-भेरी बज रही है। यह अवश्य है कि इलियट में क्लासिकल और दार्शनिक तत्वों का भी संश्लेश है और काव्य चेतना मनोविश्लेषण के सिद्धान्तों से पुष्ट हो कर और भी वैज्ञानिक एवं जागरूक हो गई है

: ४ :

प्रतीकवादी जीवन -दर्शन

प्रतीकवादी दर्शन जहां एक ओर बुद्धि की महत्ता को अस्वीकार करता है, जो क्लासिकल दृष्टिकोण के विपरीत है, वहां दूसरी ओर वह रोमांटिकों की भावना की प्रधानता की बात को भी अस्वीकृत कर देता है। प्रतीकवादी जीवन-दर्शन के अनुसार दृश्यमान जगत परोक्ष जगत की असंपूर्ण प्रतिच्छाया है। इस परोक्ष जगत तक पहुंचना असंभव बात है। काव्य और साहित्य

का मूल लक्ष्य ही वस्तु-जगत के दृश्यगत, श्रवणगत और स्पर्शगत ज्ञान से ऊपर उठ कर उस अति.वास्तव, चिर सत्य और शाश्वत की झांकी देना है। मेलार्मे के काव्य में हम स्पष्ट देखते हैं कि वह इन्द्रियानुभूतियों से सम्पन्न बहिर्जगत को अपनी परीक्षा का केन्द्र बनाता है, और उसके 'पार' देखना चाहता है। बाद के कवियों ने अंतर्जगत (आत्मा) को अपने अन्वेषण का केन्द्र बनाया है। और उनके लिए यह अंतर्जगत (आत्मा) भी एक शाश्वत विश्व-मन की असंपूर्ण प्रतिच्छाया है और असफलता, पीड़ा एवं दुःख के पीछे हमें शाश्वत का बोध प्राप्त होता है। इस जीवन-दर्शन के मत में आत्मा, प्रेम, सौन्दर्य सब भ्रम-मात्र हैं और इनकी उपादेयता यही है कि हम इनके 'पार' शाश्वत जीवन-तत्व को देख सकें।

परन्तु इस शाश्वत जीवन-तत्व को बुद्धि, भावना अथवा इन्द्रिय-ज्ञान के द्वारा नहीं जाना जा सकता। केवल संवेदन मात्र रह जाते हैं। प्रतीकवादियों का कहना है कि ये संवेदना ही सत्य हैं, शेष सब भ्रम है, भ्रांतिपूर्ण और अवास्तव हैं। हमारी इन्द्रियों पर जो आघात होते हैं, वही सत्य है, वास्तविक तथ्य है। इस आघात से जिन विचार और भावनाओं का जन्म होता है, वे सत्य नहीं है, अधारहीन और भ्रामक हैं। फलतः संवेदना ही सब कुछ हो जाती है। बुद्धि और भावना के संयम के द्वारा जब हम अपने व्यक्तित्व को ठीक रूप से संयोजित कर लेते हैं, तब हम उस अनन्त से संस्पर्शित हो जाते हैं। ये क्षण अत्यन्त दुष्प्राप्य हैं, परन्तु इसीलिए मानव के लिए अमूल्य ही हैं। कलाकार इन्हें ही खोजता है। मेलार्मे से वेलरे तक हम इसी खोज का इतिहास बनता पाते हैं।

प्रतीकवाद स्वच्छन्दतावाद का ही परवर्ती विकास है। यह इस बात से भी स्पष्ट है कि प्रतीकवादी काव्यधारा के आरम्भ में जिन दो कवियों का नाम आता है (बांदलेर और वर्ले) उन्हें हम स्वच्छन्दतावाद के अंतर्गत भी ले सकते हैं। वास्तव में उनमें नई धारा की अपेक्षा पुरानी धारा के तत्व ही अधिक हैं। रिम्बो (१८५४-१८९१) के काव्य में हमें नए काव्य-तत्व पूर्ण विकसित रूप में ही मिलते हैं। रिम्बो का प्रारम्भिक काव्य विक्टर ह्यूगो के काव्य से भिन्न नहीं है, परन्तु ले इलूमिनेशन नाम की उत्तर रचना में वह एकदम अभिनव धरातल का निर्माण करता है। इन्हीं अभिनव तत्वों ने बाद में मेलार्मे और वर्ले को प्रभावित किया। रिम्बो कलात्मक संम्पूर्णता को भंगिमा मात्र मानता है। वह स्पष्टता और तथ्य-कथन का विरोधी है। दृश्य जगत को छोड़ कर उसने रहस्यमय परोक्ष का अंचल पकड़ा है।

उसने भाव और अभिव्यंजना में केन्द्रीयता लाने का प्रयत्न किया और नवीन काव्य-भाषा की सृष्टि करना चाही। भाषा-शैली के क्षेत्र में वह किसी भी रूढ़ि को मानने को तैयार नहीं था। मौलिकता के इस अति-आग्रह ने कहीं-कहीं रिम्बो के काव्य को असंतुलित बना दिया है। जहां कवि को कुछ नवीन या विशेष कहना नहीं है, वहाँ काव्य क्षेत्र में अव्यवहृत शब्दों का प्रयोग ही एक मात्र ध्येय है। मेलार्मे (१८४२-१८९८) ने रिम्बो के इस काव्य प्रयोग को उपयुक्त चिन्ताभूमि दी।

मेलार्मे के काव्य-दर्शन को हम १८७०-१९४० के काव्य का मेरु-दंन्ड मान सकते हैं। यह काव्य-दर्शन इतना सूक्ष्म और ऊंचा है कि कोई भी रोमाँटिक कवि इस मानदंड पर पूरा नहीं उतरता, यद्यपि लगभग सभी रोमाँटिक कवियों में ऐसी पंक्तियां मिल जाती हैं। जो नई काव्यधारा के उदाहरण के रूप में उपस्थित की जा सकती थीं। सृजन के अप्रतिम क्षणों में कवि जहां पहुंच जाता है, वे सिद्धान्तों में बहुत बाद में बंध पाते हैं। वास्तव में ब्लेक और पो के काव्य में नई धारा का पूर्व विकास मिलता है, और बाँदलेर एवं मेलार्मे ने इन स्रोतों से पर्याप्त लाभ उठाया है। परन्तु नई काव्यधारा का सुस्पष्ट, शृंखलित और निश्चित रूप हमें मेलार्मे में ही मिलता है। 'वर्स ए प्रोज' में हमें मेलार्मे का काव्य-चिन्तन इस प्रकार मिल जाता है।

यह स्पष्ट है कि मेलार्मे 'वस्तु' और कला में भेद मानता है। कथा-कहानी, उपदेश भावनाओं का प्रकाशन, ये काव्य नहीं हैं। काव्य होने के लिए कुछ होना आवश्यक है। कुछ होने के लिए या काव्य होने के लिए कवि को यथार्थ के पार जाना होगा और शाश्वत रूपरेखाओं को संवारना होगा। इस परिभाषा के अनुसार काव्य कही जाने वाली चीज बहुत कम रह जाती है-कुछ पृष्ठ या कुछ पंक्तियां।

काव्य की जो धारणा मेलार्मे ने उपस्थित की है उसमें वह संगीत के अनेक तत्वों को ग्रहण कर लेता है। संगीत के द्वारा हमें अनन्त के बोध की प्राप्ति होती है बुद्धि के परे के अरूप जगत तक हमारी पहुंच उसी के माध्यम से है। काव्य और संगीत में विशेष अन्तर यही है कि संगीत जिन नादात्मक ध्वनियों का उपयोग करता है, अपने आप में उनके कोई अर्थ नहीं होते, अर्थ का बोध होने पर ही हम अतीन्द्रिय जगत में प्रवेश कर पाते हैं। काव्य को संगीत से यही व्यंजनात्मकता सीखना है। अर्थ-बोध तक सीमित रख कर हम काव्य को छोटा करते हैं। कवि को अर्थ से बड़ी,

हो सके तो। अर्थ से परे की, वस्तु हमें देना है।

कवि के पास और भी बहुत कुछ है जिससे काव्य संगीत से कहीं अधिक अभिव्यंजक बन जाता हैं। गंधा रंग, रूप, स्वाद भावोद्रेक, ये कुछ संवेदनाएं हमें परोक्ष-जगत से सम्बन्धित करती हैं– शब्द इन संवेदनाओं के जो स्वयं अनन्त और शाश्वत जीवन की प्रतीक है, आभास-मात्र हैं। प्रतीक होने के कारण वे द्विधापूर्ण, अस्पष्ट और रहस्यमय हैं। ये न हों तो वे प्रतीक ही कैसे। इस प्रकार शब्दों के रूप-रंग-गंध, स्पर्श और नाद सम्बन्धी उपकरणों से कवि रहस्यमय अतीन्द्रिय परोक्ष जगत में प्रवेश करने की अलौकिक शक्ति प्राप्त करता है।

यह विचारधारा काव्य को अलौकिक और एक तरह से आध्यात्मिक बना देती है। वह चेतन बौद्धिक तत्वों पर आधारित न हो कर दुर्गम्य भाव-संवेदनाओंपर आश्रित हो जाती है। फलतः कवि-कर्म सामान्य कर्म न रह कर एक अत्यंत विशिष्ट कर्म बन जाता है। वर्ले ने आर्ट पोइटीक (१८७४) में काव्य की सीमाएं बाँधते हुए (जिनमें क्रमशः अर्थ, व्याकरण आदि का बोध हो जाता है) यह स्पष्ट कर दिया है कि श्रेष्ठ काव्य व्यक्तिगत प्रतीकों और कल्पना-चित्रों के कारण कूट-काव्य से कम दुर्बोध और रहस्यमय नहीं होता। वस्तुत काव्य के उन आकाश-चुंबी शिखरों पर पहुंचना बड़ा कठिन है और वहाँ देर तक ठहरना और भी दुःसाध्य है। इसमें सन्देह नहीं कि प्रतीक वादी विचारधारा में मानव-जीवन और काव्य-प्रक्रिया को अत्यंत गंभीरता से देखा गया है और कवियों एवं पाठकों की अंतर्दृष्टि को उससे अपरिसीम विस्तार मिला है। अब भी उसके समर्थक कम नहीं है। मेलार्मे के बाद पाल वेलरे (१८७१-१९४५) में इस काव्य-शैली का हम सर्वोच्च विकास पाते हैं। यह अवश्य है कि वह मेलार्मे से कहीं अधिक निराशापूर्ण है, परन्तु निराशा आधुनिक काव्य का प्रमुख अंग है।

परन्तु प्रतीकवादी विचारधारा प्रमुखतः निराशावादी होते हुए भी एक मात्र निराशावादी नहीं है। उदाहरण के लिए जुले सपरवे केवल काव्यात्मक संवेदनाओं तक सीमित रहता है और अपने लिए अथवा पाठक के लिए किसी भी सत्य-सिद्धान्त के आविष्कार का दावा नहीं करता। पिछले प्रतीकवादी कवियों के लिए हमें एक प्रकार का अतिवाद मिलता है। वे सामान्य जीवन के अनुभवों से भागते हैं, संभवतः उनके अनुभव असामान्य हैं परन्तु इस कवि में हम जीवन को अखण्डित और व्यापक रूप में देखने की चेष्टा पाते हैं। काव्य का जीवन-समीक्षा का रूप हमें यहां पूर्ण विकसित

मिलता है। उसने घृणा, प्रेम आदि मानवी संवेदनाओं को उपयुक्त परिवेश में देखा है। रोमांटिकों के काव्य में जिस व्यक्तिवाद (प्रमुख: मैं-शैली) का प्राचुर्य है, वह सपरवे में नहीं मिलती। उसका भोक्ता कवि अधिक गम्भीर, तटस्थ है, फलतः निर्वैयक्तिक है। इसमें संदेह नहीं कि यह प्रतीकवादी काव्य धारा में नए विकास को सूचित करता है।

प्रतीकवादी धारा का एक तर्कसिद्ध, परन्तु अतिवादित विकास हमें सुर-रियलिस्ट आन्दोलन में मिलता है जो १९१४ के बाद फ्रेंच काव्य में एक नया फैशन है। इस धारा के कवियों ने गद्य-पद्य में कोई भेद नहीं रखा। एक नई काव्य-शैली के निर्माण के प्रयत्न में सभी काव्य-रूढ़ियों के प्रति विद्रोह उठाया गया और काव्य-विषय को ऐसे सांकेतिक एवं प्रतीकात्मक रूप से उपस्थित किया गया कि गद्य-पद्य का कोई प्रश्न ही नहीं उठता है। तर्क-संगति के अभाव में यह गद्यात्मक पद्य कूट-काव्य बन गया है, जैसे ईलुअर्द की यह कविता में, जहां गद्य-पद्य का कोई भेद ही नहीं रह गया है। अपालिने अरागो, ब्रीतों सोपाल, काचो, इलुअर्द आदि इस धारा के प्रमुख कवि हैं, इस काव्यधारा ने हमें काव्य नाम की चीज़ कम दी। सुर-रियलिस्ट कवियों ने पाठकों से बहुत चाहा। जब कविता विशेष प्रकार के पाठ या नादात्मक संगीत तत्व अथवा स्वयं पाठकों के कल्पना-जगत पर आश्रित हो जाती हैं, तो वह अपनी व्यापक संवेदना खो देती है और कविता नहीं रह जाती। सुर-रियलिस्ट कवियों का काव्य निःसन्दिग्ध रूप से कूट-काव्य बन गया है। और उसमें कवि की संवेदना उसकी अभिव्यंजना-शैली में उलझ कर रह गई है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि रोमांटिक काव्यधारा प्रतीकवादी धारा, दादाईज्म और सुर-रियलिस्ट धारा विचारों, भावनाओं और प्रयोगों की एक उत्तरोत्तर विकसित और सूक्ष्म श्रृंखला का निर्माण करती हैं। कविता की अतीन्द्रिय और अबौद्धिक उपचेतनमूलक कल्पना के प्रति कवियों का आग्रह उत्तरोत्तर बढ़ता गया है और काव्य अन्त में एक बंद गली में पहुंच गया है। फ्राइड और अन्य मनोवैज्ञानिकों की मान्यताओं ने इन धाराओं की मान्यताओं को ही पुष्ट किया है और अंतश्चेतनसूलक काव्य अथवा प्रतीकवादी काव्य की एक नई धारा ही प्रवाहित हुई है। प्रतीकवादी विचारधारा और काव्य की जैसी गहरी जीवन-दर्शन की भित्ति इस नई धारा के पास नहीं है, परन्तु कवि के व्यक्तित्व का स्वप्न प्रतीकों और यौन मूर्त्त-विधानों द्वारा उद्घाटन इसकी विशेषता है।

प्रतीकवादी आन्दोलन प्रमुखतः फ्रांस तक सीमित रहा और उसने काव्य को विशद रूप से प्रभावित किया, परन्तु बाद में वह सम्पूर्ण पश्चिमी यूरोप पर छा गया और साहित्य की अन्य कोटियों में भी उसका प्रवेश हुआ। उसका सबसे विकृत रूप हमें जरतूड स्टेन के काव्य में दिखलाई पड़ता है, जिसमें प्रतीकवादी सिद्धान्तों को इतनी दूर तक खींचा गया है कि काव्य हास्यास्पद हो गया है। कदाचित प्रतीकवाद के आविष्कर्त्ताओं ने भी ऐसी दुरागूढ़ कल्पना नहीं की होगी। फिर भी इसमें संदेह नहीं कि अत्याधुनिक काव्य का सम्पूर्ण इतिहास प्रतीकवाद के विकास का इतिहास है।

: ५ :

आरम्भिक प्रतीकवादी कवियों ने अपनी धारणा का निर्माण प्रकृतिवाद के तथ्यकथन और बुद्धिवाद की तर्कसंगिता के विरोध में किया था। उन्होंने ध्वनि या व्यंजना के सिद्धान्त पर जोर दिया और उसे साहित्य का सबसे बड़ा तथ्य माना। उनका अतिवाद यह था कि वह समझते थे व्यंजना एवं अर्थ दो एकदम भिन्न वस्तुएं हैं। वेलेरे, इलियट और ईट्स में हम व्यंजना के पक्ष का पूर्ण समर्थन पाते हैं। परन्तु यह स्पष्ट है कि कोई भी शब्द केवल वाच्य ही नहीं है, उसमें व्यंग्य भी अंतर्हित है। यह कहना कठिन है (कदाचित् गणित और भौतिक विज्ञान को छोड़ कर) कि एक प्रकार का लेखन आर्थी मात्र है, दूसरी प्रकार का लेखन व्यंजना मात्र। वास्तव में प्रत्येक श्रेष्ठ साहित्यिक रचना में विचार, भाव और संवेदन तीनों मिलकर चेतन मन की प्रक्रिया का निर्माण करते हैं। श्रेष्ठ रचना की प्रभावोत्पादिता सूक्ष्म अंतर्ध्वनियों, अंतर्सन्दर्भों और रहस्यमय अर्थों पर आधारित होती है, जिनमें अर्थ के साथ लक्षणा और व्यंजना का पूरा-पूरा समारंभ रहता है। वह हमारी प्रकृति और हमारे मन के सहस्रविध आलोड़न-विलोड़न का फल है। वास्तव में हमारे शब्द मूल रूप से प्रतीक ही हैं और प्रतीकवादियों को यदि श्रेय दिया जा सकता है तो वह यह है कि उन्होंने भाषा की प्रतीकात्मकता (ध्वन्यात्मक या व्यंजनात्मक शक्ति) की ओर कवियों का ध्यान आकर्षित किया और कविता को हृदय-मन की गम्भीरतम अभिव्यक्ति बना दिया। विशुद्ध या कोशीय अर्थों में शब्दों की कल्पना ही असम्भव हैं। प्रत्येक शब्द प्रयुक्त होते ही पूर्वापरता, परम्परा, विशिष्ट भाव-संवेदना और नवीन उद्बोधनों का एक बृहद् संसार सामने लाता है। पूर्व संदर्भों या पूर्वानुभूत संवेदनाओं को उभार कर वह तात्कालिक अनुभूतियों

या संवेदनाओं को अपरिसीम गम्भीरता और मार्मिकता प्रदान करता है। इस चिन्तन-भूमि से देखें तो यह स्पष्ट है कि प्रतीकवाद सदैव ही काव्य और साहित्य का अंग रहा है और विशेष कर रोमांटिक काव्य और साहित्य में उसका व्यापक रूप से उपयोग हुआ है।

प्रतीकवादी स्कूल की सीमाओं का विवरण देते हुए ऐन्द्रे जीद ने इस प्रकार लिखा है: "प्रतीकवादी धारा की एक बड़ी लाँक्षा यह है कि उसमें जीवन के प्रति कुतूहल का अभाव है। एक मात्र 'वे ग्रिफ़िन' को छोड़ कर (और इसी से ग्रिफ़िन की रचनाएं ऐसी विशिष्ट हैं) शेष सभी निराशावादी, वीतरागी, भाग्यवादी "इस धरती के दुःखद अस्पताल से ऊबे" (लेफ़ार्गो के शब्दों में) हैं। यह समरस और असार्थक पितृदेश है। काव्य उनके लिए एकमात्र आश्रय है, जीवन की भयावह यथार्थता से पलायन के लिए विश्राम स्थल। उन्होंने सब ओर से आश्रय छोड़ कर उसी की शरण ली। उन्होंने प्रत्येक वस्तु को छलना समझा और निष्प्राण माना। प्राण धारण करने योग्य है, इसमें उन्हें सन्देह ही बना रहा। अतः यह आश्चर्य की बात नहीं है कि उन्होंने हमें कोई नया नैतिक दृष्टिकोण नहीं दिया। उन्होंने विग्नी के दृष्टिकोण से ही संतोष कर लिया यद्यपि उसे भी वे परिहास का रूप ही दे सके। उनकी नैतिकता सौन्दर्योन्मुखी थी। * इस कथन की समीक्षा करते हुए 'एक्जिलस केसिल' का लेखक लिखता है: कल्पनात्मक रसानुभूति मात्र के प्रति आग्रह होने के कारण बहिर्जगत के प्रति वीतरागिता का आदर्श, व्यक्ति का समाज से यह पलायन-भाव

One's great objection to the symbolist School is its lack of curiosity about life. With perhaps the simple exception of Viele Griffin (an it is this that gives his verse so special a savour) were all pessimists, renunciants resignationists, tired of the sad hospital which the earth seemed to them—our monotonous and unmerited fatherland as Laporgue called it, Poetryhad become for them a refuge, the only escape from the hideous srealitis, they threw-themselves into it with a desperate fervour. Divesting life as they did of everythigs which they cosidered more vain delusion, doubting whether it were worth living, it was not astonishing that should have supplied no new ethic—contenting them-selves with. that of Viginy which almost they dressed of in irony—but Only an aesthetic.

एक ऐसे दृष्टिकोण को जन्म देता है जो विग्नी के निराशावाद से भिन्न है (पृ० २५७ २५८) +

एक प्रश्न प्रतीकवादी काव्य के भविष्य के सम्बन्ध में भी उठता है। नई-नई खोजों के कारण कवि के लिए वाह्य अथवा अंतर्जगत को सीधी-सादी रेखाओं में बांधना कठिन हो गया है। परन्तु कवि के लिए निवेदन की समस्या और भी कठिन हो गयी है। क्या वह धीरे-धीरे कूट लिखने लगेगा? अथवा क्या विज्ञान कवि की भाषा या जीवनदृष्टि को इतना प्रभावित कर देगा कि उसके लिए अंतप्रांतीय और पारिभाषिक शब्दों की भीड़ में से उपयुक्त शब्दों को निकाल कर उन्हें प्रतीक के रूप में प्रयोग में लाना असम्भव ही हो जायगा? इसमें संदेह नहीं कि १८५२ ई० के बाद से यूरोपीय काव्य सूक्ष्म, अंतर्मुखी और दुर्ग्राह्य के प्रति आग्रही रहा और उसका शैलीगत विकास भी इतना जटिल और व्यक्तिगत रहा है कि वह कुछ ही मनुष्यों के रसोद्रेक की वस्तु रह गया है। धीरे-धीरे उसने अपनी रहस्यमयी कूट-शैली का निर्माण कर लिया है और वह उसी में कुण्डली मार कर बैठ गया है। परन्तु यह स्थिति बारबार नहीं बनी रहेगी। यह स्पष्ट है कि जीवन के सामाजिक पक्ष से निरपेक्ष हो कर अंतर्जगत के रहस्यों में कवि काफी डूब लिया है और कदाचित् वहां उसे अब अधिक कुछ शेष नहीं रह गया है। ज्वाइस और पुस्त के उपन्यासों में हम प्रतीकवाद को प्रकृतिवाद से समझौता करते पाते हैं और नए कवियों में अंतर्मन के साथ बहिर्जगत को देखने की भी प्रवृति है। देह और मन की भूख का अनन्य सम्बन्ध है, जो फ्राइड और मार्क्स को जोड़ता है। नए कवि ने इस सत्य को समझ लिया है।

इसमें सन्देह नहीं कि प्रतीकवादियों ने काव्य को बहुत कुछ दिया है। वास्तव में विज्ञान और दर्शन के क्षेत्रों में जो प्रगति हुई है, उसने काव्य क्षेत्र में नए अध्याय जोड़े हैं और नई संभावनाओं को जन्म दिया है। नए काव्यान्दोलनों में प्रतीकवाद के तत्व उसी तरह आत्मसात हो जायेंगे जिस प्रकार प्रतीकवाद में रोमांटिसिज्म के अनेक महत्वपूर्ण तत्वों का समावेश हो

+This ideal of renunciation of the experience of the outside world for this experience of the imagination alone this withdrawl of the individual from, society did however give rise to an attitude quite distinct from this stoicism of Viginy (Axils Castle, P. 257—258)

गया था, अथवा टेनीसन और आरनाल्ड के काव्य में रोमांटिसिज्म के साथ क्लासिकल तत्वों का विकासमान मिश्रण हमें दिखलाई पड़ता है। यदि प्रतीकवाद मानव की संवेदना को बढ़ाता है और उसे अपने प्रति अधिक से अधिक ईमानदार बनने की प्रेरणा देता है, तो भी उसका महत्व कम नहीं है। उसका ऐतिहासिक महत्व तो बना रहेगा ही।

: १० :

मार्क्सवादी काव्य-दर्शन

मार्क्सवादी विचारधारा ने इस शताब्दी के तीसरे दशक में काव्य को प्रभावित करना आरम्भ किया है, यद्यपि रूसी जन-क्रांति (१६२१) के बाद मार्क्सवादी साहित्य के सिद्धान्त स्थिर हो गए थे और साहित्य के क्षेत्र में उनका उपयोग भी हो रहा था। मार्क्सवादी विचारधारा साहित्य को वर्ग-संघर्ष की भूमि पर से देखती और अपने द्वन्दात्मक भौतिकवादी दर्शन को जीवन और काव्य के क्षेत्र में समान रूप से लागू करना चाहती है। मार्क्सवादियों के अनुसार काव्य का जन्म ही सामूहिक जन-चेतना के द्वारा प्रागैतिहासिक गीत-नृत्य-उत्सवों के लिए हुआ। ये गीत-नृत्य-उत्सव कृषि सम्बन्धी आयोजन थे, परन्तु इनके द्वारा जनों की सामूहिक चेतना कालान्तर में एक अधिक आर्कषक, काल्पनिक जगत का निर्माण करने लगी और इनकी स्वतंत्र सत्ता स्थिर हुई।

मार्क्सवादी समीक्षकों के अनुसार आरम्भ में कला श्रम से जुड़ी हुई थी, परन्तु बाद में जब वर्गों का निर्माण हुआ तो वह जनों की सामूहिक चेतना न हो कर अवकाशप्राप्त वर्ग की विशेष सम्पत्ति बन गई। इससे उनके रूपात्मक पक्ष का विकास तो हुआ परन्तु उसके प्राणों का स्पन्दन निर्बल हो गया। वर्गों की परिसमाप्ति पर ही कला अपने प्राकृतिक स्वास्थ्य को

पुनर्प्राप्त कर सकेगी। गीति-काव्य में अनुभूति की जो वैयक्तिक अभिव्यक्ति है, उसे भी मार्क्सवादी समीक्षक सामूहिक या समष्टिगत अभिव्यक्ति का प्रसार मानते है। कला-जगत वास्तव में सामाजिक (या समष्टिगत) भाव-संवेदन का जगत है। जिन शब्दों और प्रतीकों में अनेक युगों में मनुष्य अपनी अनुभूति को समान रूप से बांधने में समर्थ हुआ है, उन शब्दों और प्रतीकों को पहचान कर गीति-कवि उनके द्वारा समष्टि में भाव-संवेदन को जन्म देता है। परन्तु धीरे-धीरे वर्गों के बीच में खाईयां बढ़ती जाती हैं और पुराने प्रतीक नए वर्गों की अनुभूति देने में असमर्थ होते हैं। फलतः कवि सार्वभौमिक न हो कर व्यक्तिगत चेतना का प्रतीक बन जाता है। फिर भी यह स्पष्ट है कि समाज के उत्तरोत्तर जटिल विकास में काव्य सृजन की बराबर प्रेरणा रही है और विभिन्न सामाजिक उपलब्धियों ने विभिन्न प्रकार की काव्य-प्रक्रियाओं और काव्य-कोटियों को जन्म दिया है। काडवेल ने अपनी पुस्तक 'इलूज़न एण्ड रियलिटी (पृ० ९८-१०३) में समाज और कविता के विकास को अन्योन्याश्रित सिद्ध करते हुए अपनी कला-सम्बन्धी मार्क्सवादी मान्यताओं को पुष्ट किया है। पुस्तक के अंतिम अध्याय 'द फ्यूचर आफ पोइट्री' में हमें काडवेल के 'थीसिस' का सार इस प्रकार मिल जाता है :

१- कला की सीमाएं वास्तव में समाज की सीमाएं हैं।

२- बुर्जुआ-कला में कवि उस समाज के प्रति चेतन नहीं रहता जिसने उसका निर्माण किया हैं।

३- बुर्जुआ-समाज में हमें खण्ड या खर्व मनुष्य की ही उपलब्धि होती है, सम्पूर्ण मनुष्य की नहीं। फलतः काव्य भी खण्डित या खर्वित है।

४- साम्यवादी कविता में ही हमें कविता की पूर्ण उपलब्धि होगी, क्योंकि उसमें कवि अपने और वहिर्गत सत्य दोनों के प्रति पूर्ण रूप से जागरूक होगा।

मार्क्सवादी काव्य-समीक्षक काव्य को सामाजिक चेतना से सम्बन्धित करते हैं और काव्य को अन्तर्जीवन का प्रकाशन मात्र मानने वाले सिद्धान्त को बुर्जुआ सिद्धान्त मान कर अपना विरोध प्रकट करते हैं। उनका कहना है कि मनुष्य के आन्तरिक जीवन और संघर्षों को सामाजिक और ऐतिहासिक विकास के संदर्भ में से ही विकसित किया जा सकता है। उसे स्वतंत्र और निर्पेक्ष बना कर हम मनुष्य के व्यक्तित्व को खण्डित और रहस्यमय बना देते हैं। वास्तव में मनुष्य के अतर्जीवन और सामाजिक जीवन में अनिवार्य सम्बन्ध है, यद्यपि साधारणतः ये मानव-जीवन के दो विभिन्न और विरोधी

पक्ष बन गए हैं और इस द्वंध ने आधुनिक काव्य और साहित्य के लिए अनेक समस्याएं उत्पन्न कर दी हैं। ऐसा जान पड़ता है कि मनुष्य का अंतर्जीवन सामाजिक बहिर्जीवन से असंबद्ध स्वतं रूप से विकसित होता है और अपने चतुर्दिक्-प्रसरित सामाजिक परिवेश से उसे कुछ भी ग्रहण करना नहीं है। यह भी जान पड़ता है कि सामाजिक चेतना से अतचेतना का सम्बन्ध दुरागूढ़ और बहुत कुछ अकल्पित है। परन्तु परम्परा से दृष्टि हटा कर यदि हम जीवन को देखें तो यह द्वंध नष्ट हो जाता है। परोक्ष या अपरोक्ष में मनुष्य के विचार, उसके कर्म और भाव समाज के उस जीवन और संघर्ष में आबद्ध हैं जिसे उपयुक्त शब्द न मिलने के कारण हम राजनीति कह देते हैं। इस प्रकार मार्क्सवादी विचारधारा सामाजिक चेतना को साहित्य या काव्य का मूलाधार मानती है। इस विचारधारा का प्रारम्भ हमें चेरेन्शेवेस्की और दोरोल्युबो में मिलता है। बाद में टालस्टाय और गौर्की इस विचारधारा को आगे बढ़ाते हैं और अपने साहित्य के द्वारा इसकी पुष्टि करते हैं।

अक्तूबर-क्राँति के लगभग डेढ़ दशक के बाद हमें अंग्रेजी काव्य में सामाजिक जयघोष सुनाई पड़ता है। १९३१ में 'ह्यू मेकड्यारमिड' (सी० एम० ग्रीव०) ने 'फ़र्स्ट हिम टु लेनिन' नाम की कविता प्रकाशित कराई। इस कविता में हम पहली बार ही पश्चिमी काव्य को भौतिक धरातल पर उतरते हुए देखते हैं। इस कवि की एक दूसरी कविता 'द सीमलेस गारमेन्ट' में लेनिन और रिल्के की तुलना करते हुए आधुनिक कर्घघर के प्रतीक ग्रहण किए गए है :

Lenin was like that wi, working class life.
At home wi' ta,
His touse movement could na' been fewer,
The best weaver earth ever saw,
A he'd to dce wi' moved i tact
Clen, Clear, & exact ..

इस कविता में हमें पहली बार मध्यवित्तीय वर्गीय जीवन के उस असंतोष के दर्शन होते हैं जो मार्क्सवादी साहित्य और काव्य का प्राण है और वास्तव में जो प्रश्न कवि ने उठाए हैं वे आज भी काव्य में उठते दिखलाई देते हैं :

बाद में 'न्यू सिगनेचर' (१९३२) और 'न्यू कन्ट्रीज़' (१९३३) में हमें आडन, चार्ल्स मेजेस, आर० ई० बारनर और अन्य कवियों की मार्क्सवादी

रचनाओं के दर्शन होते हैं और १९३३ में स्पेन्डर (पोयम्स) और सेसिल डे लेविस (मैगनिटिक माउन्टेन) के प्रकाशन के साथ इस वृत्ति को स्थायित्व प्राप्त होता है। इन प्राथमिक मार्क्सवादी कविताओं पर १९२९ के आर्थिक विघटन का प्रभाव है और सोवियट रूस के प्रति बुद्धिप्राण जनता का बौद्धिक विनियोग भी स्पष्ट है। फलतः इन कविताओं के मार्क्सवादी अन्त दृष्टि और भाव-संवेदना का वह आत्यंतिक और प्रभावशाली रूप हमें नहीं दिखाई देता जो स्वयं रूसी काव्य में है। इस प्रकार मार्क्सवादी अंग्रेजी कविता के हम दो वर्ग कर सकते है। एक वर्ग ऐसे कवियों का है जिन्होंने मार्क्सवाद को जीवन दृष्टि के रूप में स्वीकार नहीं किया है और जो उसे केवल प्रेरणा या व्यक्तिगत धर्म के रूप में ग्रहण करते हैं और दूसरा वर्ग ऐसे कवियों का है जिन्होंने राजनैतिक स्थिति की भावात्मक अनुभूति प्राप्त की है और अपनी कवि-प्रकृति के माध्यम से उसे अपनी कविता में आत्मसात किया है। दूसरा वर्ग ही अधिक महत्वपूर्ण है क्योंकि स्थायित्व उसी में है। इस वर्ग का आदि कवि विल्फ्रेड ओवेन है। इस वर्ग के कवियों में हम स्टेफ़न स्पेन्डर और आर० ई० वारनर को भी रख सकते हैं। इस वर्ग के कवि परपीड़ा को रसात्मक अनुभूति नहीं बनाना चाहते। उनमें सच्ची करुणा और आक्रोश का वेग है। अपनी सीमा के भीतर से इन कवियों ने जो लिखा है वह साम्यवादी काव्य के उतना पास है जितना सम्भव था। यह स्पष्ट है कि आधुनिक पश्चिमी काव्य में मार्क्सवादी और प्रयोगवादी धाराएं एक ही कवि के काव्य के दो पक्षों के रूप में विकसित होती रही हैं और उनमें परस्पर बहुत आदान-प्रदान हुआ है।

कविता के क्षेत्र में राजनैतिक विचारधाराओं या सामाजिक अथवा आर्थिक समीकरणों का प्रवेश कहाँ तक उपादेय है, इस सम्बन्ध में अनेक तर्क-वितर्क हुए हैं। इस सम्बन्ध में व्यक्तिवादी (प्रतीकवादी) और मार्क्सवादी (सामाजिक यथार्थवादी) कलाकार दो भिन्न कैंपों में दिखलाई पड़ते हैं। परन्तु मूल बात है संवेदना की। कवि मनुष्य भी है, और कवि भी है। सचेतन मनुष्य के नाते वह अपने सामाजिक और राजनैतिक परिवेश के प्रति संवेदनाशील हो, तो इसमें कोई दोष नहीं है। वास्तव में प्रत्येक कवि के काव्य में हमें उभय पक्ष मिलते हैं और यह द्वैध व्यक्तित्व हमें रोमांटिकों के काव्य में बराबर मिलता है। कवि के भीतर का 'कवि' राजनैतिक विचारों से सीधे रूप से संपर्कित नहीं होता है, परन्तु उसके भीतर का 'मानव' उससे अनिवार्य रूप से सम्बन्धित होगा। फलस्वरूप, राजनीति कवि

की काव्य-संवेदना भी बन सकेगी और कुछ सीमा तक उसके काव्य को प्रभावित करेगी। यह बीच का समाधान है जो हमें डे लेविस में मिलता है। इस समझौते की भूमि पर पश्चिमी यूरोप में मार्क्सवादी काव्य पल्लवित हुआ है।

परन्तु यह निश्चय है कि कवि यदि राजनैतिक विचारों को ग्रहण कर रहा है, तो उसे उन्हें अपने व्यक्तित्व का अभिन्न अंग बना लेना होगा। कविता विशुद्ध विचार की भूमि नहीं है। कविता के विचार को भावना या अनुभूति से पुष्ट होना होगा। व्यक्तिगत अनुभूति में ही डूब कर विचार काव्य की इन्द्रधनुषीय प्रतिभा ग्रहण करता है।

सच तो यह है कि आज के कवि का व्यक्तित्व द्वंध से भरा हुआ है। उसकी व्यक्तिगत और सामाजिक चेतना में इतना अन्तर है कि दोनों के प्रति एक ही समय ईमानदार बने रहना उसके लिए असम्भव सा हो गया है। मनोविज्ञान और मनोविश्लेषण की नव्य खोजों ने उसे अपने अन्तर्जगत के प्रति अधिक जागरूक बना दिया है और वह अपने स्वप्नों और अपनी आकांक्षाओं को वाणी देने में प्रयत्नशील है। दूसरी ओर उसकी सामान्य अंतर्दृष्टि और कवि-प्रतिभा उसे समाज के बीच में उसकी एकांत स्थिति के प्रति जाग्रत बनाती है। वह देखता है कि जिस समाज में उसे रहना है, जहां से उसे अपने काव्य विषय और उपकरण इकट्ठे करना है, वह गल-सड़ गया है और ऐसे अस्वस्थ्य समाज में स्वस्थ व्यक्तित्व की कल्पना भी

'Are you equal to life as to the loom? Turnin' oot shoddy or what?

Claith better than man? D'ye live to the full,
Your poo'ers a' deliverly taught?
Or scamp a' thing else? Borde cloth's famous
Shall things O' mair consequence shame us?
... ...The womenfolk ken what, I mean.
Things maun fit like a glove,
Come Clean off the spoon—and syne.
There's time for life and love.
The mair we mak' natural as breath in the mair.
Energy for utter things we'll can spare.
But as long as we bide like this.
Nei'st to nae thing we ha'e, or miss......

भ्रामक है। फलस्वरूप उसमें संघर्ष का जन्म होता है : नए और पुराने का संघर्ष, व्यक्तिगत अनुभति और सामाजिक चेतना का संघर्ष, यह विचार -संघर्ष कि हृदय परिवर्त्तन से समाज-परिवर्त्तन सम्भव है या समाज परिवर्तन के द्वारा ही मानव के अंतर्जगत को परिष्कृत करना सम्भव हो सकेगा। आज कवि के लिए सीमाएं बांधना कठिन हो गया है। प्रकृति के सहप्रतः सौन्दर्य-पट और जीवन-मरण के शाश्वत प्रश्न आज भी उसके सामने उसी प्रकार बने हैं जिस प्रकार प्रत्येक युग के कवि के सामने थे। परन्तु ये चिरंतन काव्य-विषय हैं। ये कवि की चेतना के सर्वोच्च शिखरों को छूते हैं, परन्तु उनकी अग्रभूमि में जो प्रतिदिन की समस्याएं या समाज अथवा राजनीति के क्षणिक स्पन्दन हैं, उन्हें भी उसे अपनी चेतना में स्थान देना होगा। आज कवि इन दो संसारों के बीच दुराहे पर खड़ा है। कदाचित इसीलिए उसके लिए निभ्रांन्त रूप से गीत गाना कठिन है। एक पक्ष का कहना है कि व्यक्तिगत स्वप्नों और आकांक्षाओं के समुद्र में डूब कर कवि पलायनशील और अस्वस्थ सामाजिक शक्तियों का साथ दे रहा है, तो दूसरा पक्ष कहता है कि प्रौपेगेन्डा (प्रचार) काव्य नहीं है और जन-जीवन अथवा समाज को काव्य का विषय बना कर कवि अपने उच्चासन से डिग रहा है। दोनों पक्ष अतिवादी और पूर्वग्रही है। यदि हम कवि के व्यक्तित्व के माध्यम से देखें तो इन दोनों दृष्टिकोणों में समाधान दिखलाई पड़ता है। प्रौपेगेन्डा शब्द कुछ बुरा अवश्य है, परन्तु युगों-युगों से कवि नैतिक प्रश्नों को लेकर समाधान उपस्थित करता रहा है और श्रेष्ठ काव्य में प्रेरणा की शक्ति बराबर रही है। कभी उसका विषय वीरत्व था, या धर्म, या नीतिपरक जीवन। अब वह वर्ग हीन मानवता का उपासक हो गया है. तो बात कहां बदल गई ? इसी प्रकार यदि हम सूक्ष्मता से देखें तो कवि की कुंठाओं और खण्डित आकांक्षाओं एवं स्वप्नों के पीछे वे निरोध हैं जिनके लिए समाज व्यवस्था या राजनैतिक तंत्र उत्तरदायी हैं। कालान्तर में ये विरोध मनुष्य के सामाजिक व्यक्तित्व के अंग बन गए हैं और उसके निजी व्यक्तित्व में भी इन्हीं का प्रसार हैं। फलस्वरूप सामाजिक और व्यक्तिगत चेतनाओं को एकदम अलग कर देना असंभव बात है। दोनों एक-दूसरे के प्रति-बिंब हैं। स्वस्थ समाज-तन्त्र में स्वस्थ मानव का जन्म होगा, परन्तु आज अपनी कुंठाओं और अंतर्जगत की कदर्थनाओं को पहचान कर ही मनुष्य स्वस्थ हो कर नए और अधिकस्वस्थ समाज-तंत्र के निर्माण में क्रियाशील हो सकेगा। इस दृष्टिकोण में व्यक्तिपरक और साम्यवादी दोनों काव्यधाराओं

का समाहार हो जाता है। पिछले वर्षों के काव्य में इस समाहार के स्पष्ट चिन्ह दिखलाई देते हैं। इस दृष्टिकोण को हम सबसे स्पष्ट रूप में डे लेविस के इस कथन में अभिव्यक्त पाते हैं : 'समाजगत न्याय और कलात्मक सचाई के दो आदर्शों के बीज में आज के कवि को ऐसे भावी काव्य की नींव रखना है, जो न उस परम्परा के अयोग्य सिद्ध हो जिसे हमने दाय के रूप में प्राप्त किया है, और न उस समाज-स्वप्न के विपरीत पड़े जिसके प्रति हम में से कुछ आशान्वित हैं और जिसके लिए हम संघर्षशील हैं

(२)

काव्य में राजनीति या राजनैतिक वाद-विशेष का क्या स्थान है, यह एक मौलिक और चिन्त्य विषय है; जिसका आभास हमने पीछे दिया है। साहित्य के दो तत्व हैं—रूप और विषय, और श्रेष्ठ साहित्य में ये दोनों तत्व अखण्ड और अविभाज्य रहते हैं। हम कवि के बौद्धिक और भावनात्मक तत्वों, उसकी अन्तर्दृष्टि, उसकी नाटकीय संवेदना और उसकी कलात्मक जागरूकता को एक साथ ग्रहण करते हैं और इन विभिन्न तत्वों के अनन्योन्याश्रित सम्बन्ध और संगम के द्वारा ही कवि हमारे सौन्दर्य-बोध और हमारी बौद्धिक मनस्विता को प्रभावित करता है। गीत-काव्य (लिरिक) में इस संगम का सर्वोत्कृष्ट रूप हमें मिलता है। गीति-काव्य के विषय और रूप के अलग-अलग अध्ययन से हम उसकी प्रभावगत विशेषता तक नहीं पहुंच सकते। सॉनेट की तुकान्त-पद्धति और गीत के अनुबंध का अध्ययन काव्य के अध्येताओं और विद्यार्थियों के लिए भले ही उपयोगी हो, इनके द्वारा काव्य की आत्मा तक पहुंचना असंभव बात है। शब्द, अर्थ, स्वर लय, व्यंजना सभी मिल कर काव्य की अविभाज्य इकाई का निर्माण करते हैं और अलग-अलग उनमें जीवन का स्पन्दन नहीं दिखलाई पड़ता। गीति-काव्य में यह अविभाजकता अनिवार्य है। काव्य के अन्य प्रकारों में विषय और रूप का यह एकीकरण उतना आवश्यक नहीं है। नाट्य-काव्य और प्रबन्ध-काव्य में कथा का तत्व अलग किया जा सकता है, नीति-काव्य में हम उपदेश-तत्व को अलग से परख सकते हैं, प्रकृति-काव्य में पर्यवेक्षण का एक अलग तत्व रहता है, जिसे रूपगत अध्ययन से अलग देखा जा सकता है। इन काव्य-प्रकारों के रूपात्मक अध्ययन को हम किसी सीमा तक विषयगत अध्ययन से अलग कर सकते हैं। गद्य में विषय और रूप की रेखाएं स्पष्ट ही बहुत कुछ स्वतंत्र रह सकती हैं। कवि की भाव-संवेदना में बहिरंग (रूप) और अन्तरंग (विषय) एक प्राण बन जाते हैं। भावना की अतिशयता के न

रहने पर कवि पद्य की अपेक्षा गद्य के माध्यम को ही अधिक स्वीकार करता है, जहां वह अपनी बात को तारतम्य और स्पष्टता से कह सकता है। यहां अन्विति अपेक्षित है, ध्वनि लक्ष्य नहीं है।

राजनैतिक काव्य यदि काव्य है तो उसमें विचार-तत्व या भाव-विशेष को कवि की भाव-संवेदना में रंग जाना होगा और जहाँ तक संभव हो सके, अन्तरंग और बहिरंग के उभय पक्षों को पास-पास आ जाना होगा। साधारणतः 'वादीय' काव्य तर्कमूलक रहेगा, उसका भावना पक्ष भी तर्क पर आधारित होगा, परन्तु राजनैतिक काव्य का एक अंग देश प्रेम का काव्य है, जो तर्क पर नहीं, भाव-बोध और गौरवीकरण पर आश्रित रहता है और जिसमें वक्तृता के तत्वों का आधिक्य है। राजनैतिक काव्य में दो महत् तत्वों का समावेश होना आवश्यक है—उत्कृष्ट भावावेश और उत्कृष्ट विचार भूमि एवं कवि का व्यक्तिगत स्फुरण। जहां इन तत्वों का अभाव है, वहां रूपात्मक विशेषता अथवा बौद्धिक जागरूकता मात्र से काव्योत्कृष्टता की उपलब्धि असंभव है।

राजनैतिक काव्य के अन्तर्गत ऐसे काव्य का भी बोध होता है जिस में सामाजिक चेतना का प्राधान्य है। 'राजनीति' और 'सामाजिकता' एक तत्व नहीं हैं, परन्तु वे सहधर्मी हैं। वास्तव में अधिकांश साहित्य में किसी सीमा तक सामाजिक तत्व स्पष्ट ही दिखलाई देता है। कहीं यह सामाजिक वस्तु-स्थिति का चित्रण मात्र है, जैसे गोल्डस्मिथ और क्रेब के साहित्य में, कहीं उनमें सामाजिक व्यवस्था से स्पष्ट ही असंतोष प्रतिभासित है, जैसे वर्त्तमान साम्यवादी काव्य में। वास्तव में साहित्य में व्यक्ति-चेतना भी सामाजिक चेतना से छन कर आती है और वह या तो उससे सहमति प्रगट करती है या असंतोष। इन व्यापक अर्थों में समाज और राजनीति समस्त साहित्य की प्रेरणा हैं, परन्तु राजनैतिक साहित्य के अंतर्गत हम उसी साहित्य को लेते हैं, जहां यह प्रेरणा मूलगत न हो कर अधिक मुखर और सचेष्ट है। प्रचारात्मक होने से कोई रचना साहित्य नहीं रहती, ऐसा कहा जाता है। परन्तु साहित्य का मूल तत्व ही प्रेरणा है और प्रेरणा के सम्बन्ध में कवि की जागरूकता ही काव्य को प्रचारात्मक रूप दे सकेगी। फलतः प्रचारवादी होने से रचना लाँछित नहीं हो जाती, यदि उसमें विचार और भाव की उच्च भूमि हमें प्राप्त है।

राजनीति और साहित्य के समान तत्वों का उल्लेख करते हुए प्रसिद्ध लेखक जी० डी० एच० कोल ने लिखा है—'निःसन्देह राजनीति क्षुद्र

है, परन्तु क्षुद्र और सामान्य में बहुत बड़ा अन्तर है। महान साहित्य का बहुत बड़ा भाग जीवन की सामान्यतम और सरलतम वस्तुओं से सम्बन्धित रहता है, और अधिकांश श्रेष्ठ राजनैतिक साहित्य ठीक उन्हीं मन्तव्यों को लेकर विकसित होता है जो राजनैतिक तर्क-वितर्क को छोड़ कर इन सामान्य और सरल चीजों को छते हैं। महान साहित्य में सुन्दर शब्द चाहिएं, तो महान विचार और महान संवेदन भी चाहिएं। परन्तु यह महानता बहुधा ऐसी ही छोटी चीजों में मिलती है। न यह ठीक है कि हम सामयिकता को सदैव क्षुद्र ही मान लें। यह सच है कि बहुधा सामयिक समस्याएं मर जाती हैं और जिन शब्दों में उनकी अभिव्यक्ति हुई थी वे निष्प्राण बन जाते हैं। परन्तु कभी-कभी सामयिक दृष्टि से लिखी हुई रचना भी टिकाऊ सिद्ध होती है, भले ही उसके संदर्भ को हम भूल जाएं। (पालिटिक्स एण्ड लिट्रेचर, पृ. १५-१६) राजनैतिक साहित्य, साहित्य बन कर ही लोकप्रिय बन सकता है और जीवित रह सकता है। मात्र ऐतिहासिक और दार्शनिक रह कर उसके जीवन की सम्भावना नहीं है। शर्त यह है कि वह अपने लेखक के व्यक्तित्व से संम्पूर्ण रूप से आपूरित हो। सामान्य रूप से जनता और फिर साहित्य-समाज भी उहापोह से अधिक व्यक्तित्व को मान देते हैं। नाटक और उपन्यास हम पर उस समय स्थाई प्रभाव छोड़ते हैं जब उनमें महान विचार और महान संवेदन व्यक्तिगत अनुभूति का रूप धारण कर लेते हैं। पुरातन युगों के विचारों और भाव-संवेदनों का रूपकीकरण इतिहास को सप्राण बना देता है। सब से अधिक प्रभावशाली कविता वास्तव में स्वगत रूपक ही है। उसमें स्वयं कवि ही बोलता है। इसकी अपेक्षा अधिकांश राजनैतिक साहित्य सूक्ष्म और वायवी रहता है। यह वायवी तत्व सार्वभौमिक बन कर ही चिरंतनता प्राप्त करता है, परन्तु उसे यह सार्वभौमिकता केवल महान कलाकार ही प्रदान कर सकते हैं। अन्य लेखक तो अपने व्यक्तित्व के बल से ही उसे जीवन दे सकेंगे। (पा. लि. पृ. १६-१७) इन अवतरणों से यह स्पष्ट है कि साहित्य के अपने उपकरणों से ही राजनैतिक साहित्य स्थायित्व को प्राप्त करता है। ये उपकरण हैं :

१- जीवन की सामान्य और सरल अभिव्यक्ति

२- महान विचार और महान संवेदन

३- सुन्दर शब्द

४- रचयिता की व्यक्तिगत अनुभूति

५- रचयिता का व्यक्तित्व

जहां ये उपकरण हैं, वहां रसात्मकता अक्षुण्ण है। श्रेष्ठ राजनैतिक साहित्य में ये उपकरण अनिवार्य रूप से रहते हैं। इसके विपरीत, साहित्य साहित्यकार के व्यक्तित्व, विषय एवं अभिव्यंजना के माध्यम से समाज से जुड़ा रहता है। ऐसा होना अनिवार्य है। मनुष्य सामाजिक प्राणी है। कोल के ही शब्दों में: "मनुष्य समाज का सहारा अनन्यतः चाहता है। उसके अन्यतम कार्यकलाप समाज के रूप-रंग से रंजित रहते हैं। इसीलिए चाहे साहित्य कितना ही व्यक्तिगत हो, उसमें सामाजिक पृष्ठभूमि कुछ न कुछ रहती ही है। यह आवश्यक नहीं है कि यह पृष्ठभूमि कलाकार के मन में चेतन रूप से उपस्थित हो, परन्तु सामान्य रूप से यह उसके विचारों को प्रभावित करती है और उसकी समस्त रचनाओं में ओतप्रोत रहती है। यह पृष्ठभूमि सूक्ष्म है या व्यापक, इससे उसकी रचना की उत्कृष्टता पर विशेष प्रभाव नहीं पड़ता। परन्तु ऐसी पृष्ठभूमि रहने और न रहने से बड़ा अंतर हो जाता है। (वही पृ. २०) इस विचारधारा में साहित्य और राजनीति के उभय पक्षों का समन्वय है। स्वयं राजनैतिक लेखकों और सामाजिक पृष्ठभूमि ले कर चलने वाले कलाकारों ने इस समन्वय की आवश्यकता का अनुभव किया है। पिछले कुछ वर्षों में 'कला कला के लिए' नारे के स्थान पर 'कला जीवन के लिए' 'नारा' उठा है। नई धारणा की अभिव्यक्ति कोल के इन शब्दों में सुन्दर रूप से हुई है: बहुत सा प्रचारवादी साहित्य बुरा है, इसी तरह बहुत सा प्रेमकाव्य भी श्रेष्ठ साहित्य की कोटि में नहीं आ सकता। प्रति सप्ताह छकड़े भर उपन्यास प्रकाशित होते हैं। उन्हें साहित्य कौन कहेगा ? यदि लेखक को कुछ कहना है, जिसमें या तो विचारों की महानता हो या अनुभूतियों की, या दोनों की; और अभिव्यंजक भाषा में कहता है, तो वह निःसन्देह साहित्य का सृजन करता है। चाहे उसका उद्देश्य अपने विचार या अपनी संवेदना को दूसरे को देना हो, या दूसरे को प्रेरणा दे कर उसे कार्यक्षेत्र में अवतीर्ण करना हो, इससे रचना की साहित्य-कोटि में विशेष अन्तर नहीं पड़ता (वही, पृ. २५)।

: ११ :

इस्लामी काव्य-समीक्षा

अन्य काव्य-समीक्षाओं की भांति इस्लामी काव्य-समीक्षा भी काव्य की प्रकृति और कवि की सर्जन शक्ति पर विचार करती है। इन्हीं दोनों पक्षों के समाहार से काव्य-सिद्धान्त का निर्माण होता है और व्यावहारिक रूप से काव्य-सर्जन-प्रक्रिया में इन्हीं का प्रसार है। इन मूल धारणाओं का हम दो शीर्षकों के अन्तर्गत अध्ययन कर सकते हैं। (१) काव्य-सर्जन में कल्पना का स्थान और (२) काव्य के अंतर्पक्ष (भाव-पक्ष) और अभिव्यंजना-पक्ष के पारस्परिक सम्बन्ध पर विचार।

मध्ययुगीन इस्लामी विचार-धारा पर अरिस्टॉटल के मनोविज्ञान का गहरा प्रभाव था जिसमें कल्पना को अपेक्षाकृत गौण स्थान प्राप्त था और उसे पाशविक प्रवृत्तियों के साथ रखा गया था। धार्मिक दृष्टि से भी मनुष्य की सर्जनात्मक प्रतिभा की इस हीनता का समर्थन होता था। अरस्तू ने तर्क को विशेष श्रेय दिया था और इस्लामी विचारकों ने कुछ पशोपेश के बाद इसे स्वीकार भी कर लिया था। इससे एक लाभ तो यह हुआ कि परवर्त्ती युगों के बौद्धिक जागरण के लिए मनोभूमि तैयार होगी, परन्त साथ ही कवि के भावविस्फोट को अनुत्तरदायी मान कर

सन्देह की दृष्टि से देखा गया।* बौद्धिक युग कला-क्षेत्र में सर्वोन्मेष के युग नहीं रहे हैं। डेकार्ट के बाद यूरोपीय कविता में भी जड़ता के चिन्ह स्पष्ट रूप से दिखलाई देते हैं। इसके विपरीत यह स्पष्ट है कि रहस्यवाद की इस विचारधारा ने, कि मनुष्य स्वयं ऊपर उठ सकता है और अपनी चरम अनुभूति को अपने व्यक्तिगत प्रतीकों और अपनी विशिष्ट मूर्त्तिमत्ता के द्वारा प्रगट कर सकता है, रहस्यवादीय को एक हद तक सप्राण और सचेतन बनाए रखा। जिस समय अरबी साहित्य की अन्य शाखाएं सृजनात्मक प्रेरणा खो चुकीं थीं, उस समय भी रहस्यवादी काव्य आत्माभिव्यंजना के नए-नए रूप विकसित कर रहा था।

इस्लामी विचारक 'इलहाम' में विश्वास करते है। अधिक से अधिक वे यह मानते हैं कि वस्तुगत तथ्यों के आधार पर ही दैवी चेतना प्राप्त की जा सकती है : साथ ही मानव की सृजनात्मक प्रतिभा के प्रति वे अविश्वासी थे। उनके लिए दैवी प्रेरणा पैग़म्बर की प्रकृति थी, सामान्य मनुष्य को उसकी उपलब्धि संभव नहीं थी। फलस्वरूप प्रकृति को उन्होंने सर्वोपरि नहीं रखा और मौलिकता एवं आत्माभिव्यंजना की विस्तृति को साहित्य के उद्देश्य से दूर ही रखा। उन्होंने साहित्य को समाज का विचार-कोष (दीवान) ही कहा और उसके दो उद्देश्य स्थापित किए : शिक्षा और आनन्द। पैग़म्बर के शब्दों में 'सिह्र' (चमत्कार) और 'हिक्म' (तत्वज्ञान) की अवस्थिति थी। परन्तु बाद के सिद्धान्तवादियों ने साहित्य के आनन्द-पक्ष को शिक्षापक्ष से कहीं ऊंचा और महत्वपूर्ण स्थान दिया।

पश्चिम की भांति इस्लाम में भी कविता और नीति के विरोध का प्रश्न उपस्थित हुआ। काव्य अनीतिमूलक है, इस मान्यता को जिस प्रकार इंग्लैंड में सर फ़िलिप सिडनी ने ग़लत सिद्ध किया (कि कविता असत्य पर आश्रित होने के कारण अनैतिकता और असंतुलन की जननी है,) उसी प्रकार अरबों को भी कविता के पक्ष का समर्थन बलपूर्वक करना पड़ा। मौलिकता के प्रति अविश्वास के कारण सनातन अथवा परम्परा के प्रति मोह बढ़ा। परम्परा अभिव्यंजना के साधनों और रूपों को नियमबद्ध करती है। इसी से परम्परानिष्ठ समीक्षक नवीनता या मौलिकता के पक्ष में केवल यह चाहता है कि परम्परा-बद्ध प्राचीन सांचे को ही मांजा-संवारा जाए और

---

*१८वीं शती के फ्राँस के विचारकों और समीक्षकों की कला दृष्टि से तुलना कीजिए। फ्रांस में सेंट एवरेमां (मृ० १७०३) ने तर्क और काव्य के परस्पर विरोध का स्पष्ट रूप से निरूपण किया (Vide R. Bray, La formation de La doctrine classique en France —1927, P 121)

कवि का शब्दकोष उद्देश्य और छन्द की आवश्यकताओं द्वारा सीमाबद्ध रहे। इब्नेकयूम-अल-जाजिय (मृ० १३५०) ने 'इख्तिरा' (अन्वेषण) को ८४ मा वीय विशेषताओं में से ३१ वां अत्यंत गौण स्थान दिया है।

व्यक्तिगत सृजन-प्रतिभा और अमानवीय प्रेरणा को गौण मानने के कारण कलाकृति के निर्माण के मूल में कवि-शिक्षा की विस्तृत आयोजना रखी गई। कवि पण्डित हो और समसामयिक समस्त ज्ञान उसके लिए हस्तामलकवत हो। यही काफ़ी नहीं कि वह अपने कवि कर्म के परम्परागत नियमों और रूढ़ियों से परिचित हो, उसका अध्ययन सर्वगत और पूर्ण हो, वह भाषा का पण्डित हो, क्योंकि उसकी कृति को तथ्यों और रूपगत-भाषागत पूर्णता पर ही आँका जाएगा। लेखक के पाण्डित्य पर यह बल अलेक्जंड्रियन कवियों, रेनेसा के मानवतावादियों, उनके उत्तराधिकारियों और १६-१७वीं शती के मर्यादावादियों में समान रूप से मिलता है। यूरोप में जैसे-जैसे साहित्य में पाण्डित्य का स्थान गौण होता जाता है और कल्पना का महत्व बढ़ता जाता है, वैसे-वैसे मनुष्य की सृजन-शक्ति के प्रति विश्वास अधिक विकसित होता जाता है और रचना को मनोवैज्ञानिक अभिव्यंजना के लिए महत्व दिया जाता है। इस प्रकार साहित्य सम्बन्धी दृष्टि ही बदल जाती है।

इस्लामी कला-चिन्ता सौन्दर्य को जिस रूप में ग्रहण करती है वह भी मूल रूप में अरिस्टॉटल के सौन्दर्य-सिद्धान्त से भिन्न नहीं है। इस विचार धारा के अनुसार (रूप) फ़ार्म अपने में पूर्ण इकाई है जो विषय से सब प्रकार अबद्ध है और सौन्दर्य के उपकरण को सामान्य भाषा के ताने-बाने के ऊपर मीनाकारी के रूप में स्थापित किया जा सकता है।[1] दूसरे शब्दों में सौन्दर्य अलंकार-मात्र है जो विषय अथवा अंतर्पक्ष के साथ अलग से जुड़ा है। व्यावहारिक रूप से अरबी साहित्य-समीक्षा के मूल में वही भावना है। विषय (मआनी) को अनेक रूपों में उपस्थित किया जा सकता है। उदाहरण

---

[1]Vide B. croce, Aesthetics, trains, D. Ainslie 2nd Edition, London, 1929, P.427 Compare the Arabic idea of the TAHBIR, This is the view that form is an entity by itself which is somewhat arbi trarily joined to the content and that the element of beauty which lends more pleaure to one and whose absence detracts pleasure from another passage consists in something additional superunforced upon the canvas of ordinary speech like an embroidery.

के लिए, अल कज़्बीनी (मृ० १३३८) ने 'इत्मुलबलाग़' की परिभाषा देते हुए यह बतलाया है कि इनके द्वारा विभिन्न अलंकार, शिल्पविधान आदि की शिक्षा दी जाती है जो विभिन्न प्रक्रिया मात्र हैं।

विषय और अभिव्यंजजा के सम्बन्ध में यह दृष्टि जिसमें सौन्दर्य को बाहर से जुड़ी वस्तु मान लिया जाता है, जिसमें कलाकारिता की प्रधानता है, मौलिकता या नवीनता का यही अर्थ लेती है कि परम्परागत विषयों को नए परिष्कृत संस्करण में उपस्थित किया जाय और साहित्यिक प्रगति का अर्थ है ऐसे नवीन संस्करणों की एक शृंखला। इसका स्पष्ट फल यह हुआ कि अभिव्यंजना के क्षत्र में सूक्ष्मता और आलंकारिता का महत्व बढ़ा। नया कलाकार विषय के विभिन्न अंगों या तत्वों में अंर्तहित नए सम्बन्धों का अन्वेषण करता है। उसकी अभिव्यंजना में उस समय तक जिस संम्भावना का विकास नहीं हुआ था उस पर विचार करता है, और वह अपनी रचना द्वारा श्रोता या पाठक को वह आनन्द देता है जो हमें क्लिष्टता के परिहार और धारणाओं के अप्रत्याशित साम्य के बोध से मिलता है। रूपक अलंकार पर विचार करते हुए अरस्तु और अरबी पण्डितों ने इस आनन्द को ही काव्य का मूल माना है।[2] दोनों ने उसे अलंकारों की सम्राट कहा है।[3]

इसी दृष्टिकोण को सामाने रख कर इस्लामी कवि-कलाकार 'अजब' (अद्भुत) 'नादिर' (असामान्य) और 'गरीब' (वैलक्षण्य) को लक्ष्य के रूप में ले कर चलता है।[4] इन तीन तत्वों में से भी 'ग़रीब' तत्व के सम्बन्ध में मतभेद है। कुछ समीक्षकों का कहना है कि कुरआन की विशिष्टता 'ग़रीबः' में है और यह तत्व सम्पूर्णतयः माननीय है. परन्तु दूसरा वर्ग इस तत्व को असनातन और अवाँछनीय समझता है। पहला वर्ग सनातन विषय के साथ अभिव्यंजना के सनातन रूप को ही स्वीकार करना चाहता है। दूसरे का यह कहना है कि सनातन विषय को असामान्य अभिव्यंजना देकर ही कवि अपनी मौलिकता और साधना को सिद्ध कर सकता है। यदि इतनी भी स्वतंत्रता कवि को नहीं है तो उसका अस्तित्व ही व्यर्थ है। वास्तव में ये तीनों तत्व एक दूसरे के पूरक हैं।

युरोपीय 'सेसेन्टिज्मों' (Secentismo) में जिसे तोफेनिन ने अरिस्टाटल के सिद्धान्तों की परिणति[5] कहा है यही दृष्टिकोण अपनाया गया है। इसमें काव्य के दो प्रमुख तत्व 'एक्यूटेज़ा (Acutezza) अर्थात् स्वाभाविकता और 'कन्सीटिस्मो (Conceittismo) अर्थात्

चमत्कार माने गए हैं जिनमें पहला—कारण है, दूसरा कार्य और दोनों मिल कर 'अद्भुत' रस (Maraviglia, the feeling of wonderment and suspense) का निर्माण करते हैं जो उत्तरकालीन अरबी साहित्य का लक्ष्य है। स्वयं अरिस्टाटल ने 'पोइटिक्स' में दुखान्त नाटक और उससे भी अधिक महाकाव्य में 'अद्भुत' के महत्व को स्वीकार किया है।[6] और बाद में उनके समीक्षकों ने उसका व्यापक रूप में विस्तार किया।[7]

पूर्व और पश्चिम में जहां भी भावपक्ष और कला-पक्ष को दो विभिन्न और स्वतंत्र वस्तुएं माना गया है, काव्य-चिन्तन का विकास एक ही रूप में दिखलाई देता है। ये प्रवृत्तियां हमें पांचवीं-छठी शताब्दी के ईसाई साहित्य, मध्ययुग के अरबी और फारसी साहित्य में एवं सत्रहवीं शताब्दी के यूरोपीय लेखकों में समान रूप से मिल जाती हैं। पहली-दूसरी ईसा शताब्दि के लेटिन साहित्य में भाव-पक्ष और कला-पक्ष का यह विच्छेद स्पष्ट है। वास्तव में बारहवीं शताब्दी के निजामी (मृ० १२०३) और सत्रहवीं शताब्दी के जी० बी० बेसिल (मृ० १६२५) में सूर्योदय और सूर्यास्त के वर्णन एक ही प्रकार के उपमानों में उपस्थित किए गए हैं। सच तो यह है कि पूर्वी और पश्चिमी चमत्कार-शैली, विशेषतः प्राकृतिक वर्णन के क्षेत्र में, एक ही पद्धति पर आश्रित है और उसमें प्रयुक्त समान उपमानों की एक लम्बी तालिका उपस्थित की जा सकती है।

इस्लामी समीक्षा-शास्त्र के ये दो मूलभूत सिद्धान्त इस मध्ययुगीन जीवन-चिन्ता के फल हैं। इस जीवन-दर्शन के अनुसार संसार एक अगतिशील इकाई है, जिसमें प्रत्येक वस्तु का अपना स्थान और महत्व है, और उसका

[2] Vide Aristotle, RHETORICS III: IO; Fawa' id P. 80

[3] Vide croce, Op.cit, P 427.

[4] 17th century writers; like the Arabs consider as marvellous any thing which evokes admirations through surprise including to quote Chapelain, Preface a 'L' Adonis (1623)

[4] "La richness due language,

[5] Vide G. Toffanin, La Fine dell' unaneismo, Turin, 1921

[6] Vide, poetics XXIV : 15 (1460 a)

[7] Vide Paolo Beni, commentarri in Aristotles poetician Padova 1613, P 4. He excellently exposseds the theory of ornate poetry as it would be applicable alike to scenntistic, late Arabic or anyother concetitistic literature. The passage is quoted by Toffanin, op.cit P 235-236.

स्थान निश्चित और अपरिवर्तनशील है। प्रत्येक वस्तु वही होकर जो वह है, अपने महत्व को प्राप्त करती है। क्राँति अथवा परिवर्तन इस नियति-चक्र के विपरीत जान पड़ता है। यह सृष्टा की सृष्टि को छोटा करना है। फलतः प्रत्येक साहित्यिक कोटि या रूप एक स्वतंत्र इकाई है जिसके विकास के अपने नियम हैं और रचना से अलग उसकी सूक्ष्म एवं स्वतंत्र सत्ता है। इनकी सुरक्षा साहित्यिक का धर्म है। इस प्रकार कवि और साहित्यकार परम्परा से बन्धे हैं। यह रूढ़िवाद, चाहे वह दार्शनिक हो या मनोवैज्ञानिक "रूप" के प्रति श्रद्धा-भावना को विकसित करता है और उसे स्थायीत्व एवं स्वस्थता देता है। उसका उपयोग जितना सुविधाजनक है उतना ही उपयुक्त भी है।

यह स्पष्ट है कि इस्लामी समीक्षा-शास्त्र क्लासिकल मान्यताओं को लेकर चलता है और इसका मुख्य कारण यह है कि उसमें प्लेटो की विचार धारा का समाहार हो सका है। पिछली पन्द्रह शताब्दियों में जहां गीतात्मक अभिव्यंजना या रोमांटिसिज़्म का विकास हुआ है, वहां प्लेटोनिज़्म किसी न किसी रूप में अवश्य उपस्थित है। अरबी और फारसी रहस्यवाद में नव्य-अफलातुनी विचारधाराओं और दृष्टिकोणों का योग हुआ है, जिनके मूल में यह विचार है कि मनुष्य में दैवी संभावनाएं पुंजीभूत हैं और जो सर्वभक्षी अनुभूति को प्रेरणा-स्रोत और अभिव्यंजना का विषय मानते हैं।

ह्रास-युगों के मर्यादावादी आलोचक विषय की महत्ता के विरुद्ध नहीं जा सके और चमत्कारवादिता का साहित्य पर राज रहा। अरबी समीक्षकों की भी यही स्थिति है। उन्होंने अलंकृति के अतिरेक, निम्न रुचि और शब्दाडम्बर के प्रति विरोध किया। परन्तु वे असफल रहे, क्योंकि उन्होंने इस विचार से आरम्भ किया था कि सौंदर्य वाह्यारोप है। शैली-वैशिष्ट्य को उन्होंने विषय पर लगाई हुई अधिक या कम वार्निश के रूप में ग्रहण किया है। वे कलाकृति को निरुक्तिकार की दृष्टि से देखते थे और रूप साम्य (Structural conformity) को उसकी अनिवार्य शर्त मानते थे। यह स्पष्ट है कि अरब समीक्षकों ने साहित्यगत सौंदर्य पर अधिक विचार नहीं किया, अर्थात् उन्होंने सौंदर्य-शास्त्र के विकास की कोई चेष्टा नहीं की। यह प्रामाणिकरूप से कहा जा सकता है कि अरबी समीक्षा व्याकरण के नियमों से प्रेरणा प्राप्त करती है और समीक्षक बहुधा वैयाकरण या भाषाविद् हैं। इस प्रकार समीक्षा पर रूढ़िवादिता का राज्य

रहा। यह समीक्षकों की जीवादृष्टि और उनकी उन दो स्थापनाओं का स्वाभाविक विकास था।

इस्लामी समीक्षा-दृष्टि के विकास में उन 'कातिबों का भी हाथ है। जिनका सम्बन्ध शासन-संस्थाओं से था। वे र जकर्मी थे और पण्डितवर्ग के लोग थे। राजनीति तथा राज-व्यवहार को वाणी देने में उनकी अलंकृत शैली का उपयोग होता। फलतः निरन्तर वृद्धिमान अलंकृत-प्रधान चमत्कार शैली का उपयोग हुआ और वह प्रशंसनीय भी रहा। सरकारी क्षेत्रों में कातिब की मान्यता बढ़ने के साथ उसकी शैली भी सर्वस्वीकृत हुई। इस कातिब वर्ग को हम मध्यवित्त वर्ग से सम्बन्धित कर सकते हैं। उस युग की काव्य-सम्पत्ति का एक बड़ा भाग इसी वर्ग द्वारा आया और उसने अरबी काव्य को गद्यात्मक और मंचीय (Orational) रूप दे दिया। इन कुत्ताबों की तुलना हम यूरोपीय ह्यूमिनिस्टों से कर सकते हैं। अन्तर केवल यह था कि कुत्ताबों ने अपने समय के दृष्टिकोण को बदलने का कोई प्रयत्न नहीं किया, जबकि ह्यूमिनिस्ट चर्च के स्थान पर प्राचीन क्लासिकल दृष्टिकोण को महत्व देने के लिए प्रयत्नशील रहे। वास्तव में उनके पीछे ग्रीक-लेटिन का साहित्य था। अरबी का पुराना साहित्य उपेक्षणीय था। बाद में यूरोपीय ह्यूमिनिज्म विज्ञान के जागरण और व्यक्तिगत चेतना की स्वीकृति के कारण क्रान्तिकारी सिद्ध हो सका। इसके विपरीत इस्लामी दृष्टिकोण बराबर मध्य युगीन बना रहा। संवेदनाओं का जो परिष्करण अभिजात्य वर्ग से सम्बन्धित है, वह केवल नादानुसन्धान और भाषातत्व तक सीमित रहा। १००० ई० के बाद अब्बासी युग की समाप्ति के साथ इस्लामी साहित्य प्रेरणा परम्परित तत्वों में जड़ीभूत हो गई। एक ही विषय की अनेक रूपों में पुनरावृत्ति हुई और मूर्त्तिमत्ता के क्षेत्र में नई उड़ान का स्थान शाब्दिक इन्द्रजाल, चमत्कार-योजना और नियमबद्धता ने ले लिया। एक तरह से हम इसे इस्लामी काव्य-चिन्तन का स्वाभाविक विकास कह सकते हैं।[8]

यह स्पष्ट है कि इस्लाम कवि-कल्पना को स्वतंत्र और सर्वोच्च

---

[8]Variation of identical theams, indulgence in word bound rather than vision of imagery, clinging to rules and patterns surrender to wit—this is the fate growing out of its fundamental structure that overtook Arab belles letters as soon as the creative impulse of that spectacular period (Abbasid period) towards the close of the million......

(T. Cuyler young, Near, Eastern culture & society' P 64)

मानवीय प्रेरणा नहीं मान सका। यद्यपि इस्लाम के पैगम्बर काव्यप्रतिभा के प्रशंसक थे, उन्होंने समसामयिक कवियों और उनके काव्य-विषयों की निन्दा ही की है, मुख्यतः इसलिए कि कुछ लोग कुरान को भी काव्य मान लेते थे। और कुरान की शिक्षाओं एवं कवि-कल्पनाओं में अंतर नहीं रख पाते थे। कुरान के एक सूरे में उन्होंने स्पष्ट कहा है—जो कवियों के अनुगामी विपथगा हो जाते हैं, लक्ष्यहीन होकर वे प्रत्येक घाटी में भटक जाते हैं। वे जो कहते हैं उसका कोई अर्थ नहीं होता।[9] इस अवतरण से यह स्पष्ट है कि पैगम्बर के अनुसार कवि की रचना और कुरान में मुख्य अंतर यह था कि कवि अपने आदर्श पर चलने में असमर्थ थे और कुरान का लक्ष्य ही यह था कि लोग उसके अनुसार आचरण करें और ऊपर उठें। कवि की वाणी और आचरण में ऐक्य नहीं था, पैगम्बर की "कथनी" और "करनी" समान थी। यह दृष्टिकोण काव्य को अनीतिमूलक और अबौद्धिक मान लेता था। प्लेटो का दृष्टिकोण भी बहुत कुछ ऐसा ही था। इस्लाम में नीतिज्ञ और धर्मवेत्ता (मर्मी) को कवि से ऊंचा स्थान मिला और फलस्वरूप भावना और कल्पना का स्वच्छन्द प्रसार इस्लामी काव्य में नहीं मिलता। "कवि कवीने कविता मुए" कह कर कबीर ने इसी दृष्टिकोण का प्रकाशन किया हैं और सम्पूर्ण मध्ययुगीन संत काव्य में यही दृष्टिकोण पल्लवित है। भारतीय दृष्टिकोण से इसकी पटरी नहीं बैठती जो "कविर्मनीषो परिभू स्वयंभू" कह कर कवि और दृष्टा के तात्विक भेद का परिहार कर देता है।

---

[9]As to the Poets, those who follow them go astray. Do you not see that they wander (having no fixed goal in life) and be wilder in every valley (subject ?) They say that, what they do not mean.)"XIX...224-226)

: १२ :

रहस्यवाद

[१]

अन्य जीवधारियों और मनुष्यों में यह महान अन्तर है कि मनुष्य ने अपनी चेतना के विकास के प्रत्येक पग पर महान प्रश्न किए हैं और अनेक प्रकार से उनका समाधान उपस्थित करने की चेष्टा की है। मूल मानव-भाव है जिज्ञासा। मनुष्य "जानना" चाहता है। यह जिज्ञासा जब बाहर की वस्तुओं की ओर उन्मुख होती है तो वह विज्ञान को जन्म देती है, और जब भीतर की ओर प्रचालित होकर स्वयं प्रश्नकर्त्ता के व्यक्तित्व, मन और अंतर्वृत्ति को अपना विषय बनाती है तो रहस्यवाद का सृजन करती है। उपनिषद् के ऋषि ने विद्या या ज्ञान के दो विभाग किये हैं: परा विद्या और अपरा विद्या। छान्देग्य उपनिषद की एक कथा है कि देवर्षि नारद सनत्कुमार के पास गये और उनसे दीक्षा चाही। सनत्कुमार ने पूछा—"जो तुम जानते हो, वह मुझे बतलाओ। उससे परे जो होगा उसकी शिक्षा में तुम्हें दूंगा।' इस पर नारद ने उन सब विद्याओं के नाम लिये जिनका पारायण उन्होंने किया था: ऋग्वेद, यजुर्वेद, अथर्ववेद, इतिहास, पुराण, पंचम वेद (भारत), वेदानावेद (व्याकरण पित्र्य, (कर्मकांड), राशि (गणित), देव (फलित ज्योतिष), निधि

(समय-विज्ञान), वाकोवाक्यम् (एकायन अर्थात् तर्क शास्त्र), वेद-विद्या (निरुक्त), ब्रह्म-विद्या (उच्चारण) (छंद-शास्त्र), भूत-विद्या, शस्त्र-विद्या, सर्प-विद्या, नक्षत्र-विद्या, देवजन-विद्या, (कला)। इन सब विद्याओं को नारद ने मंत्र-विद्या अथवा शब्द-विद्या कहा है और इन्हें आत्म-विद्या से भिन्न माना है। संदर्भ से यह पता चलता है कि यह आत्म-विद्या ही मनुष्य को संसार-जनित शोक-सागर से उबार सकती है। अन्य सब विद्याएं नाम-मात्र हैं। सनत्कुमार ने आत्मविद् पुरुष को अतिवादी कहा है। आज अतिवादी के स्थान पर हम 'आत्मवादी' शब्द का प्रयोग करते हैं। 'अतिवादी' की परिभाषा उपस्थित करते हुए सनत्कुमार कहते हैं: एष तु वाअतिवदति यः सत्येनातिवदति सोऽहं।' जो सत्य ही कह सकता है—सोहं अर्थात् वह मैं हू: वही अतिवादी है।' परन्तु सत्य वही कह सकता है, जो जानता है—यदा वे विजनात्मक सत्यं वदति नाविजानन् सत्यं बदति—अर्थात् जो जानता है वह सत्य बोलता है अज्ञानी सत्य नहीं बोलता। इस प्रकार आत्मा का ज्ञान आत्म-सत्य की उपलब्धि और उसके प्रकाशन की पहली शर्त है। स्पष्टतः यह ज्ञान शब्द द्वारा प्राप्त नहीं होता। इसकी कोटि ही भिन्न है। अन्य स्थान पर ऋषि ने आत्मविद्या को अपरा विद्या और शेष विद्याओं को परा विद्या कहा गया है। अध्यातम की दृष्टि से नाम-मात्र का ज्ञान अविद्या ही है। ईशावास्य में उन्हें क्रमश विद्या और अविद्या भी कहा गया है। उपनिषद् स्पष्ट रूप से घोषणा करता है कि अविद्या मृत्यु है विद्या अमृत।

ऊपर जो लिखा गया है उससे यह स्पष्ट है रहस्य-विद्या का सम्बन्ध मनुष्य की भीतरी खोज से है। अन्य विद्याएं मनुष्य की वाह्य पदार्थों सम्बन्धी जिज्ञासा का परिणाम हैं। रहस्य-ज्ञान मूलतः अध्यात्म-ज्ञान है और उसकी जिज्ञासा मनुष्य के मन और उसकी अंतर्प्रवृतियों से सम्बन्धित है। परन्तु उसकी विशेषता यही है कि वह मनुष्य पर समाप्त नहीं हो जाती। मनुष्य अपनी जिज्ञासा और खोज के अनन्तर जिस सत्य की उपलब्धि करता है, उसके प्रकाश में उसे वाह्य पदार्थ एक नई ज्योति में समन्वित होते जान पड़ते हैं। बाहर की विभिन्न वस्तुओं की विविधता और विशृंखलता इस आत्मनिष्ठ सत्य के प्रकाश में लुप्त हो जाती है। वह तमस् से ज्योति की ओर और मृत्यु से अमृत्व की ओर बढ़ता है।

चरम सत्य या ईश्वर की उपलब्धि के अनेक मार्ग हो सकते हैं। कम

से कम तीन मार्ग तो निश्चित ही हैं : १—साम्प्रदायिक और गुरुमुख २—ज्ञानमूलक और नैतिक ३—रहस्यात्मक और साधनात्मक। आज के युग में साम्प्रदायिक धर्मभाव को उतनी महत्ता नहीं मिलती। आज का हमारा युग अनास्था का युग है और हम उस समय तक किसी भी बात को सत्य के रूप में स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं हैं, जब तक वह स्वसंवेद्य नहीं हो। आज के युग में धर्मभावा प्राणी भी सम्प्रदाय और 'गुरुडम' में विश्वास नहीं करते। अनेक विचारकों का कहना है कि सत्य की सम्यक उपलब्धि रहस्यानुभूति के द्वारा सम्भव है। फलतः रहस्य भावना और रहस्यवादी साहित्य का अध्ययन आज अत्यंत लोकप्रिय विषय बन गया है। लोगों का कहना है कि धर्म-भाव व्यक्तिगत चीज है। परन्तु फिर भी यह सत्य है कि हम स्वंसंवेद्य अनुभव की उस परम्परा को एकदम भुला नहीं सकते जो उपनिषद् के समय से हमारे यहाँ बराबर चली आ रही है। हमारे धर्म ग्रन्थों और संप्रदायों में जिस ज्ञान और साधना की परम्परा सुरक्षित है, वह भी कभी व्यक्तिगत चीज़ रही होगी। यह अवश्य है कि कालांतर में उस पर रूढ़ि और आडंबर का आवरण भी चढ़ गया होगा, परन्तु यह संभव है कि उस आवरण को हटा कर हम पूर्ववर्ती साधकों द्वारा ग्रहीत सत्य की अनुभूति प्राप्त कर सकें। अतः यह स्पष्ट है कि रहस्यात्मक और साधनात्मक अध्यात्मानुभव को प्रश्रय देते हुए भी हमें साम्प्रदायिक और गुरुमुख सत्य का एक बहुत बड़ा अंश स्वीकार कर लेना होगा। यह दूसरी बात है कि हम उसके विषय में विशेष रूप से सतर्क रहें।

उपनिषद् के आरम्भ और अंत में एक शान्ति-मन्त्र आता है, जो इस प्रकार है।

ऊँ पूर्णमदः पूर्णमिद पूर्णात्पूर्णमुदच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते॥
ऊँ शान्ति शान्ति शान्ति :।

वह (ईश्वर) पूर्ण है, यह (आत्मा) पूर्ण है। पूर्ण से पूर्ण निष्पन्न होता है। पूर्ण में से पूर्ण निकाल लें तो भी पूर्ण ही शेष रहता है। इस मन्त्र में पूर्णता की जो कल्पना की गई है, वह विचक्षण है। वह गणित का विषय नहीं है। इस पूर्णता का अनुभव सरल नहीं है। अनुभव होजाने पर और कुछ भी जानना नहीं रहता। मनुष्य जब तक अपने को तथा इस सृष्टि को अपूर्ण समझता है, तभी तक उसे असंतोष रहता है। इस सृष्टि प्रपंच में पूर्णता की कल्पना करके और अपने व्यक्तित्व को उसका पूर्णांश

मान कर मनुष्य क्षोभ और दुःख से बच सकता है। उपनिषद् बताते हैं कि भूमा में ही सुख है, अल्प में नहीं। भूमा अथवा सर्वव्यापकता अर्थात् विराठ की अनुभूति होने पर मनुष्य का व्यक्तित्व और कार्य-व्यापार आनन्द से संयोजित हो जाता हैं। इस शांन्ति मन्त्र की व्याख्या करते हुए आचार्य विनोबा भावे ने लिखा है। — 'विश्वेश्वर पूर्ण है। विश्व पूर्ण है। पूर्ण से पूर्ण निकला है। उत्पत्ति से पूर्ण बढ़ता नहीं। प्रलय से घटता नहीं। इस तरह यह पूर्ण का खेल चल रहा है। इतना दर्शन हो जाने पर अशांति का फिर कोई कारण नहीं रहता। यह शाँति-मंत्र बृहदारण्यक में भी समाविष्ठ है। वस्तुतः इसे हम समस्त औपनिषदिक ज्ञान, साधना और रहस्यवाद की भूमिका कह सकते हैं।

भारतीय रहस्यवाद के आदि-स्रोत उपनिषद् हैं। इसमें संदेह नहीं कि मध्य युग के संतों के साहित्य में हम जिस रहस्य-भाव से परिचित होते हैं, उसकी पूर्वपरम्परा उपनिषदों तक जाती है। उपनिषदों से पहले भी ऋग्वेद के वामन-सूक्त, पुरुष-सूक्त नासदीय सूक्त और वागां-भृणी सूक्त इत्यादि में अद्वैत वेदांत का मूल हमें मिल जाता हैं, परन्तु इन सूक्तों की विचारधारा को हम औपनिषदिक ज्ञान के नींव का पत्थर ही मान सकते हैं। उपनिषदों ने इन आधार-शिलाओं पर ऐसा विशाल भवन उठाया है कि आज भी हम उसे देखकर चमत्कृत हो जाते हैं। श्वेताश्वेतर में कहा गया है:

एको देवः सर्वभूतेष गूढ़ः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा।
कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासी साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च॥

अर्थात् वह एक ही देव सब वस्तुओं में छिपा हुआ, सर्वव्यापी, समस्त प्राणियों का अंतर्यामी, सब के कर्मो का स्वामी, संपूर्ण भूतों का वासस्थान, साक्षी चैतन्य-स्वरूप, विशुद्ध और गुणातीत है। ब्रह्म चाहे सर्वात्म के रूप में कल्पित हो या अंतर्यामिन् के रूप में वह सूक्ष्मातिसूक्ष्म है। श्वेताश्वेतर आगे चल कर ब्रह्म की व्याख्या करता हुआ कहता है: 'वह हाथ-पांव से रहित हो कर भी ग्रहण करता है और तेजी से चलता है, चक्षुविहीन होकर भी देखता है। कानों के बिना भी सुनता है, वह सब कुछ ज्ञातव्य जानता है किन्तु उसका कोई ज्ञाता नहीं है। उसे आदि, महान पुरुष कहते हैं। बृहदारण्यक उपनिषद में याज्ञवल्क्य और गार्गी का जो संवाद है उसमें ब्रह्म को निषेधात्मक व्यंजनों से ही विभूषित किया गया है और उसे असंग, अमर, अगंध अरूप, अश्रोत, अनागयन अतेज, अप्राण, अमुख, अमात्र, अनन्तर और

अवाह्य बताया गया है। परन्तु मनुष्य का मन निषेध मात्र से नहीं भरता वह उस निर्गुण में भी गुणों की कल्पना करता है। परवर्ती युग में औपनिषदिक निर्गुण भावना में ध्यान-धारणा की पूर्ति के लिये गुणों का आरोप हो गया, और इस प्रकार निर्गुण-सगुण के बीच में सेतुबंध का आरंभ हुआ। श्वेताश्वेतर का ही एक मन्त्र है:—

निष्कलं निष्क्रियं शांतं निरवद्यं निरंजनम्।
अमृतस्य परं-सेतु दग्धेन्धनमिवानलम्॥

कला-रहित, क्रिया-रहित, शांत, निर्दंभ, निर्दोष, अमृत के परम सेतु-रूप ईंधन को जला चुकी हुई अग्नि के समान ज्योतिस्वरूप परमात्मा की शरण में मैं जाता हूं।' इसमें संदेह नहीं कि विशुद्ध ज्ञान की दृष्टि से जो चरम सत्य एकदम ज्ञानातीत है, वह साधक के भीतर श्रद्धा-भाव में मूर्तिमान हो जाता है। इसीलिए उपनिषद् का ऋषि बड़े विश्वास से उद्घोषित करता है: मैं अज्ञानान्धकार से अतीत, सूर्यवत् प्रकाश स्वरूप उस महान पुरुष को जानता हूं। उसे ही जान कर कोई मृत्यु को लांघ सकता है। परम पद की प्राप्ति के लिये कोई दूसरा मार्ग नहीं है। 'ब्रह्म की यही द्विधात्मक स्थिति रहस्यवाद की सृष्टि करती है। उसमें मूर्त्त तथा अमूर्त्त, अनंत और शांत, निर्गुण तथा सगुण का पूर्ण समाहार हो जाता है।

उपनिषदों की इस रहस्यमयी विचारधारा का परवर्त्ती विकास हमें बौद्ध-सिद्धों, गोरख-पंथी नाथों, शैवाद्वैतियों. निर्गुण संतों तथा इस्लामी सूफियों में मिलता है। भक्ति-साहित्य भी औपनिषदिक रहस्यवाद से कम प्रभावित नहीं हैं। गीता और भागवत वैष्णव भक्तिवाद के आदि स्रोत हैं। इनमें हमें निर्गुण पक्ष का विरोध स्पष्टतः दिखलाई पड़ता है, परन्तु तत्व ज्ञान के रूप में अद्वैत को बराबर स्वीकार किया गया है, सगुण और निर्गुण धाराओं की दो समानान्तर धाराएं इस देश में बराबर मिलती रही हैं। एक ने भारतीय मनीषा को प्रबुद्ध और पुष्ट किया है, दूसरी ने भारतीय हृदय को प्रेम, सौन्दर्य और रस की अनुपम सृष्टि दी है। भक्तों की आत्मविह्वलता के कारण सगुण भक्तिवाद भी बहुत कुछ रहस्यात्मक हो गया है और निर्गुण मतवाद में भी प्रिया-प्रियतम के रूपक के द्वारा माधुर्य की रहस्य-वीथियों का निर्माण हुआ है।

अट्ठारहवीं शताब्दी के अन्त तक मनुष्य बहुत कुछ आस्थावान था। उन्नीसवीं शताब्दी के मनुष्य ने ज्ञान-विज्ञान की नई-नई खोजें कीं और फलतः उसके विश्वास की नींव ही हिल गई। डॉरविन के विकासवाद ने धर्म-ग्रन्थों

मान कर मनुष्य क्षोभ और दुःख से बच सकता है। उपनिषद् बताते हैं कि भूमा में ही सुख है, अल्प में नहीं। भूमा अथवा सर्वव्यापकता अर्थात् विराठ की अनुभूति होने पर मनुष्य का व्यक्तित्व और कार्य-व्यापार आनन्द से संयोजित हो जाता हैं। इस शान्ति मन्त्र की व्याख्या करते हुए आचार्य विनोबा भावे ने लिखा है। — 'विश्वेश्वर पूर्ण है। विश्व पूर्ण है। पूर्ण से पूर्ण निकला है। उत्पत्ति से पूर्ण बढ़ता नहीं। प्रलय से घटता नहीं। इस तरह यह पूर्ण का खेल चल रहा है। इतना दर्शन हो जाने पर अशांति का फिर कोई कारण नहीं रहता। यह शाँति-मंत्र बृहदारण्यक में भी समाविष्ठ है। वस्तुतः इसे हम समस्त औपनिषदिक ज्ञान, साधना और रहस्यवाद की भूमिका कह सकते हैं।

भारतीय रहस्यवाद के आदि-स्रोत उपनिषद् हैं। इसमें संदेह नहीं कि मध्य युग के संतों के साहित्य में हम जिस रहस्य-भाव से परिचित होते हैं, उसकी पूर्वपरम्परा उपनिषदों तक जाती है। उपनिषदों से पहले भी ऋग्वेद के वामन-सूक्त, पुरुष-सूक्त नासदीय सूक्त और वागां-भृणी सूक्त इत्यादि में अद्वैत वेदांत का मूल हमें मिल जाता हैं, परन्तु इन सूक्तों की विचारधारा को हम औपनिषदिक ज्ञान के नींव का पत्थर ही मान सकते हैं। उपनिषदों ने इन आधार-शिलाओं पर ऐसा विशाल भवन उठाया है कि आज भी हम उसे देखकर चमत्कृत हो जाते हैं। श्वेताश्वेतर में कहा गया है :

एको देवः सर्वभूतेष गूढ़ः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा।
कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासी साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च ॥

अर्थात् वह एक ही देव सब वस्तुओं में छिपा हुआ, सर्वव्यापी, समस्त प्राणियों का अंतर्यामी, सब के कर्मो का स्वामी, संपूर्ण भूतों का वासस्थान, साक्षी चैतन्य-स्वरूप, विशुद्ध और गुणातीत है। ब्रह्म चाहे सर्वात्म के रूप में कल्पित हो या अंतर्यामिन् के रूप में वह सूक्ष्मातिसूक्ष्म है। श्वेताश्वेतर आगे चल कर ब्रह्म की व्याख्या करता हुआ कहता है : 'वह हाथ-पांव से रहित हो कर भी ग्रहण करता है और तेजी से चलता है, चक्षुविहीन होकर भी देखता है। कानों के बिना भी सुनता है, वह सब कुछ ज्ञातव्य जानता है किन्तु उसका कोई ज्ञाता नहीं है। उसे आदि, महान पुरुष कहते हैं। वृहदारण्यक उपनिषद में याज्ञवल्क्य और गार्गी का जो संवाद है उसमें ब्रह्म को निषेधात्मक व्यंजनों से ही विभूषित किया गया है और उसे असंग, अमर, अगंध अरूप, अश्रोत, अनागयन अतेज, अप्राण, अमुख, अमात्र, अनन्तर और

अवाह्य बताया गया है। परन्तु मनुष्य का मन निषेध मात्र से नहीं भरता वह उस निर्गुण में भी गुणों की कल्पना करता है। परवर्ती युग में औपनिषदिक निर्गुण भावना में ध्यान-धारणा की पूर्ति के लिये गुणों का आरोप हो गया, और इस प्रकार निर्गुण-सगुण के बीच में सेतुबंध का आरंभ हुआ। श्वेताश्वेतर का ही एक मन्त्र है:—

निष्कलं निष्क्रियं शांतं निरवद्यं निरंजनम्।
अमृतस्य परं-सेतु दग्धेन्धनमिवानलम्॥

कला-रहित, क्रिया-रहित, शांत, निर्दंभ, निर्दोष, अमृत के परम सेतु-रूप ईंधन को जला चुकी हुई अग्नि के समान ज्योतिस्वरूप परमात्मा की शरण में मैं जाता हूं।' इसमें संदेह नहीं कि विशुद्ध ज्ञान की दृष्टि से जो चरम सत्य एकदम ज्ञानातीत है, वह साधक के भीतर श्रद्धा-भाव में मूर्तिमान हो जाता है। इसीलिए उपनिषद् का ऋषि बड़े विश्वास से उद्घोषित करता है: मैं अज्ञानान्धकार से अतीत, सूर्यवत् प्रकाश स्वरूप उस महान पुरुष को जानता हूं। उसे ही जान कर कोई मृत्यु को लांघ सकता है। परम पद की प्राप्ति के लिये कोई दूसरा मार्ग नहीं है। 'ब्रह्म की यही द्विधात्मक स्थिति रहस्यवाद की सृष्टि करती है। उसमें मूर्त तथा अमूर्त, अनंत और शांत, निर्गुण तथा सगुण का पूर्ण समाहार हो जाता है।

उपनिषदों की इस रहस्यमयी विचारधारा का परवर्ती विकास हमें बौद्ध-सिद्धों, गोरख-पंथी नाथों, शैवाद्वैतियों. निर्गुण संतों तथा इस्लामी सूफियों में मिलता है। भक्ति-साहित्य भी औपनिषदिक रहस्यवाद से कम प्रभावित नहीं हैं। गीता और भागवत वैष्णव भक्तिवाद के आदि स्रोत हैं। इनमें हमें निर्गुण पक्ष का विरोध स्पष्टतः दिखलाई पड़ता है, परन्तु तत्व ज्ञान के रूप में अद्वैत को बराबर स्वीकार किया गया है, सगुण और निर्गुण धाराओं की दो समानान्तर धाराएं इस देश में बराबर मिलती रही हैं। एक ने भारतीय मनीषा को प्रबुद्ध और पुष्ट किया है, दूसरी ने भारतीय हृदय को प्रेम, सौन्दर्य और रस की अनुपम सृष्टि दी है। भक्तों की आत्मविह्वलता के कारण सगुण भक्तिवाद भी बहुत कुछ रहस्यात्मक हो गया है और निर्गुण मतवाद में भी प्रिया-प्रियतम के रूपक के द्वारा माधुर्य की रहस्य-वीथियों का निर्माण हुआ है।

अठ्ठारहवीं शताब्दी के अन्त तक मनुष्य बहुत कुछ आस्थावान था। उन्नीसवीं शताब्दी के मनुष्य ने ज्ञान-विज्ञान की नई-नई खोजें कीं और फलतः उसके विश्वास की नींव ही हिल गई। डॉरविन के विकासवाद ने धर्म-ग्रन्थों

के आगे एक बड़ा प्रश्नसूचक चिन्ह लगा दिया। इसमें संदेह नहीं कि विज्ञान की नई खोजों और विकासवादी दृष्टिकोण ने धर्म और ईश्वर के सम्बन्ध में मनुष्य की मान्यताओं पर अप्रत्याशित प्रभाव डाला था, परन्तु धीरे-धीरे यह स्पष्ट हो गया कि विज्ञान की मान्यताएं भी अंतिम मान्यताएं नहीं हो सकतीं। विज्ञान प्रयोग और अन्वेषणात्मक सत्य को महत्व देता है। उसका आधार बुद्धिवाद है। परन्तु आज स्वयं विज्ञान ने हमें यह बता दिया हैं कि मानव बुद्धि की भी अपनी निश्चित सीमाएं हैं और चेतन मन के नीचे अवचेतन मानस का एक अविराम मौन, रहस्यमय प्रवाह निरंतर बना रहता है और वह चेतन मन की उपलब्धि को अनेक प्रकार से प्रभावित करता है। अरविन्द घोष जैसे तत्ववेत्ता अतिचेतन अर्थात् ऊर्ध्व मानस की भी कल्पना करते हैं, जिसमें चेतन मानस का सत्य ऊर्ध्ववाही और रूपान्तरित होता रहता है। तात्पर्य यह है कि यदि धर्म-ग्रन्थों में प्रकाशित सत्य की अपनी सीमाएं हैं तो स्वसंवेद्य सत्य पात्र की सीमाओं द्वारा नियोजित हैं। आज कोरे बुद्धिवाद का महत्व घट गया है। मनस्तत्व की नई खोजों ने मनुष्य के मन की सीमाएं निर्धारित कर उसे अधिक सहिष्णु बना दिया है।

इसमें संदेह नहीं कि आज संकीर्ण ढंग के बुद्धिवाद तथा भावात्मक रहस्यवाद से ऊपर उठना होगा। आज मानवता को बुद्धिवाद और रहस्यवाद के बीच में कोई संतुलन स्थापित करना होगा। आज धर्म बुद्धि का बहिष्कार नहीं कर सकता, परन्तु धर्म और अध्यात्म पर विचार करते हुए हमें बौद्धिक संवेदनाओं के साथ भावत्मक और रहस्यात्मक संवेदनाओं को भी ध्यान में रखना होगा। इसके साथ ही कदाचित हम उस समस्त सामग्री की भी उपेक्षा नहीं कर सकेंगे जो गुरुमुख से हमें प्राप्त हैं — हमारा तात्पर्य उस सामग्री से है जो जाने-माने रहस्यवादी-वादियों तथा संतों की उक्तियों से हमें प्राप्त होती हैं और जिनमें उनका स्वसंवेद्य सत्य अन्तर्निहित है।

परन्तु विशुद्ध विज्ञानवादी और तर्क-विजड़ित ढंग से एकता की भावना करना सत्य को आधा ही पाना है। जो जीवन-दर्शन चरम सत्य को मानव -कल्पित सर्वश्रेष्ठ गुणों और व्यक्तित्व से परिवेष्ठित नहीं कर सकता, वह किसी भी प्रकार उत्प्रेरक और परिपूर्ण नहीं हो सकता। इसमें संदेह नहीं कि यूनानी दार्शनिकों का प्रकृतिवाद और भारत का अद्वैतवाद ऐसे दर्शन हैं जिनमें एकत्व की अनुभूति और दृश्यमान जगत की आंतरिक एकता को बड़े सुन्दर ढंग से प्रकाशित किया गया है। परन्तु इससे भी

संपूर्ण सत्य की उपलब्धि नहीं हो सकी। वह मानव-चिंता का बहुत आगे का चरण था, परन्तु अंतिम चरण उसे नहीं कहा जा सकता। वस्तुतः वह चरम सत्य का एकांततः अथवा अंततः दर्शन का विषय है ही नहीं। यदि वह चरम सत्य सतत क्रियमाण और सतत प्रेममय नहीं हो, तो मनुष्य के लिये उसकी उपादेयता ही क्या है। उसकी उपलब्धि में उसे क्या आनन्द मिलेगा। इसी से वेदांत के निष्कल, निष्क्रिय ब्रह्म की कल्पना मानव-हृदय को इतना अभिभूत नहीं करती जितनी सूफियों और संतों के प्रेममय व्यक्तिगत ईश्वर अर्थात् राम और अल्लाह की भावना।

इस प्रकार हम देखते हैं कि जब एक बार वस्तुमात्र की मूलभूत अर्थात् आध्यात्मिक एकता का मनुष्य के मन में उदय हुआ तो फिर निष्कृत नहीं किया जा सका। वह मानव-सस्कृति का एक अभिन्न अंग बन गया। परन्तु इस एकता के भाव की अभिव्यक्ति के ढंग अनेक रहे हैं और हम यह नहीं कह सकते कि कौन अधिक सुन्दर है।

[२]

'रहस्यवाद' को परिभाषा के सूत्रों में बांधना कुछ कठिन ही है। हमारे अपने ऋषियों और साधकों ने अपने को कभी भी कह कर घोषित नहीं किया। उन्होंने उस परम तत्व से साक्षात्कार किया था और उल्लास व गर्व से भर कर अपने साक्षात्कार की बात का प्रकाशन भी किया था। 'ईशावास्य' में कदाचित सबसे पहले यह उदात्त भाव सामने आता है। पहली ऋचा में ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किंचं जगत्यां जगत्' (इस जगत में जो किंचित मात्र भी है, वह ईश्वर से ओतप्रोत है) कह कर ईशावास्य का ऋषि इस प्रकार प्रार्थी होता है :

पूषन्नैक ऋषे यमः सूर्यः प्राजापत्य व्यूह रश्मीन् समूहः।
तेजोयते रूपं कल्याणतमं तत्ते पश्यामि
यो सावसौः पुरुषः सोहमस्मि ॥

(हे पूषन, एकर्षि, यम, सूर्य, प्राजापत्य, अपनी रश्मि-समूह को विकीर्ण करो। तुम्हारा जो तेजोमय, कल्याणप्रद रूप है, वह मैं देख सकूं। वह पुरुष जो है, वही मैं हूं।)

स पर्यगाच्छुक्रम कायमव्रणमस्नाविरं शुद्धं पापविद्धम्।
कविर्मनीषी परिभूः स्वयंभूर्याथातथ्यतोर्थान्
व्यद्धाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः ॥

(वह जो सब में ओत-प्रोत है, ज्योतित है, अकाय, अव्रण, स्नायु-रहित, शुद्ध

और पाप-रहित है, वह कवि है, मनीषी है, सबको घेरे और स्वयंभू है। उसी ने तथ्यों को शाश्वत युगों में बांटा है।)

इस प्रकार पहले उस परम सत्ता अर्थात ब्रह्म को सर्वात्म के रूप में संकल्पित कर लिया है और फिर वही अन्तर्यामिन् के रूप में प्रतिष्ठित है। वास्तव में भीतर और बाहर उसी एक सत्ता का प्रसार है। यह भीतर-बाहर की एकता जहां ज्ञान का विषय है वहां वेदान्त है, परन्तु अनुभूति का विषय बन कर यह साधना बन जाती है। वेदान्त में 'तत्वमसि' (तत्-त्वम्-असि) पर बल है, अद्वैती अनुभूति में 'सोहम्' (सः अहं) पर। वास्तव में इस अनुभूति में अहं और इदम् का अन्तर समाप्त हो जाता है और दोनों तत्व एक दूसरे को ओत-प्रोत कर लेते हैं। ज्ञानी के लिए यह चरम उपलब्धि है।

यह उसके क्षुद्र व्यक्तित्व का उस विराट व्यक्तित्व में संचरण मात्र है। ऋचा कहती है—भूमा में सुख है, अल्प में नहीं। एकता की अनुभूति में अल्प का नाश हो जाता है और सब कुछ भूमा अथवा विराट् बन जाता है।

पश्चिम के विद्वानों ने इस दृष्टिकोण को 'मिस्टिसिज्म' कहा है और इसी पर्याय से आधुनिक युग में हिन्दी में रहस्यवाद' शब्द का प्रचलन हो गया है तथा प्राचीन साधकों और उनकी वाणियों में रहस्यवाद की खोज होने लगी है। यह अवश्य है कि अद्वय अनुभव साधारण अनुभव नहीं है, परन्तु लोकोत्तर और असामान्य होने पर भी यह रहस्य या गुह्य कोटि की वस्तु नहीं है। यह दूसरी बात है कि प्रतिदिन की लोक-व्यवहार की भाषा में इस अनुभव का प्रकाशन नहीं हो सके और साधक 'गूंगे केरा सर्करा' जैसे उस अनुभव को अपने तक ही सीमित रखे।

आज की परिभाषा में 'रहस्यवाद' का अर्थ कुछ व्यापक हो गया है। उसमें केवल आध्यात्मिक जीवन-दृष्टि की ही व्याप्ति नहीं है, वरन अन्य दृष्टियों का भी समाहार है। प्रातिभ ज्ञान के द्वारा हम सौंदर्य, प्रकृति, प्रेम और परसत्ता की जो ऐकांतिक और अनन्य अनुभूति प्राप्त करते हैं, उसे रहस्यवाद की सत्ता दे दी जाती है। इन विस्तृत अर्थों में सौंदर्यनिष्ठ रहस्यवाद, प्रकृतिजन्य-रहस्यवाद, प्रेमजन्य रहस्यवाद और परसत्तात्मक या आध्यात्मिक रहस्यबाद का नाम लिया जाता है। वास्तव में ये नए संदर्भ हैं और पश्चिम के रोमांटिक कवियों के काव्य को समझाने के लिए ही इनका उपयोग पहली बार हुआ था और बाद में ये रहस्यवाद की कोटियों के रूप में

परिगणित होने लगे। शेली, वर्डस्वर्थ, ब्लेक जैसे कवियों में हमें इस कोटि के अनुभव होते हैं। हमारे यहां अद्भुतानुभव को प्रातिभ ज्ञान से भिन्न कोटि की वस्तु माना गया है और उसे केवल अध्यात्म-भूमि पर स्वीकार किया गया है। वह आत्मा का आत्मा में संचरण है। वह बुद्धि-मन से परे की वस्तु है। उसमें इन्द्रिय-जन्य ज्ञान का बाध है और वह इस प्रकार के ज्ञान पर आधारित भाविक या संकल्पनात्मक अनुभूति नहीं है। वह भीतर से स्वयं फूटने वाली ज्योति है जिसके प्रकाश में बाहर की विभिन्नताओं और विविधताओं का नाश हो जाता है और सब कुछ नए अर्थों से उद्भाषित हो उठता है।

यह एकता की अनुभूति (अद्वयानुभव) भारतीय धर्मभावना में बड़े पुरातन समय से चली आ रही है और इसने अपने प्रकाशन के लिए कई प्रतीक चुने हैं। उपनिषदों के ऋषि (आत्मा, ब्रह्म), सिद्ध (बुद्ध, शून्य) नाथपंथी योगी (शिव-शक्ति) तंत्रवादी (शक्ति) संत (राम) और सूफी (अल्लाह) उस परोक्ष के लिये विभिन्न नामों का प्रयोग करते हैं, परन्तु मूल रूप से सब की व्याख्या एक ही है। वह परम तत्व अत्यंत सूक्ष्म, निर्गुण, निराकार, अव्यय चिद्-तत्व है जो सर्वात्मिन् और अंतर्यामिन् के रूप में इस ब्रह्माण्ड और पिंड में एक ही प्रकार, एक ही समय चिर व्याप्त है। अन्तर साधना का है। इस अद्वयानुभूति तक पहुंचने के लिये जहां उपनिषद् अद्वैत ज्ञान को उपादेय मानते हैं, वहाँ सिद्ध नैरात्म्य (शून्य) भावना को, नाथ प्राणायाम और हठयोग को, ताँत्रिक कुण्डलिनी साधना और चक्र-भेद को, संत सहज साधना (भाव-भक्ति) को और सूफी ऐकांतिक प्रेम (इश्क़) को। इस प्रकार मूल भावना सार्वभौमिक और तात्विक होते हुए भी संप्रदाय-भेद से रहस्यवादी जीवनदृष्टियों में अन्तर आ जाता है। परन्तु जो रहस्य-भूमि पर स्थित हो गये हैं, वे जानते हैं कि साधना-भेद कोई बड़ा भेद नहीं है और सभी साधनाएं एक ही ओर आगे बढ़ती रहती हैं। उनकी पारदर्शिनी दृष्टि विरोध-भूमियों में भी समान-रूपकता देख लेती है। फलतः वे या तो सभी साधनाओं के प्रति सहिष्णु बन जाते है, या अपनी साधना में सभी के तत्व ग्रहीत कर लेते हैं। फिर भी यह माना जा सकता है कि रहस्यवाद का एक साम्प्रदायिक रूप भी संभव है और मिथ्या रहस्यवाद की भी संभावना है। विशुद्ध रहस्यभमि बड़ी रपटीली है और संप्रदायगत भावना या मिथ्यात्मक अनुभूतियों के थोड़े भी संस्पर्श से साधक पथच्युत हो सकता है।

रहस्यवादी जीवनदृष्टि एक संपूर्ण जीवनदृष्टि है और फलस्वरूप साधक के लिये परम सत्ता (ब्रह्म) और अपने (आत्मा के) सम्बन्ध में, अथवा ब्रह्म और जगत या जीव-जगत के सम्बन्ध में कोई दृष्टिकोण बना कर चलना होता है। दार्शनिक क्षेत्र में ब्रह्म, जीव और जगत को ले कर अनेक समीकरण हैं :

अद्वैतवाद (शंकर) — ब्रह्म-जीवन-जगत। भेद मायाजन्य।

विशिष्टाद्वैत (रामानुज)—ब्रह्म-जीव में अग्नि-स्फुलिंग का सम्बन्ध। माया की अस्वीकृति।

द्वैताद्वैत (निंबार्क) — जीव-ब्रह्म में अंशी-अंश सम्बन्ध की कल्पना। माया की अस्वीकृति।

द्वैत (मध्व) — ब्रह्म-जीव की स्वतंत्र स्थिति।

शुद्धाद्वैत (विष्णु स्वामी, वल्लभ) — सत्, चित्, आनन्द तत्वों का क्रमशः तिरोभाव।

त्रैत (सांख्य) – ब्रह्म, जीव और जगत की स्वतंत्र स्थिति।

त्रैत, द्वैत और कुछ अंशों में विशुद्धाद्वैत में रहस्य-भावना का प्रवेश सम्भव नहीं है। सांख्य बुद्धिवादी है। द्वैतवाद सेवक-सेव्य भाव की भक्ति को ही स्वीकार करता है। विशुद्धाद्वैत जीव-द्वारा 'आनन्द' भाव की पुनः प्राप्ति (आविर्भाव) को साधना का विषय बनाता है और इसके लिये पुष्टि (अनुग्रह) की कल्पना करता है। आनन्द तथा पुष्टि के तत्वों के कारण विशुद्धाद्वैत में रहस्यानुभूति सम्भव है, परन्तु वह स्थूल कोटि की अनुभूति है। अधिकतः रूपक के रूप में ही उसकी अभिव्यंजना हो सकी है। अद्वैत, विशिष्टाद्वैत और द्वैताद्वैत में ही सच्ची रहस्यानुभूति सम्भव है। वास्तव में तीनों में मूल रूप में अद्वय भाव । है ही। अन्तर ऐक्य स्थिति का है। अद्वैत सायुज्य (जीवात्मा-परमात्मा की एकात्म-स्थिति) को मानता है, विशिष्टाद्वैत प्रकारान्तर मानता है और द्वैताद्वैत गुणात्मक सम्बन्ध। एक अन्य प्रकार की स्थिति भी संभव है जिसे विद्वानों ने द्वैताद्वैतविलक्षण (न-द्वैत-न-अद्वैत) कहा है। वास्तव में ये भाव-स्थितियां हैं। साधना की विभिन्न अवस्थाओं में एक ही साधक को ये सब स्थितियां अनुभूत हो सकती हैं। कबीर के साहित्य में इस समीकृत भावधारा के निर्देश मिलते हैं।

परन्तु रहस्यवादी साधक केवल ज्ञान तक सीमित नहीं रहता। वह विविध भावस्थितियों को हृदय के कोमल तंतुओं में बाँधता है। यहीं से दर्शन

और रहस्यवाद में अन्तर शुरू होता है। एक का माध्यम है बुद्धि, दूसरे का हृदय (भाव)। रहस्यवादी साधक परोक्ष के प्रति वेदना का अनुभव करता है और अभेदत्व के लिये मिलन और वियोग के रूपकों की सृष्टि करत है। परमात्मा पुरुष है, आत्मा नारी। सूफ़ियों में यह रूपक उलटा हो जाता है। आत्मा का परमात्मा के प्रति निवेदन प्रोषितपतिका का निवेदन है। उसमें विरहिणी का भाव भरपूर है। इसी रूपक को लेकर कबीर और सूफ़ी बड़े मार्मिक ढंग से अपनी बात कह सके हैं।

जगत अथवा प्रकृति के प्रति भी साधक का दृष्टिकोण महत्वपूर्ण है। अद्वैतवादी साधक उसे परमात्म-तत्व से भिन्न नहीं देखता। वास्तव में जगत मायात्मक है। फलतः प्रकृति के सौन्दर्यबोध की ओर वह आकर्षित नहीं है। विशिष्टाद्वैत के अनुसार ब्रह्म सृष्टि का उपादान कारण है। इसी से तुलसी 'सिया राम मय' मान कर समस्त जगत को प्रणाम करते है। विशिष्टाद्वैत के अनुसार ब्रह्म ही अंतर्यामिन् के रूप में परिणित हुआ है और प्रलय होने पर जगत ब्रह्म में लीन हो जाता है। इन दोनों दृष्टिकोणों से जगत मायात्मक न रह कर ब्रह्म-स्वरूप बन जाता है। फलतः साधक उसके विभिन्न स्वरूपों में ब्रह्म की भावना करता है।

परन्तु जगत के प्रति सूफ़ियों का दृष्टिकोण और भी मार्मिक है। वे जगत को चरम सत्ता का दर्पण मानते हैं और उसमें परोक्ष के सौन्दर्य और माधुर्य के इंगित पढ़ते हैं। उनका एक दूसरा दृष्टिकोण भी है। वे प्रकृति को अपनी तरह विरहिणी मानते हैं और अपनी अनुभूति के तल पर से उसे देखते हुए उस पर मिलन-वियोग की अपनी भावनाओं का आरोप करते हैं। यह दृष्टिकोण जगत के रूप-रंगों की उपेक्षा की वस्तु नहीं, संयोजन और आसक्ति की वस्तु बनाता है। सूफ़ियों की साधना और उनके काव्य में इस भाव-धारा का बड़ा सुन्दर उपयोग हुआ है।

वास्तव में रहस्यवाद की भावना के मूल में परोक्ष सत्ता के माधुर्य की कल्पना है। निर्गुण-निराकार में गुणों की कल्पना स्वयं ही रहस्यमूलक है। जहाँ भावातिशयता के कारण उस पर लौकिक मिलन-विरह के रूपकों (प्रोषितपतिका, अभिसारिका) का आरोप हो जाता है, वहाँ रहस्य और भी बढ़ जाता है और उच्च कोटि की अद्वय भावना की सृष्टि होती है।

प्राचीन साहित्य में रहस्य-भावना का यही रूप सुरक्षित है। अद्वैत विशिष्टाद्वैत, द्वैताद्वैत या सूफ़ी प्रेमपरक अभेद दृष्टि पर ही प्राचीन काव्य में रहस्य का सृजन हुआ है और प्रेम मिलन, अभिसार और विप्रलंभ के

रूपकों के द्वारा इस भाव को प्रकाश मिला है। नए काव्य में इन सब प्रकार की दृष्टियों का समाहार है परन्तु साथ ही प्रकृति, प्रेम और सौन्दर्य के प्रति आत्यंतिक अभेदानुभूति (जो प्रातिभ ज्ञान का विषय है) भी रहस्यवादी मान ली गई है । पता नहीं, पश्चिम के इस अनुकरण से हमने अपनी रहस्य-भावना का प्रसार किया है या उसे छोटा किया है ।

: १३ :

मध्ययुग की धर्म-चिन्ता

मध्ययुग की धर्म-चिन्ता में सबसे महत्वपूर्ण तत्व वैष्णव-विचारधारा है। यह विचारधारा विष्णु और उनके अवतारों को इष्ट मान कर चलती है और उसकी परम्परा अत्यंत प्राचीन है। परन्तु मध्ययुग में वैष्णव मत-वाद के जिस रूप का प्रचार हुआ वह नवीन आयोजन था और उसके केन्द्र में दक्षिण के तमिल अलवारों की तन्मयासक्तिपूर्ण आत्मसमर्पण-प्रधान भक्ति-भावना थी। इन तमिल आलवारों का समय ६०० ई० से ९०० ई० तक माना जाता है और इनमें शठकोप या नामालवार और अंडाल नाम की महिला-भक्त विशेष उल्लेखनीय हैं। मध्ययुग का सब से महत्वपूर्ण भक्ति-ग्रन्थ कदाचित् भागवत है। विद्वानों का विश्वास है कि भागवत पुराण की भावोन्मुक्ति और उसके आकर्षक रूप-विन्यास पर अलवारों की भक्ति भावना का ही प्रभाव है। वास्तव में इस युग के सम्पूर्ण सांस्कृतिक विकास की पृष्ठभूमि में दो ग्रन्थ हैं: रामानुज का श्री-भाष्य और भागवत पुराण। इनसे क्रमशः वैधी और रागानुगा भक्ति की दो विभिन्न धाराएं प्रवाहित हुई। दूसरे प्रकार की भक्ति १३वीं शताब्दी में पल्लवित हुई और बाद में समस्त भारतवर्ष पर छा गई। मुसलमानों की उत्तर-भारत-विजय हिन्दू धर्म के स्वाभाविक विकास के लिये एक महान दुर्घटना थी और उसने बौद्ध धर्म को तो समाप्त

ही कर दिया। बुद्ध के प्रति महायानी भक्ति-भाव और तत्संबंधी उत्सव-समारोह भी नवोत्थित वैष्णव भक्ति में समाहित हो गए और इस प्रकार बौद्ध धर्म के अकस्मात् उन्मूलन से उत्पन्न परिस्थिति ने वैष्णव भावना के विकास को बल दिया। परन्तु केवल विष्णुभक्ति ही नहीं, शैव भक्ति भी इस युग में अत्यत लोकप्रिय थी। भक्ति इस युग की सार्वभौम भावना थी और उसके विकास में शैव भक्तों के पदों ने कम योग नहीं दिया। शैव भक्तों के ये पद दक्षिण के मन्दिरों में गाए जाते थे और उन्होंने जहां एक ओर माणिक्क वाक्कर जैसे साधक को प्रभावित किया वहां साथ ही शैव सिद्धान्त के विकास को भी सम्भव बनाया। अलवारों का प्रभाव मुख्यतः रामानुज के माध्यम से विकसित हुआ और उसने सभी सम्प्रदायों को अपने रंग में रंगा।

भक्ति-भावना के विकास में सब से अधिक योगदान पुराणों का था, विशेषतयः भागवत पुराण का। भागवत पुराण का प्रादुर्भाव मध्ययुग की अत्यन्त महत्वपूर्ण घटना है। विद्वानों का विचार है कि भागवत की रचना नवीं शताब्दी में हुई। उस समय तक अट्ठारह पुराणों की संख्या निश्चित हो चुकी थी, परन्तु भागवत को स्थान देना ही पड़ा। फलस्वरूप पुराणों के सूचीक्रम और महत्व में परिवर्त्तन हुआ और नवीन पुराण को पुराने पुराणों की पंक्ति में बिठा दिया गया। आदि काल में ही नवीन पौराणिक पुनरुत्थान के चिह्न हमें मिल जाते हैं, परन्तु यह वैष्णव भक्तिवद का प्रारम्भिक चरण है। इस चरण में महाभारत और रामायण के अनुवाद और प्रकारांतर सामने आते हैं और पौराणिक एवं धार्मिक विषयों में भी धार्मिक भावना की अपेक्षा साहित्यिक भावना ही अधिक है। आदि काल में तमिल, तेलगु और कन्नड़ भाषाओं में जैन और वैष्णव स्रोतों से ऐसे अनेक ग्रन्थ आते हैं जो महाभारत अथवा रामायण का अनुवाद हैं, या इन ग्रन्थों से किसी प्रकार सम्बन्धित हैं। परन्तु उनमें दृष्टिकोण साहित्य का ही है, धर्म का नहीं। राम-कथा को लेकर चलने वाले नाटकों के अध्ययन से यह बात स्पष्ट हो जाती है। भक्ति-युग में वैष्णव साहित्य जन–समूह की वस्तु बन सका।

भागवत के सम्यक अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि इसकी रचना नवीं या दसवीं शताब्दी में तामिल देश में हुई। इस पुराण की रचना सन्यासियों के ऐसे सम्प्रदाय में हुई जो 'भागवत' कहलाता था और भागवत की विह्वल, तन्मयाशक्तिप्रधान-भक्ति जिसकी भावधारा का प्रकाशन है। भागवत

अद्वैत ग्रन्थ है, फलतः उसकी रचना निश्चय ही अद्वैत केन्द्र में हुई होगी। सम्भवतः भागवत-सम्प्रदाय से सम्बन्धित होने के कारण ही इस ग्रन्थ का नाम भागवत पड़ा। इसमें सन्देह नहीं कि आज भागवत सम्प्रदाय सर्वत्र भारतवर्ष में फैला है और तामिल, तेलगू, कन्नड़, मराठी आदि सभी प्रदेशों में श्रीमद्भागवत की मान्यता है। परन्तु जान ऐसा पड़ता है कि तामिल प्रदेश के भागवतों के प्रभाव के कारण ही अन्य प्रदेशों में इसे स्वीकृति मिली। 'भागवत' के अतिरिक्त भागवतों के अन्य मान्य ग्रन्थ हैं—नारदभक्ति सूत्र शांडिल्य भक्ति-सूत्र, वासुदेव-उपनिषद और गोपीचन्द–उपनिषद। इनमें से उपनिषद तो स्पष्टतः साम्प्रदायिक ग्रन्थ हैं। नारद-सूत्र दक्षिण में अधिक मान्य है और शाँडिल्य-सूत्र उत्तर में। शाँडिल्य का दार्शनिक दृष्टिकोण भी भिन्न अर्थात् भेदाभेदी है। ये दोनों सूत्र-ग्रन्थ कदाचित भागवत सम्प्रदाय के विरक्त संन्यासियों में प्रचलित थे। दोनों ग्रन्थों में राधा का उल्लेख नहीं है और भागवत पुराण का आधार स्पष्ट है। १३वीं शती के अन्त में महाराष्ट्री वैयाकरण वोपदेव ने 'हरिलीला' (भागवत की सूचनिका) और मुक्ताफल (भागवत का सैद्धान्तिक संक्षेप) नाम से दो ग्रन्थों की रचना की और इस प्रकार से उनका नाम भागवत से अनन्य रूप से सम्बन्धित हो गया। उन्हें भागवतकार भी कहा जाने लगा। वास्तव में भागवत का लेखक अज्ञात है।

भागवत सम्प्रदाय की रचना होने पर भी भागवत का व्यापक प्रचार हुआ और उसने मध्य-युग में कितने ही वैष्णव सम्प्रदायों को जन्म दिया। वास्तव में 'श्रीभाष्य' और 'भागवत' मध्य-युग की धर्म-साधना की दृष्टि से सबसे महत्वपूर्ण ग्रन्थ हैं। इनमें भागवत पुराण क्षेत्र में पहले आया और इस पुराण का प्रभाव भी पहले पड़ा। मध्ययुगीन कृष्ण भावना के निर्माण और विकास में इस पुराण का योगदान महत्वपूर्ण है।

हरिवंश और विष्णु पुराण में कृष्ण की किशोरलीला (वृन्दावनलीला) का पहला विवरण मिलता है, परन्तु इन दोनों पुराणों में कृष्ण के सम्पूर्ण जीवन को विस्तारपूर्वक उपस्थित किया गया है। भागवत में कृष्ण का उत्तर जीवन अत्यन्त संक्षेप में है और भागवतकार कृष्ण के बाल-जीवन और किशोर-जीवन के चित्रण में ही अपनी समस्त प्रतिभा का उपयोग करता है। दूसरी बात यह है कि इस रचना में गोपियों का महत्व अपेक्षाकृत बढ़ गया है, यद्यपि राधा का व्यक्तित्व इस पुराण में सामने नहीं आता। वह बाद के विकास को सूचित करता है। परन्तु गोपियों में एक विशिष्ट गोपी का

उल्लेख है जो कृष्ण को विशेष प्रिय है और रासलीला के प्रसंग में जिसकी विशेष चर्चा है।

भागवत का वैशिष्ट्य उसका नया भक्ति-भाव है। पुरातन भक्ति-साहित्य से यह पुराण अपनी विशिष्ट भक्ति-भावना के कारण ही भिन्न है और एतदर्थ ही महान रहस्यानुभव और भक्ति के क्षेत्र में उसका योगदान अप्रतिम है और तत्सम्बन्धी प्रकरण अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं। इन प्रकरणों के अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि उनमें जीवन्त अध्यात्मानुभव सन्निहित है। फलतः यह अनुमान करना पड़ता है कि इस ग्रन्थ का निर्माण किसी केन्द्र में हुआ, जिसमें भागवत का भक्तिभाव जीवंत चेष्टा था, साधना और अनुभूति की वस्तु थी और व्यक्तिगत तन्मयासक्ति और प्रेमाभक्ति प्रधान अध्यात्म भाव की नींव पर ही भागवत के भव्य प्रासाद का निर्माण हुआ। भागवत प्रभाव का मूल कारण ही यह आत्मानुभव है। वैयक्तिक अनुभूति ही भागवत के आध्यात्मिक स्वर को इतना मार्मिक बना सकती थी।

भागवत की भक्ति का आदर्श "उद्धव-गीता" और गोपियों के कृष्ण के प्रति आत्मसमर्पण में दिखलाई देता है। भगवद्गीता और रामानुज की वैधी भक्ति-भावना से यह भक्ति भावना एकदम भिन्न है। उसमें अनन्य एवं एकांतिक साधना का भाव है, सूफीयों की "प्रेम की पीर" है। वह गलिदाश्रुतापूर्ण, गद्‌गद्‌-भावसंपन्न भक्ति है जो भावविभोरता की उस सीमा पर पहुंच जाती है और जहां साधक-देह-भाव के ऊपर उठ जाता है और एक मात्र कृष्ण-भाव में डूब जाता है। ऐसी भावुक भक्ति से मुक्ति की प्राप्ति सरलता से हो जाती है। परन्तु मध्ययुग के भक्त इस दृष्टिकोण से और भी आगे बढ़ जाते हैं "मुकति निरादर भगति लुभाने"—इस भक्ति-भाव के उपार्जन के साधन हैं अर्चन, बन्दन, स्मरण, सत्संग, पाद-सेवन, लीला-गान।

भागवत पुराण का एक नया तव वह अंश हैं जिसमें शृंगारात्मक यौन भावना की प्रधानता है। इन प्रसंगों में यह पुराण, विष्णु-पुराण और हरिवंश से कहीं आगे बढ़ जाता है। सामान्य तल से देखने से यह शृंगारात्मकता भक्ति-भाव से विभिन्न जान पड़ती है और उसमें अध्यात्म भाव की वह मर्यादा और निष्कलुषता नहीं है जो सन्त-जीवन के लिए परमावश्यक है। परन्तु कृष्ण-गोपी प्रसंग के ये प्रकरण कालान्तर में हिन्दू जनता के लिए महान आकर्षण बन गए और जिस दशम स्कन्द के पूर्वार्द्ध में ये प्रसंग आते हैं, वह मध्य युग की सभी भारतीय भाषाओं में अनूदित हुआ।

वास्तव में कृष्ण के प्रति गोपियों का सम्पूर्ण आत्मसमर्पण परोक्ष या परमात्मा के प्रति सन्त या जीवात्मा का आत्मसमर्पण बन गया। इस प्रकार यह शृंगारात्मक प्रसंग आध्यात्मिक भाव का प्रतीक माना जाता है। यह कहा जाता है कि इन केलि-प्रसंगों के ध्यान से साधक के भीतर उस तन्मयासक्तिपूर्ण भक्ति का जन्म होता है जिसे सर्वोच्च धार्मिक अनुभूति माना गया है। भागवत का यह रूपकात्मक (प्रतीकात्मक) भाव-बोध ही मध्ययुग के अनेक संप्रदायों के मूल में मिलता है। हरिदास संप्रदाय और राधावल्लभी संप्रदाय की मधुर भक्ति एक प्रकार से इसी दृष्टिकोण की उपज है। यही नहीं, सूरदास और अन्य अष्टछापी कवियों के काव्य पर भी इस शृंगारात्मक दृष्किोण का प्रभाव है।

महाराष्ट्र में भागवत-भक्ति के उन्नायक ज्ञानेश्वर हैं जिन्होंने १२९० ई० में ज्ञानेश्वरी के रूप में गीता की टीका लिखी। इस ग्रंथ के भक्ति भाव पर भागवत की भक्ति-भावना का प्रभाव स्पष्ट है। इसके अतिरिक्त 'हरीपाट' के २८ अभंग, 'अमृतानुभव' आदि भी ज्ञानेश्वर की रचनाएं हैं। 'अमृतानुभव' में उन्होंने अपने को गोरखनाथ की शिष्य-परम्परा से सम्बन्धित किया है। स्वयं ज्ञानेश्वर की विचारधारा में भक्ति के साथ योग का भी समाहार है। वास्तव में ज्ञानेश्वर से वह नई धारा विकसित होती है जो मध्ययुग में संत-मत या निर्गुण-धारा के नाम से प्रसिद्ध हुई और ज्ञानेश्वर नामदेव-रामानन्द-नानक कबीर जिसकी शृंखला का निर्माण करते हैं। 'भक्तमाल' में ज्ञानेश्वर को विष्णुस्वामी का शिष्य बतलाया गया है, जो शुद्धाद्वैत के आदि प्रवर्त्तक माने जाते हैं। जो हो, यह निश्चित है कि भागवत का प्रथम प्रभाव ज्ञानेश्वरनामदेव की रचनाओं में दिखलाई देता है। ये भागवत शिव और विष्णु को समान रूप से मान देते थे। इस प्रकार दक्षिण के भागवतों की परम्परा का ही ये विकास हैं। इनका दार्शनिक दृष्किोण भी अद्वैत है। विष्णुस्वामी मत में राधा को कृष्णप्रिया के रूप में ही ग्रहण किया जाता है और उन्हें परात्पर चित्सत्ता नहीं माना जाता। यह कहा जाता है कि विष्णु स्वामी ने गीता, वेदांन्त-सूत्र और भागवत पर भाष्य लिखे, परन्तु वे अब प्राप्य नहीं है। उस सम्प्रदाय में गोपालतापिनी उपनिषद् और विष्णु-सहस्रनाम का विशेष महत्व है। यह निश्चय है कि १६वीं शताब्दी तक इस मत का प्रसार बहुत से क्षेत्रों में रहा, परन्तु बाद को यह बल्लभ-मत में अंतर्भुक्त हो गया।

भागवत पर आधारित संम्प्रदायों में माध्व संप्रदाय सबसे प्रथम

है। माध्व (११६६-१२७८ ई०) दक्षिण कर्नाटक (उदीपि) के निवासी थे और उन्होंने १३वीं शताब्दी के पहले दशकों में इस संम्प्रदाय का संगठन किया। व स्तव में यह भागवतों की प्राचीन शाखा का एक नया प्रभेद था जो शांकराद्वैत को दार्शनिक दृष्टिकोण के रूप में नहीं मानता था। मध्व की व्याख्या प्रमुख रूप से ऐतरेय उपनिषद्, महाभारत तथा भागवत पुराण पर आधारित है। इसमें संदेह नहीं कि मध्व के आध्यात्मिक दृष्टिकोण पर व्यापक रूप से भागवत का प्रभाव है। मध्व की विचारावली का धार्मिक पक्ष रामानुज के दृष्टिकोण से भिन्न नहीं है, परन्तु उसका दर्शन द्वैतवादी है। शाँकराद्वैत के दृष्टिकोण के ठीक दूसरे सिरे पर हम उन्हें पाते हैं। वास्तव में अन्य आचार्यों के दृष्टिकोण से वह बहुत दूर हैं। माध्व संप्रदाय में राधा को स्वीकार नहीं किया गया, परन्तु अन्य संप्रदायों की भाँति कृष्ण के प्रति भक्ति भाव का प्रधान्य हैं। यह संम्प्रदाय शिव और पंचदेव के प्रति भी पूज्य भाव रखता है। मध्व की प्रमुख कृत्तियां वेदान्त सूत्रों पर भाष्य तथा अणुव्याख्यान नाम के ग्रन्थ हैं। इन ग्रन्थों में उन्होंने अपने दार्शनिक दृष्टिकोण को स्पष्ट करने के लिये ऋग्वेद, उपनिषद, गीता, पुराण और वैष्णव संहिताओं का पूर्णतयः सहारा किया है। भागवत-तात्पर्य -निरूपण नाम से उन्होंने भागवत की एक व्याख्या भी वस्तुतः की है जो महत्वपूर्ण है।

मध्ययुगीन कृष्णभक्ति में राधा की अवस्थिति सबसे क्रांतिकारी वस्तु है। विष्णुस्वामी संप्रदाय में राधा कृष्ण की प्रेयसी के रूप में मान्य है, परन्तु पराशक्ति के रूप में उसकी कल्पना बाद की उपज जान पड़ती है। निश्चय ही राधा की भावना भागवत पर आधारित नहीं है। विद्वानों के एक दल का कहना है कि विशिष्ट गोपी के रूप में राधा की अवतारणा रास के प्रसंग में भागवत में उपस्थित है। संभवतः इसी का कल्पनात्मक विशद विकास राधा के प्रतीकीकरण के रूप में स्पष्ट हुआ। यह भी कुछ विद्वानों का अनुमान है क पहले-पहल गोपालतापिनी उपनिषद् में राधा का विवरण मिलता है और सभी राधिकोपासक संप्रदायों में इस ग्रन्थ का मान है। क्षेमेन्द्र की रचनाओं में १० वीं शताब्दी में ऐसे उल्लेख प्राप्त होते हैं जिनसे यह स्पष्ट होता है कि उत्तर भारत में मध्व के आविर्भाव से बहुत पहले ही राधा गीति-काव्य का विषय था और १२वीं शती के अन्त में जयदेव के 'गीत-गोविन्द' में उसका एक स्पष्ट चित्र सामने आता है। 'गीत-गोविन्द' में राधा नायिका है, पराशक्ति नहीं। वास्तव में ये उल्लेख बीच की स्थिति की सूचना देते हैं। संभवतः ११०० ई० के लगभग भागवत

पुराण के आधार पर या स्वतंत्र रूप से राधा की भक्ति वृन्दावन-प्रदेश में आरम्भ हुई और बाद में बंगाल तथा अन्य विभिन्न प्रदेशों में प्रसारित हुई। निम्बार्क के जीवन के सम्बन्ध में हमें जो विवरण मिलता है उससे यह स्पष्ट है कि उन्होंने वृन्दावन को अपना साधना-केन्द्र बना लिया था और यहीं उन्होंने अपने भेदाभेद के दर्शन को उपस्थित किया। निम्बार्क के मतवाद पर रामानुज का स्पष्ट प्रभाव है। उनकी सबसे बड़ी नवीनता कदाचित राधा के सम्बन्ध में है जो कृष्ण की पराशक्ति के रूप में गोलोक में निवास करती है और लीला के लिए उनके साथ वृन्दावन में जन्म लेती है। निम्बार्क राधा को परकीया न मान कर स्वकीया मानते हैं। यह दृष्टिकोण ब्रह्मवैवर्त्त पुराण के दृष्टिकोण से भिन्न है। निम्बार्क का दार्शनिक दृष्टिकोण भी ब्रह्मवैवर्त्त से मिलता-जुलता है। उनके मतानुसार कृष्ण विष्णु के अवतार नहीं, स्वयं परब्रह्म हैं और उन्हीं से राधा और उन असंख्य गोप-गोपियों का जन्म होता है जो गोलोक में उनके साथ केलि करती हैं। इस प्रकार निम्बार्क ने केवल राधा-कृष्ण को उपास्य माना और भागवतों की स्मार्त भावना के विपरीत एक संकीर्ण संप्रदाय-धारणा को जन्म दिया। विद्वानों का अनुमान है कि संभवतः ब्रह्मवैवर्त्त पुराण का कृष्ण-खण्ड निम्बार्क-मतावलंबियों द्वारा प्रक्षिप्त अंश है और संभवतः शांडिल्य भक्ति सूत्र भी निम्बार्कीय कृति है।

ऊपर हमने वैष्णव धर्म के विकास के उस रूप का वर्णन किया है जिसे भागवत के द्वारा प्रेरणा प्राप्त हुई। परन्तु वैष्णव भक्ति के विकास में रामानुज के 'श्रीभाष्य' और वैष्णव-सम्प्रदाय का योग कम नहीं रहा है। तमिल देश में श्रीवैष्णवों का बड़ा प्राबल्य था और उनके मन्दिरों में अलवारों के भक्तिप्रद बड़ी भावुकता से गाए जाते थे। अलवारों के गीतों का मन्दिरों में प्रवेश स्वयं चमत्कारिक घटना है। एक तो जन-भाषा (तामिल) के प्रयोग से मन्दिर जनसामान्य की बस्तु बन गए, दूसरे सम्प्रदाय स्वयं जनता का मतवाद बन गया। दूसरी ओर अलवारों के भक्तिपदों में रागात्मक ढंग के प्रचुर भक्तिभाव ने श्री सम्प्रदाय के भक्तिभाव को नई मार्मिकता प्रदान की। यह कहा जाता है कि विष्णु-मन्दिरों में अलवार गीतों का प्रवेश नाथ मुनि द्वारा हुआ जो यामुनाचार्य के पिता थे। नाथ मुनि का समय १०वीं शताब्दी का अन्त और ११वीं शताब्दी का प्रारम्भिक काल है। वह नंबि और राजराज महान के समसामयिक थे। रामानुज ने यामुनाचार्य से श्रीरंगम की गद्दी ग्रहण की। इस प्रकार रामानुज और अलवारों का निकट-सम्बन्ध स्थापित

किया जा सकता है। नाथ मुनि ने नामालवार और अन्य अलवारों के ४००० गीतों को सहस्त्र पदों के चार भागों में विभक्त कर 'नालायिर प्रबंधम्' (चार हज़ार पदों का संकलन) नाम दिया और त्रिचनापल्ली के श्रीरंगम् मन्दिर में विग्रह के आगे इन पदों के कीर्त्तन-गायन की व्यवस्था की। बाद में अन्य मंदिरों में भी इस प्रकार की व्यवस्था हो गई। नाथ मुनि स्वयं अच्छे गायक थे और उन्होंने इन गीतों को दक्षिणी संगीत-लिपि में बांध कर जनप्रिय बना दिया। नाथ मुनि के उत्तराधिकारियों पुंडरीकाक्ष और राममिश्र-के सम्बन्ध में हमें विशेष ज्ञान नहीं, परन्तु यामुनाचार्य निःसन्देह उच्च कोटि के आचार्य थे और उनकी रचनाओं में विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त का प्राथमिक उन्मेष दिखलाई पड़ता है। रामानुज ने इस सिद्धान्त को संपूर्ण रूप से प्रकाशित किया।

रामानुज के ग्रन्थों में सर्वप्रथम 'श्रीभाष्य' है। उसमें जहां एक ओर शंकर के मायावाद और अद्वैतवाद का विरोध किया गया है, वहां दूसरी ओर भास्कराचार्य के भेदाभेद दर्शन का भी। परन्तु श्रीभाष्य का भक्ति सम्प्रदाय के विकास में भी बड़ा महत्व है। श्वेताश्वेतर और गीता में हमें जिस भक्ति भावना के दर्शन होते हैं वह भावप्रधान और अनन्य भक्ति है। रामानुज सम्प्रदाय में वह मोक्ष का सबसे बड़ा साधन है। वह भावमयी और उदात्त है। परन्तु भागवत पुराण की विह्वल भक्ति से भिन्न वह वैधी भक्ति के निकट है। उसमें ज्ञान और साधना का चमत्कार अधिक है और रागात्मिकता का प्रसार अधिक नहीं है।

रामानुज के श्रीभाष्य ने श्रीवैष्णवों को आकाँक्षित शास्त्र दिया। इस ग्रन्थ ने श्रीसम्प्रदाय का सम्बन्ध वेदाँतियों से जोड़ा और सम्प्रदाय को नई मान्यता दी। स्वय सम्प्रदाय के साधुओं और विरक्तों के लिए वह धर्मग्रन्थ बन गया। भक्ति की पुरातन धारा से सम्प्रदाय का सम्बन्ध जुड़ा। अगली शताब्दियों में भाष्य लिखने की जो परम्परा चली उसके मूल में श्रीभाष्य की ही देशव्यापी मान्यता थी। श्रीसम्प्रदाय के ऐतिहासिक विकास के अध्ययन से यह स्पष्ट है कि रामानुज के समय तक वह अनेक प्रकार से लांक्षित था। लोक में उसकी भले ही जो मान्यता रही हो, उसे शास्त्र का बल प्राप्त नहीं था। कदाचित् इसी से रामानुज ने सनातन पन्थियों को प्रसन्न करने के लिए उसे पूर्व परम्परा से सम्बन्धित किया और वेदान्त से उसका सम्बन्ध जोड़ा। खान-पान विवाहादि के सम्बन्ध में रामानुज का संकोची दृष्टिकोण कदाचित् इसीलिए है कि सनातनी वर्ग में सम्प्रदाय को मान्यता मिले। उस

समय दक्षिणी मन्दिरों में पांचरात्र और वैखानस संहिताओं का उपयोग होता था। सम्भवतः वैखानस संहिता भागवतों में प्रचलित थी। रामानुज ने पाँचरात्र संहिता को अधिक लोकप्रिय बनाया। उनके जीवन-काल में अनेक मन्दिरों में वैखानस के स्थान पर पांचरात्र को मान्यता मिलने लगी थी। रामानुज की व्यवस्था के अनुसार उपनिषदों का अध्ययन द्विजन्मों तक ही सीमित था, परन्तु अलवारों की तरह उन्होंने भी भक्ति-भाव पर कोई प्रतिबन्ध नहीं रखा। अनेक मन्दिरों में वर्ष में एक निश्चित दिन अवर्णों के प्रवेश की व्यवस्था भी उन्होंने की। फिर भी रामानन्द की भांति उनका दृष्टिकोण उदार नहीं कहा जा जकता। रामानुज की दिग्विजय यात्रा ने सम्प्रदाय के प्रभाव को देशव्यापी बना दिया। परवर्ती युगों में इस सम्प्रदाय के प्रभाव की व्यापकता और लोकप्रियता में कोई संदेह नहीं किया जा सकता।

इसमें संदेह नहीं कि रामानुज के भक्ति-भाव पर अलवारों, विशेषतया नामालवार (शठकोप) का व्यापक प्रभाव था और ईश्वर-संहिता, वृहद ब्रह्म-संहिता, आदि ग्रन्थों के अध्ययन से यह प्रभाव स्पष्ट हो जाता है। इन ग्रन्थों में शठकोप तथा रामानुज का नाम साथ-साथ लिया गया है और द्रविड़ देश को विष्णु भक्तों का प्रमुख केन्द्र बतलाया गया है। श्री सम्प्रदाय में केवल श्रीविष्णु और विष्णु के अवतार मान्य हैं। राधा को मान्यता नहीं प्राप्त है।

सम्भवतः तमिल देश में प्राचीनकाल में कोई रामावत सम्प्रदाय भी था। कुछ अलवारों ने स्पष्ट रूप से राम को आराध्य भी माना है। प्राचीन राम-साहित्य में बाल्मीकि रामायण, रामपूर्वतापनीय उपनिषद, राम उत्तर-तापनीय उपनिषद, अगस्त्य:सुतीक्ष्ण संवाद और अध्यात्म रामायण आते हैं। रामावत सम्प्रदाय का प्रमुख ग्रंथ अध्यात्म रामायण है जिसका दृष्टिकोण अद्वैतवादी है। इसमें सीता शक्तिरूपा मानी गई हैं जो सम्भवतः शाक्त प्रभाव है। माया-सीता की कल्पना इस रामायण की विशेषता है। इस ग्रंथ में राम विष्णु के अवतार रूप में सामने आते हैं। जब वह मानवलीला करते हैं तो माया द्वारा अपनी अविकृत प्रकृति को आछन्न कर लेते हैं। राम की शरणागति में मुक्ति की कल्पना और भावात्मक भक्ति इस ग्रंथ की अन्य विशेषताएं हैं। अध्यातम रामायण के राम हृदय और रामगीता प्रसंगों में रामतत्व और भक्तिवाद की सम्पूर्ण व्याख्या हमें मिल जाती है। स्पष्टतः अध्यात्म रामायण केवल बाल्मीकि पर ही आधारित नहीं है, भागवत पुराण

और अगत्स्य संहिता पर भी आधारित है। उस समय तक कई भाषा रामायणें भी सामने आ चुकी थीं, जैसे पम्पा रामायण (कन्नड़)। उनके तत्वों को भी ग्रहण किया गया है। सम्भवतः अध्यात्म रामायण का लेखक योग-वाशिष्ट्य, अद्भुत रामायण और भुशुण्डि रामायण से भी परिचित है। विद्वानों का विचार है कि सम्भवतः अध्यात्म रामायण का रचना-काल १३वीं या १४वीं शताब्दी है।

भक्ति-युग के आरम्भ में हम उत्तर में रामानन्दी सम्प्रदाय का आविर्भाव पाते हैं। रामानन्द से पहले कई वैष्णव भक्त आते हैं, जैसे, त्रिलोचन, सदना, वेनी, परन्तु प्रमुख व्यक्तित्व रामानन्द ही का है। रामानन्द के जीवन-काल के समय में बड़ा मतभेद है. परन्तु यह निश्चित है कि वे अपने युग के अत्यन्त प्रभावशाली महापुरुष थे। वह योग और भक्ति, सगुण और निर्गुण विचारधाराओं की संधि पर खड़े हैं और उनके व्यक्तित्व ने उनके समय की विरोधी प्रतिभाओं और साधनाओं को एकसूत्र में ग्रथित किया है। यह प्रसिद्ध है कि रामानन्द रामानुज के श्री-संप्रदाय से सम्बन्धित थे और आज भी रामानन्दी साम्प्रदायिक चिन्ह रामानुजी चिह्न का ही कुछ बदला हुआ रूप है। एक अन्तर यह है कि श्री-सम्प्रदाय में विष्णु के सभी अवतार मान्य हैं और सभी सम्प्रदाय में पूज्य रहे है। परन्तु रामानन्दी सम्प्रदाय में केवल सीताराम और उनके पार्श्वद ही पूज्य हैं। कदाचित् रामानन्द और उनके अनुयायियों ने ही पहले बार राम-नाम का प्रयोग परम सत्ता (ब्रह्म) के लिए किया। रामानन्द ही अपने साथ उत्तर में अध्यात्य रामायण, अगत्स्य सुतीक्ष्ण संवाद आदि लाए। रामानन्दी संप्रदाय में आज भी ये ग्रन्थ मान्य हैं। तुलसी के रामचरित-मानस का मूलाधार ही अध्यात्म रामायण है और उनसे बहुत पहले उत्तर में इस ग्रन्थ को मान्यता मिल गई होगी।

इस प्रकार हम देखते हैं कि मध्ययुग की धर्मचिंता अनेक धाराओं में होकर बही है, परन्तु इनमें सबसे प्रबल धाराएं राम और कृष्ण को लेकर बही हैं। पूर्वमध्य-युग के आरम्भ के समय (१४०० ई० के लगभग) भक्ति-वाद का स्वरूप स्पष्ट हो चला था और शंकर के अद्वैतवाद और मायावाद के विरोध में रामानुज के विशिष्टाद्वैत, निम्बार्क के द्वैताद्वैत (भेदाभेद) और मध्व के द्वैत के रूप में तीन नवीन धारणाएं आ गई थीं। विष्णु स्वामी के सम्बन्ध में अधिक निश्चयतापूर्वक कहना कठिन है, परन्तु संभवतः शुद्धाद्वैत का प्रारम्भिक रूप उनके द्वारा उपस्थित हो चुका था।

अगले दो सौ वर्षों में इन विचारधाराओं को अनेक प्रकार से पुष्टि मिली और इन्हें आधार बनाकर अनेक साधना-धाराएं बह चलीं। विष्णुस्वामी संप्रदाय बाद में बल्लभ-संप्रदाय में अंतर्भुक्त हो गया। बल्लभाचार्य (१४७९-१५३१) ने शुद्धाद्वैत के सिद्धांत को एक प्रकार से पुनर्जीवित किया और भक्ति के क्षेत्र में भी नई व्यवस्थाएं उपस्थित कीं। अब तक भक्ति का रूप केवल दास्य-भावना तक सीमित था और वह श्रद्धासमन्वित और ज्ञानाश्रित थी। वात्सल्य और शृंगार को स्थान नहीं मिला था। इस कमी को वल्लभाचार्य और चैतन्य (विश्वंभर मिश्र, १४८५-१५३३) ने पूरा किया। वास्तव में वल्लभाचार्य और चैतन्य से पहले भी व्यक्तिगत रूप से शृंगार-भक्ति या मधुर भक्ति की प्रतिष्ठा हो चुकी थी। वल्लभाचार्य और चैतन्य दोनों माधवेन्द्र पुरी के शिष्य थे और उनके साहित्य और जीवन-वृत के अध्ययन के बाद हम यह कह सकते हैं कि इन दोनों आचार्यों को शृंगार-भक्ति का संदेश उन्हीं से मिला होगा। फलतः वल्लभाचार्य और चैतन्य के सम्प्रदायों में भी बहुत समानता है। अन्तर केवल इतना है कि चैतन्य सम्प्रदाय की भक्ति भावुकताप्रधान है और वल्लभसम्प्रदाय की कर्मकांड प्रधान। परन्तु शृंगार-भक्ति को स्वीकार करते हुए भी आचार्य वल्लभ ने अपने भक्ति-योग में वात्सल्य को अधिक प्रधानता दी है और नवनीत-प्रिय कृष्ण और गोपाल-कृष्ण की पूजाविधि को संप्रदाय में महत्वपूर्ण स्थान मिला है।

वल्लभाचार्य तैलंग ब्राह्मण थे। मध्यप्रदेश के चम्पारण्य स्थान में उनका जन्म हुआ। नवजात शिशु को लेकर उनके माता-पिता काशी पहुंचे और वहीं बस गए। वल्लभाचार्य ने छोटी अवस्था में ही माधवेन्द्र पुरी से, जो माध्व संप्रदाय के अनुयायी थे, विद्याध्ययन किया। पिता की मृत्यु के उपरांत वे दक्षिण गए। उस समय उत्तर में लोदी वंश का शासन था, पर दक्षिण में विजयनगर का हिन्दू राज्य अपने ऐश्वर्य के शिखर पर था। महाराज कृष्णदेवराज की राजसभा में अनेक पण्डित थे और शास्त्र-चर्चा बराबर चलती रहती थी। वल्लभाचार्य ने एक ऐसी सभा में जिसमें स्वयं महाराज अध्यक्ष थे अद्वैतमतावलंबी पण्डितों को परास्त किया। इसका अत्यंत व्यापक प्रभाव पड़ा। सारे दक्षिण ने उनके आचार्यत्व को स्वीकार कर लिया। विजयनगर में महाराज के सम्मान की छाया में रह कर ही उन्होंने अपने उन विशिष्ट सिद्धांतों को निश्चित किया जो शुद्धाद्वैत और पुष्टिमार्ग के सिद्धान्तों के नाम से प्रसिद्ध हैं।

इसके बाद वे अपने मत के प्रचार के लिए उत्तर भारत में लौट आए। झारखण्ड में पहुंचने पर उन्हें भगवान कृष्ण ने स्वप्न दिया कि मैं गोवर्धन में प्रगट हुआ हूं, वहां जा कर मेरी प्रतिष्ठा करो। वल्लभाचार्य व्रज गए। वहां उन्हें श्रीनाथ जी की प्रसिद्ध मूर्त्ति गोवर्द्धन पर मिली। श्री नाथ जी के प्रादुर्भाव ने व्रज की जनता को इनके प्रति आकर्षित किया। शीघ्र ही अनेक शिष्य हो गये। वल्लभाचार्य ने गोवर्द्धन पर एक छोटा सा-मन्दिर बनवा दिया और पूजा का भार शिष्यों पर छोड़ कर वे फिर यात्रा को निकले। तीस वर्ष की आयु तक उन्होंने तीन बार भारत-भ्रमण किया और सहस्त्रों मनुष्यों को अपने मत में दीक्षित किया। तीसरी यात्रा के बाद वे प्रयाग के समीप अड़ैल ग्राम में गृहस्थ के रूप में बस गए। वहीं उनके दो पुत्र हुए। प्रौढ़ावस्था में वे सन्यास आश्रम में दीक्षित हुए और कुछ दिनों बाद काशी में जलसमाधिस्थ हुए।

वल्लभाचार्य के अनुसार ब्रह्म, जीव और जगत में मूलतः कोई अन्तर नहीं हैं। इस दृष्टि से वे अद्वैतवादी हैं। परन्तु शंकराचार्य के विपरीत वे माया की सत्ता को स्वीकार नहीं करते। शंकराचार्य के अद्वैत में माया का स्थान अनिवार्य रूप से आवश्यक हो जाता है, क्योंकि वे जीव और जगत को भी ब्रह्म मानते हैं। वल्लभाचार्य ने ब्रह्म, जीव और जगत में अभेदत्व को मानते हुए भी माया के तत्व को अस्वीकार किया और नए प्रकार से अभेदत्व की व्याख्या की। उनके अनुसार ब्रह्म के तीन गुण हैं: सत्, चित् और आनन्द। जीवात्मा भी ब्रह्म है, परन्तु उसमें आनन्द का गुण तिरोहित है। प्रकृति या जगत भी ब्रह्म है, परन्तु उसमें आनन्द और सत्गुणों का तिरोभाव है। आनन्द गुण का आविर्भाव हो जाने पर जीवब्रह्म हो जाता है। आचार्य के मत में श्रीकृष्ण परम ब्रह्म, परम पुरुषोत्तम हैं। उनका विहारस्थल परम बैकुण्ठ या गोलोक है। वहां वृन्दावन है, यमुना है, लताकुंज हैं, राधा हैं, गोप-गोपियां हैं और परमानन्द श्रीकृष्ण भक्तों के साथ अनन्त विहार में मग्न रहते हैं। भक्त भगवान के इस अनन्त लीलाविहार में साहचर्य प्राप्त करने को ही उच्चतम पद मानता है। पृथ्वी का वृन्दावन इसी गोलोक की प्रतिच्छाया है।

वल्लभ-मत में मोक्ष पद का साधन जहां एक ओर भक्ति है, वहां दूसरी ओर भगवान की अनुकम्पा या आचार्य के शब्दों में 'पुष्टि' है। भगवान के अनुग्रह के बिना भक्ति प्राप्त नहीं होती। इसी पुष्टि-भावना के कारण वल्लभाचार्य के मत को 'पुष्टि-मार्ग, भी कहते हैं।

वल्लभाचार्य के इन धार्मिक सिद्धान्तों ने धर्म का रूप पाकर मध्ययुग के भारत की भक्तिधारा में क्रांति उपस्थित कर दी। जब कृष्ण आनन्दमय हैं तो आनन्द के द्वारा ही उनको प्राप्त किया जा सकता है। वल्लभाचार्य न कहा : लीलावत्तु कैवल्यम् (लीला ही मोक्ष है)। इसका फल यह हुआ कि भगवान की दास्य भावना की भक्ति के स्थान पर लीलानन्द की प्राप्ति ही मुख्य हो गई। कृष्णलीला में वात्सल्य, सख्य और शृंगार भावों की प्रधानता थी, अतः भक्त को इन्हीं लीलाओं में आनन्द लेना था। यह लीला में भाग लेने की प्रक्रिया ही उन्हें आनन्द-तत्व में स्थिर कर सकती थी। भगवान की लीला में भाग लेता हुआ भक्त उत्तरोत्तर भगवान की ओर बढ़ता जाता है। इन्द्रियों के सारे व्यापार ही कृष्णोन्मुख हो जाते हैं। सृष्टि उसके लिए कृष्णमय बन जाती है। इस प्रकार पुष्टिमार्गी भक्त अपनी क्षुद्रता को भुलाकर भगवान की महत्ता में डूब जाता है।

मध्य-युग के भक्तिवाद में एक नया अध्याय तुलसी की रचनाओं के द्वारा जुड़ता है। यह भक्तिभाव हिन्दी की अपनी चीज है। रामचरितमानस में इस भक्ति-भाव का बड़ा सुन्दर और साहित्यिक प्रकाशन हमें मिलता है, यद्यपि तुलसीदास (१५३२-१६२३) की अन्य रचनाएं भी उससे ओत-प्रोत हैं। दर्शन और भक्ति दोनों क्षेत्रों में तुलसी का दृष्टिकोण एक प्रकार से समन्वयात्मक है। परन्तु उनकी व्यक्तिगत साधना और उनके महाकवित्व का सहारा पाकर यह भक्ति-भाव एक स्वतन्त्र व्यक्तित्व धारण कर लेता है। तुलसी के लिए भक्ति जीवन-निर्माण का सबसे बड़ा तत्व है और उन्होंने उसमें नीति और मर्यादा के ही अङ्गों की स्थापना नहीं की है, उन्होंने उसे लोकमंगल की साधना से भी जोड़ा है। इसमें सन्देह नहीं कि तुलसी की रचनाओं में मध्ययुगीन धर्म-चिंता और भक्ति-साधना का निचोड़ आ जाता हैं और उनके युग की धर्म और दर्शन सम्बन्धी सभी धाराएं अपना स्वतन्त्र व्यक्तित्व खोकर उनकी 'हरि-भक्ति' साधना में समाहित हो जाती हैं।

: १४ :

रीतिकाल का मूल्यांकन

रीति-काल का मूल्यांकन द्विवेदी युग में आरम्भ हुआ और मिश्र-बंधुओं, आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी और आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने उसे बीसवीं शताब्दी के पहले दो दशकों की नीतिमूलक दृष्टि से देखा। फलस्वरूप वे उसके साथ न्याय नहीं कर सके। उनकी दृष्टि बहुत कुछ विक्टोरियन-युग के अंग्रेजी समाज की दृष्टि थी। उन्होंने रीति काव्य को स्थूल वासना का काव्य कहा और उसे विलासिता के गर्त में डूबे हुए कवियों की पतनोन्मुख प्रवृत्तियों से सम्बन्धित किया। बाद में डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी और अज्ञेय के द्वारा दो नवीन दृष्टिकोण सामने आते हैं। डा० द्विवेदी उसे कुण्ठाग्रस्त और रुद्ध भावनाओं का प्रकाशन कहते हैं। यद्यपि वह उन सब ऐतिहासिक तथ्यों को भी पृष्ठभूमि में रखते हैं, जिन्होंने इस काव्य के निर्माण में योगदान दिया और उसे लोकप्रिय बनाया। अज्ञेय उसमें इलियट के काव्य की निर्वैयक्तिकता और परम्परानिष्ठा ढूंढते हैं। जिस परम्परानिष्ठा एवं रूढ़ि-वाद के कारण रीति-काव्य दूषित था, उसे ही अज्ञेय ने उसकी सबसे बड़ी और मौलिक देन कहा है। यह स्पष्ट है कि युग के साथ प्राचीन धाराओं और कवियों का मूल्यांकन भी बदलता है और आज हमारी प्राचीन साहित्य-धाराएं ऐतिहासिक चेतना के नए प्रकाश में नया रूप धारण कर रही हैं।

परन्तु अभी भी रीति-काव्य के सभी पक्षों का उद्घाटन नहीं हो सका है और उसे तात्कालिक राजनैतिक एवं सांस्कृतिक पृष्ठभूमि से सम्बन्धित नहीं किया गया है।

शुक्ल जी ने रीति-काव्य का विकास १६४३ ई० से १८४३ ई० तक माना है। यह अवश्य है कि काव्य के क्षेत्र में रीतिकालीन भावना अकबर-काल (१५५६ ई०-१६०५ ई०) में ही शुरू हो जाती है और अकबरी दरबार के कवियों में गंग और रहीम जैसे कवि हैं जिनमें पर्याप्त रीत्यात्मकता है, और दरबार से बाहर भी केशवदास (१५५५-१६२१) जैसे कवि सामने आते हैं, परन्तु रीतिकाव्यात्मक प्रवृत्तियों का विकास १६०१ ई० से माना जा सकता है, जब केशव की 'कवि-प्रिया' का प्रकाशन हुआ। इतिहासविदों का कहना है कि मुगलकालीन संस्कृति का चरमोत्कर्ष शाहजहां के समय (१६२८-१६५६) में होता है।

मुगल-संस्कृति के स्वरूप-निर्माण में दो तत्वों ने प्रधान रूप से काम किया। एक तो मुग़ल (मंगोल) और पठान साँस्कृतिक तत्वों का समन्वय और ईरानी प्रभाव जो निरन्तर बढ़ता रहा, दूसरे बीजापुर-गोलकुण्डा के राज्यों के नष्ट हो जाने पर उन राज्यों के सांस्कृतिक तत्व जो उत्तर की संस्कृति को प्राप्त हुए। इस समन्वय ने नई संस्कृति की दाग-बेल डाली। पश्चिम की ओर से भौतिक सुख-सुविधा और कला-क्षेत्र में ही नई उपलब्धियाँ प्राप्त नहीं हुई, वरन् जीवन-सम्बन्धी दृष्टिकोण भी पश्चिम अर्थात् ईरान से प्राप्त हुआ। सच तो यह है कि अकबर के समय से एक नई सांस्कृतिक चेतना का आभास मिलने लगा था, परन्तु उस युग पर राजपूत संस्कृति की गहरी छाप थी और ईरानी भोगवाद एवं सौन्दर्यवाद की छाया उस पर गहरी नहीं पड़ सकी। कालान्तर में नए तत्व अधिक संगठित रूप से सामने आए। रीति-युग का चरम विकास हमें बिहारी, मतिराम, देव, घनानन्द, पद्माकर प्रभृति कवियों में मिलता है। इस प्रकार सत्रहवीं शताब्दी से लेकर उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य तक इस काव्य का उत्कृष्ट स्वरूप दिखलाई देता है।

ये ढाई शताब्दियाँ साहित्य और कला के क्षेत्र में एकदम अनुर्वरा नहीं थीं। वास्तव में रीति-युग को विलास और कुण्ठा का युग कह कर हम संस्कृति के अन्य क्षेत्रों, जैसे वास्तुकला, चित्रकला, संगीत और नृत्य के क्षेत्रों में उसकी महत्तम और तेजस्वी उपलब्धियों की उपेक्षा करते हैं। हम इन शताब्दियों में सांस्कृतिक आत्महीनता और जड़ीभूत रूढ़िबद्धता ही देखते

हैं, उनके बहुमुखी व्यक्तित्व की ओर ध्यान नहीं देते। इन शताब्दियों में जिस अभिजात्य संस्कृति का विकास हुआ, उसके सौन्दर्य और संस्कार पर हमारी दृष्टि नहीं जाती। जिस संस्कृति ने रीति-काव्य को जन्म दिया, उसके उज्जवल और अंधकारपूर्ण दोनों पक्षों पर हमें विचार करना है और इतिहास में उसे उपयुक्त स्थान दिलाना है।

रीति-काल उत्तर भारत की बहिर्मुखी प्रवृत्तियों के चरमोत्कर्ष का काल है, जिस प्रकार पूर्ववर्त्ती भक्ति-काल उसकी अंतर्मुखी प्रवृत्तियों के विकास का युग है। यह बहिर्मुखी प्रवृत्तियां एक उच्च कोटि की सामंती संस्कृति का निर्माण करती हैं और इस संस्कृति के निर्माण में ही देश की समस्त धन सम्पत्ति, कला-कुशलता और भावधारा निःशेष हो जाती है। फलस्वरूप जहां एक ओर कला के आकाश चुम्बी शिखर हैं और ताजमहल एवं सीकरी-दिल्ली-जयपुर-उदयपुर के विशाल भवन और गौरवपूर्ण मंदिर हैं वहां दूसरी ओर अकाल और भुखमरी की वह स्थिति है जिसका आभास हमें तुलसी की उत्तर रचनाओं और जैन-कवि बनारसीदास की 'अर्द्ध-कथा' में मिलता है। यह ध्यान रखना है कि रीति-युग की संस्कृति (मुगल संस्कृति) विशिष्ट वर्गों की संस्कृति थी और उसका देश की जन-संस्कृति से कोई सम्बन्ध नहीं था। परन्तु इस विशिष्ट वर्गीय संस्कृति को हम पतनोन्मुखी किस प्रकार कह सकते हैं। पतनोन्मुखी संस्कृति में सर्जन-शक्ति का अभाव हो जाता है और उसमें रूढ़िवाद एवं क्रूरता का प्राधान्य रहता है। परन्तु रीति-युग की संस्कृति में सांस्कृतिक मूल्य निरन्तर ऊर्ध्वोन्मुख और विकासशील हैं। सांस्कृतिक जीवन का मापदण्ड बराबर बढ़ रहा है, यद्यपि धीरे-धीरे देश की सारी मानवीय और आर्थिक सम्पदा इस ओर केन्द्रित हो कर शोषण और उत्पीड़न को जन्म देगी है जो अंत में स्वयं इस संस्कृति के लिए घातक सिद्ध होता है। परन्तु संसार के विभिन्न देशों में संस्कृति के विकास का इतिहास इसी प्रकार के उत्थान-पतन-चक्र का साक्षी है और इसके लिए केवल रीति-युग को लांक्षित नहीं किया जा सकता।

रीति-युग की विशिष्टता का निर्माण मुगल युग के आरम्भ में अकबर काल (१५५६-१६०५) में हुआ और इस्लामी एवं देशी राज्य नए विकास के केन्द्र थे। रीति-काव्य मूलतः पंडित वर्ग का काव्य है जो मुसलमानी आक्रमण और राजनैतिक अस्थायित्व के कारण ग्रामों में बिखर गया था और वहीं पुराण-पाठ एवं कथा-वार्त्ता के द्वारा अपना जीवन-निर्वाह करता था। जहां-जहां देशी राज्य बचे हुए थे, जैसे मिथिला में, वहाँ-वहाँ भारतीय सामंती

संस्कृति की धारा अब भी अविच्छिन्न रूप से प्रवाहित हो रही थी और राजाश्रय में धर्म-व्यवस्था (स्मृति-ग्रन्थ) निर्माण, साहित्य-चर्चा एवं काव्य-संगीत-कला-विनोद भी चला आता था। ज्योतिरीश्वर ठाकुर के 'वर्ण-रत्नाकर' से (१३२५ ई०) इस स्थिति का पता चलता है। स्वयं मिथिला केन्द्र से ही विद्यापति (१३७५-१४५० ई०) के काव्य के रूप में हमें नई काव्य-परम्परा के विकास की भारतीय कड़ी मिलती है। काव्य-शास्त्र की मान्यताओं पर आधारित काव्य की पहली झलक हमें विद्यापति की 'पद वली' में ही मिलती है। विद्यापति के उपमान ही परवर्त्ती रीति-काव्य में रूढ़ हो गए हैं और उनकी राधा ही रीति-कवियों की केलि-चतुरा, विलासिनी, अनिंद्य रूप-यौवन सम्पन्ना नागरिका है। एक प्रकार से रीति-कवियों की नायिका में राधा का ही साधारणीकरण हुआ है।

प्रारम्भिक रीति-कवियों का विश्लेषण करें तो हमें नए प्रभावों का पता लग जाता है। उनमें या तो

१- रहीम, आलम और मुबारिक जैसे कवि थे जो फारसी काव्य की लाक्षणिक पद्धति से परिचित थे।

२- या उन पंडितों के कुल के सदस्य थे जो कान्यकुब्ज के राज्य से संबंधित थे और बाद में ग्रामों में बस गए। तिकवांपुर के रत्नाकर त्रिपाठी के के पुत्र चिन्तामणी, जटा शंकर, मतिराम और भूषण का नाम इस प्रकार के कवियों में लिया जा सकता है। इन कुलों में संस्कृत पण्डितों का आचार्यत्व सुरक्षित था।

३- दक्षिण के, विशेषतः तेलगु प्रदेश के शासक और कवि। जैसे ओरछा का राज्य तेलगु-वंश से संबन्धित था और पद्माकर जैसे कवि तेलंग ही थे। तेलगु साहित्य का स्वर्ण-युग १००० ई० से १५०० ई० तक कहा जा सकता है और मुक्तक शृंगार-रचनाओं का सर्वश्रेष्ठ विकास श्रीनाथ आदि कवियों में मिलता हैं। इन शासकों और कवियों की अभिरुचि और पृष्ठभूमि रीति-काव्य के विकास में विशिष्ठ योग दिया।

४- ऐसे हिन्दी कवि जो फ़ारसी काव्य-परम्परा से पूर्णतयः परिचित थे और जिन्होंने फ़ारसी काव्य की माधुरी को हिन्दी में ढाला। घनानन्द इसी कोटि के कवि हैं।

रीति-युग का सर्वश्रेष्ठ विकास १७वीं शती में मिलता है, परन्तु १८वीं शती और १९वीं शताब्दी के प्रथमार्द्ध में भी ऐसा बहुत कुछ सामने आता है, जो प्रशंसनीय है। अट्ठारहवीं शताब्दी के राजनैतिक और आर्थिक

ह्रास के बीच में ही रीति-कविता का शतदल - कमल विकसित हुआ है। अट्ठारहवीं-उन्नीसवीं शताब्दियों की सर्जनात्मक प्रेरणाओं को हम सामान्यतः भूल जाते हैं, परन्तु ये प्रेरणाएं कम नहीं हैं और उन्होंने कला-कौशल के अनेकानेक क्षेत्रों को प्रभावित किया है।

ऐतिहासिक परिपार्श्व में इस युग को देखें तो उसमें लांक्षा की कोई बात हमें दिखलाई नहीं देती। बाबर और हुमायूं के समय तक मुगल शक्ति अस्थायी तुर्की सामन्तशाही मात्र थी। अकबर ने उसे एक केन्द्रीय राष्ट्रीय सरकार का रूप दिया, जिसमें हिन्दू-मुसलमानों को समान अधिकार प्राप्त था। 'दीने-इलाही' के द्वारा सारे भारत को एक सर्वभौम धर्म देने में अकबर चाहे असफल रहा हो, परन्तु यह निश्चय हैं कि उसका एक नई सभ्यता-संस्कृति के निर्माण का स्वप्न ही उसे जीवन भर नए-नए प्रयोगों की ओर प्रेरित करता रहा। शाहजहां के सिंहासनारूढ़ होने के समय तक मुगल संस्कृति का व्यक्तित्व निश्चित ही नहीं हो सका था, वह अपने चरमोत्कर्ष पर थी। निःसन्देह शाहजहां का समय मुगल संस्कृति का स्वर्णयुग है। औरंगजेब के समय तक जन-जीवन परंपराजड़ित, व्यक्तिनिष्ठ और अहंवादी बन गया था। उसने उसमें सात्विकता की ज्योति प्रज्ज्वलित करनी चाही परन्तु उसके धार्मिक विद्वेष ने अनेक हिन्दू शक्तियों को उसके विरुद्ध खड़ा कर दिया और उसका आदर्शवाद जन-जीवन को प्रेरित नहीं कर सका। इस समय तक मुगल दरबार शान-शौकत और विलास का केन्द्र बन गया था। विलास-कला और भौतिक सुविधाओं के लिए सरकारी जीवन, अधिकार और धन के उपभोग के प्रति एक तीव्र संवेदना जाग्रत होना आवश्यक है। इस प्रक्रिया में जन-जीवन से लिया अधिक जाता है, उसे दिया कम जाता है। फलतः इस संस्कृति में स्वार्थ और सुविधा का कीड़ा लग गया और उसने सांस्कृतिक जीवन के सुकोमल पुष्प को दंशित करना आरम्भ किया। औरंगजेब की मृत्यु (१७०७ ई०) के बाद पतन की यह प्रक्रिया और भी गति प्राप्त करती गई और दक्षिण के युद्धों एवं हिन्दुओं, सिक्खों, राजपूतों और जाटों के विद्रोह ने राजनैतिक और आर्थिक जीवन को एकदम शोषित कर डाला। अराजकता के इस युग में संस्कृति की जड़ सूख गईं और वह अमर बेल की तरह ऊर्ध्वमूल बन गई। १७०७ ई० से १७५७ ई० तक का समय अनेक असफल अभियानों, षड़यंत्रों और हत्याकांडों का समय है जिनके फलस्वरूप दारिद्रय, जन-शक्ति का ह्रास और नैतिकता का पतन स्पष्ट रूप से दिखलाई देने लगा और देश-विदेशी शक्तियों के लिए आकांक्षा और स्पर्द्धा का विषय बन गया।

फिर भी यह स्पष्ट है कि सामान्य रूप से भारतीय संस्कृति की मूल मान्यताएं अक्षुण्ण थीं और विशेष वर्गों में मुग़ल काल की संस्कृति अब भी उसी प्रकार चल रही थी। राजनगरों में अब भी राजकर्मचारियों अमीरों, उमराओं के परिवार थे और वे ऐश्वर्य, विलास और आमोद-प्रमोद के क्षेत्र में प्रति-स्पर्द्धी थे। अराजकता और राजनैतिक अनेस्थैर्य ने एक प्रकार की झूठी मस्ती, भोगलिप्सा और आतुरता को जन्म दे दिया था जिसके कारण प्रत्येक अमीर जीवन के उल्लास, आनन्द और सौंदर्य को शीघ्र से शीघ्र और अधिक से अधिक आत्मसात कर लेना चाहता था। 'मुहम्मद शाह रंगीले' की दिल्ली मुग़ल संस्कृति की सारी शक्ति और सारी दुर्बलता की प्रतिछाया थी। नादिरशाह के आक्रमण ने दिल्ली की राजनैतिक शक्ति को गहरा धक्का दिया और १७३९ तथा १७६१ ई० के बीच में सैंकड़ों की संख्या में विद्वान, कवि, संगीतज्ञ और कलाकार दिल्ली छोड़ कर अन्य छोटे-छोटे नये राज्यों की राजधानियों में बस गये और यहां उन्हें दिल्ली की मुगल संस्कृति को प्रसारित करने का अच्छा मौका मिला।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि चाहे हम इस युग की राजनैतिक अंतर्दृष्टि, कर्तव्यनिष्ठा या सामाजिक भावना को कटु आलोचना का विषय बनाएं, दिल्ली और अन्य केन्द्रों में सांस्कृतिक जागरूकता और सांस्कृतिक चेतना में कोई कमी नहीं थी। मुहम्मदशाह, आलमगीर द्वितीय, शाह आलम द्वितीय, अकबर द्वितीय, बहादुरशाह, (प्रथम, द्वितीय) आदि सम्राट कलाओं को बराबर आश्रय देते गये और संगीत, कविता (फारसी, उर्दू) और चित्रकला के क्षेत्रों को निरन्तर प्रोत्साहन मिलता रहा। राजस्थान में भी कला-चेतना जागरूक रही। डीग, जयपुर, जोधपुर और उदयपुर के महल और बाग इसी युग के स्मारक हैं। लखनऊ के नवाबों ने यूरोपीय कलाविदों का भी उपयोग किया और इमामबाड़े, छत्तर-मंजिल, सिकन्दर बाग़, कैसरी बाग़, मोती बाग़ और पाई बाग़ में यूरोपीय वास्तु-कला का प्रभाव स्पष्ट रूप से दिखलाई देता है। हैदराबाद, पूना, उदयपुर टौंक, ग्वालियर, बनारस, लखनऊ, लाहौर इसी रुचि के प्रतीक हैं। सामन्ती जीवन के बाहर इस देश की विशाल जनता है, जो थोथे भोगवाद या भक्ति-वैराग्य से मन बहला रही है। इन दो वर्गों के बीच में एक बड़ी खाई है, जो अकबर-युग से बराबर बढ़ती चली गई है। अन्त में यह व्यवधान इतना बढ़ गया है कि उत्पीड़न से ऊब कर देश की विशाल जनता विदेशी सत्ता को स्वीकार करने को तैयार हो गई है।

इस संस्कृत समाज का, जिसने रीति-काव्य का निर्माण किया, क्या लक्ष्य था ? सत्रहवीं-अट्ठारहवीं शताब्दी के चित्रों और काव्यों से यह आदर्श स्पष्ट हो जाता है। यह आदर्श है नारी का प्रेम, नारी का मिलनोल्लास और विरह-क्रन्दन। होली-वसन्त के गीतों में, रागमालाओं में, नायिकाओं की चित्रावली में और प्रेमाख्यानों और भावुक रोमांसों में यही एक विषय कल्पना की सहस्रों भंगिमाओं के द्वारा प्रकाशित है। नारी के सौन्दर्य को इस युग के कवियों ने रहस्यमय प्रतीकों और भावुक उपमानों के द्वारा अलौकिक एवं अपार्थिव बना दिया है। साधारण दृष्टि उसमें स्थूलता देखती है, परन्तु पद्माकर, देव और घनानन्द की नारी-सृष्टि कल्पनाजड़ित और इन्द्रियातीत है। उसमें स्थूलता है कहाँ। नारी उस युग की सौन्दर्य-चेतना का प्रतीक है। उसका अभिजात्य अनुपम है, अप्रतिम है। रीति-युग की कला के केन्द्र में वही है। प्रवीणराय जैसी वेश्याएं भी कलाविदग्धता और अभिजात्य के कारण लाँक्षित नहीं हैं। फलस्वरूप, अन्तःपुर महत्वपूर्ण हो गए थे और राजघरानों एवं सामंत कुलों से संबंधित नारियां विशिष्ट समादर की पात्री थीं। परन्तु सौन्दर्य निष्ठा का यह रूप वैवाहित जीवन को आदर्श नहीं मानता है, वह प्रेम विलास वाग्वैदग्ध्य अभिजात्यपूर्ण संस्कार, कला कौशल और बौद्धिक चमत्कृति पर आधारित था। फलस्वरूप इस युग का हृदय नर्तकियों, गायिकाओं और गणिकाओं पर मुग्ध था। इनमें कुछ का नाम आज भी चला आता है। कुछ के नामों के साथ सुन्दर प्रेमाख्यानों का सम्बन्ध हो गया है। यह अवश्य है कि सामाजिक और नैतिक भूमि पर से देखने में नारी की यह स्थिति आह्लादक नहीं जान पड़ती, परन्तु स्पष्ट ही वह युग-धर्म की उपज है और इस युग की भारतीय संस्कृति को इन समाजवहिर्भूता नारियों ने कुछ कम आत्मदान नहीं दिया। इन नारियों का देहिक सौन्दर्य उस युग की चमत्कृति और आकांक्षा का विषय था, परन्तु उनकी कलाकुशलता, अभिजात्यात्मक परिपूर्णता ही उन्हें विशिष्टता देती थी और कला वैशिष्ट्य के उस युग में साँसारिक जीवन का मूलमंत्र ही सौन्दर्य-निष्ठा में सन्निहित था। 'विलासुकल सुकुतूहलम्' यह उस युग का मंत्र था। समसामयिक जीवन की क्रूरता, अनिश्चयता पीड़ा और अवसाद के बीच में कला और सौन्दर्य के के प्रति जागरूक भावना ही जीवन को जीने योग्य बनाने में समर्थ थी। नारी में ही उस युग की कलानिष्ठा और सौदर्य-प्रियता मूर्तिमान हो उठी थी। इसके लिये परिस्थितियां उत्तरदायी हैं। उस युग को लांक्षित नहीं किया जा सकता। अन्य संस्कृतियों के विकास में ऐसे युग बराबर आए हैं।

अन्य देशों में भी सौन्दर्य के सूक्ष्म और विशुद्ध संस्कार के साथ-साथ अनैतिकता और अतिकाम का प्राधान्य रहा है और सामाजिकों ने सामान्य जीवन से बाहर जाकर स्वप्नमय, संगीतमय, रहस्यमय और संवेदनामय सौन्दर्य का एक भावुक जगत निर्मित करना चाहा है। यह भावुक जगत नारी में मूर्तिमान है। यह ठीक है कि इस प्रकार की अतिसंस्कृत, अतिजीवित, सौन्दर्य-प्रेमी संस्कृतियां जीवन के सत्य के प्रकाश को न सह कर भूमिसात हो गई हैं, परन्तु उनकी महत्त्वपूर्ण साँस्कृतिक उपलब्धियां परवर्ती युगों के लिए बहुमूल्य दाय बन गई हैं। रीतियुग में हमारे मध्ययुगीन सांस्कृतिक जीवन का यही द्विधात्मक विडम्बनामय, परन्तु सूक्ष्म, सौन्दर्यबोध-प्रधान पक्ष अभिव्यंजित है। ये संदर्भ हम उसे दें तो उसके साथ न्याय ही नहीं करेंगे, आज के साँस्कृतिक विकास में उससे कुछ पा भी सकेंगे।

: १५ :

'गीतांजलि' का जीवन-दर्शन

'अंग्रेजी 'गीतांजलि का पहला संस्करण १९१२ ई० में प्रकाशित हुआ, परन्तु वह एक सीमित वर्ग के लिए था। अगले वर्ष यह रचना नॉबुल प्राइज़ प्राप्त प्रशंसित रचना के रूप में प्रकाशित हुई। 'गीतांजलि' की प्रसिद्ध के कारण रवि बाबू की अन्य रचनाओं की मांग हुई। फलस्वरूप बड़ी शीघ्रता से उनकी रचनाएं सामने आईं: द गार्डनर (१९१३), द क्रिसेंट मून (१९१३), फ्रूट-गेदरिंग (१९१६), बलाका (फ्रेंच १९१६), स्ट्रे-बर्ड्स (१९१६), लवर्स गिफ्ट एण्ड क्रॉसिंग (१९१८), फेयर फ्लाइज़ (१९१८), और द फ्यूगिटिव एण्ड अदर पोयम्स (१९२२)। वास्तव में अंग्रेजी पढ़ा हिन्दी समाज और हिन्दी साहित्यकार इन्ही रचनाओं तक सीमित रहा। वह मूल रचनाओं तक नहीं जा सका। वास्तव में पहले पाँच छः वर्षों तक हमारे कवि और गद्यगीतकार इन अंग्रेजी रचनाओं से ही प्रभावित होते रहे। रवि बाबू की बंगला रचनाओं का प्रभाव बाद में पंत, निराला, मोहनलाल महतो और महादेवी वर्मा के काव्य में दिखलाई देता है।

अंग्रेजी रचनाओं में 'गीतांजलि' का प्रभाव ही अधिक व्यापक रहा। वास्तव में 'गीतांजलि' ने मध्यवित्त समाज को एक नया जीवन-दर्शन दिया जिसकी उसे नितांत ही आवश्यकता थी। बीसवीं शताब्दी के आरम्भ में पूर्व-

पश्चिम में सबकहीं धार्मिक पुनरुत्थान की एक लहर दौड़ रहीथी। उसे पूर्णतयः 'धार्मिक' नहीं कहा जा सकता, क्योंकि किसी धार्मिक मतवाद या विश्वास से उसका सम्बन्ध जोड़ना कठिन है। परन्तु मानव-धारणाओं की आध्यात्मिक भित्ति को विस्तार देने और मानव-जीवन की आध्यात्मिक चेतनापरक एवं आध्यात्मोन्मुख व्याख्या करने की स्पष्ट चेष्टा दिखलाई पड़ती है। यह निश्चय है कि यह उन्नीसवीं शताब्दी के बुद्धिवाद के विरुद्ध प्रतिक्रिया थी। जीवन की गतानुगत चेतना, तथ्यवाद और भौतिक विज्ञानवादी दृष्टिकोण ने मानवात्मा को जैसे चुनौती दी थी और रवीन्द्रनाथ की इस रचना में जैसे मनुष्य की आत्मा ने उस चुनौती का उत्तर दिया था। यह कहना कठिन है कि आध्यात्मिक प्रकाश के लिए यह इच्छा व्यक्तियों की आत्मा की गम्भीर पुकार थी अथवा इसके जन्म के मूल में यह नया भाव था कि पश्चिम की भौतिक-जगत की विजय के बाद भी मनुष्य का आंतरिक जीवन अस्तव्यस्त था और युग की आत्मा बुरी तरह जड़वाद से पीड़ित थी।

इसमें संदेह नहीं कि पिछले तीस-चालीस वर्षों की मूल-प्रवृत्तियों में एक प्रवृत्ति समाज-सुधार की रही है। दूसरी प्रवृत्ति है आध्यात्मिक चेतना या आध्यात्मिक जागरूकता की, और तीसरी प्रवृत्ति है कलाक्षेत्र में रहस्यवाद के पुनर्जन्म की। इन प्रवृत्तियों ने एक छोटे से बुद्धिजीवी वर्ग को (जो एक विशेष अभिजात्य वर्ग का निर्माणकर्ता था) कुछ ऐसी मूलबद्ध धारणाएं दीं जो उसे एक सूत्र में गुंफित करने में समर्थ थीं। विचार और लक्ष्य, धारणा और भावना के क्षेत्रों में एक नया समीकरण उन्हें मिला। इसीलिए हम देखते हैं कि 'गीतांजलि' के माध्यम से विभिन्न जाति-धर्मों के मनुष्यों को एक सार्वभौमिक आध्यात्मिक स्रोत मिल गया। यूरोप, अमेरिका और एशिया में कवि की इस रचना की समान लोकप्रियता यह सिद्ध करती है कि विराट मानवता एक मूलभूत जीवनदृष्टि के ग्रहण करने के लिए तैयार हो रही थी।

'गीतांजलि' का मूल-मन्त्र है जीवन की आनन्दप्रद स्वीकृति।[1] प्रत्येक गीत हमें सृष्टि के आनन्द-तत्व को किसी नई अभिव्यक्ति की ओर बढ़ाता है। हम समस्त चेतन प्राणी-जगत और अचेतन प्रकृति-तत्व में, पर्वतों-पत्थरों और वृक्ष-लताओं में, अपनी ही आत्मा का स्वरूप देखते हैं। इस ग्रन्थ में हमें

---

[1] Joyful acceptance of the world, (A. Arouson—
Rabindranath Through westrn Eyes, P. 4)

पहली बार आधुनिक युग में धार्मिक कोटि की सच्ची और तात्कालिक अनुभूति के दर्शन हुए। वास्तव में काव्य और विचारधारा दोनों क्षेत्रों में हमें एक अभिनव सृष्टि इस रचना द्वारा मिली थी। पश्चिम के सुधी आलोचकों ने इस नवीनता को भलीभांति ग्रहण कर लिया था। इज़रा पाउन्ड ने इस ग्रन्थ की आलोचना करते हुए लिखा—'मैं नहीं समझता कि मुझे कभी समीक्षा-क्षेत्र में ऐसी कठिन समस्या का सामना करना पड़ा हो, क्योंकि हम अधिकांश काव्य की विरोधाभासों के द्वारा प्रशंसा कर सकते हैं—टैगोर की रचनाओं में आकर्षण का मूल सूक्ष्म अंतःस्रोत में है। यह अंतःस्रोत जीवनानुभूति के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। जीवन की गम्भीर स्वीकृति जिसे रोडिन ने इस सूत्र में उद्घोषित किया था—शक्ति ही सौन्दर्य है। (फोर्टनाइटली रिव्यू, मार्च १९१३)[2] परन्तु इंग्लैंड में एक वर्ग ऐसा भी था जो 'गीतांजलि' की संवेदना को पूर्णतया ग्रहण नहीं कर सका। इसी आलोचक ने इस वर्ग के लिये लिखा है—'इस द्वीप के भले मनुष्य कलाकार का कलाकार के नाते सम्मान क्यों नहीं कर पाते, क्यों वह उसे जीवन के कार्पासक में लपेटने और कठोर नीतिनिष्ठा के शव के साथ उसका प्रदर्शन करने के अतिरिक्त और किसी भी पद्धति के अन्वेषण में अशक्य हैं—यह मेरे लिए अब तक अबुझा रहस्य है। मैं समझता हूं इन कविताओं के सम्बन्ध में यही कहना ठीक है कि हमें प्रत्येक को संपूर्ण रूप से पढ़ना होगा और तब उसकी, उस गीत के रूप में कल्पना करनी होगी, जिसके सुर हमें अर्द्ध-विस्मृत हैं। हमें उन्हें उस तरह नहीं देखना होगा जैसे हम पताका पर अंकित तारिकाओं को देखते हैं। हमें उन्हें आकाश के नक्षत्रों की भांति देखना होगा।[3] (फ्रीवमेन, १-११-१९१३, द गार्डनर के सम्बन्ध में ऐज़रा पाउण्ड की समीक्षा)

'गीतांजलि' के प्रकाशन ने पश्चिम के सामने भाव और भाषा, धर्म और दर्शन, व्यक्त और अव्यक्त का एक ऐसा समन्वय रखा जो आश्चर्यजनक था। पश्चिमी काव्य की अपूर्णता समीक्षकों को अब खटकने लगी। एक आलोचक का यह वक्तव्य एक बहुत बड़े वर्ग के भावों को वाणी देता है: 'इन कविताओं को पढ़ते हुए ऐसा नहीं लगता कि वह विदेशी मस्तिष्क की अद्भुत सृष्टि हैं। ऐसा लगता है कि उनमें हमारे भविष्यत् काव्य की झलक है। यदि हम रे कवि विचार और अनुभूति में एकात्म स्थापित कर सकें तो वे ऐसे

---

[2]Fortnightly Review. March 1913

[3]Free woman, 1-11.1913 (Ezrepound's Review of 'The Gardner')

ही काव्य का निर्माण करेंगे । हमारे यहां धर्म और दर्शन में जो अन्तर्विरोध दिखलाई पड़ता है, वह इन दोनों में हमारी असफलता का द्योतक है । हम अपनी संवेदनाओं को विशेष वस्तुओं तक सीमित रखते हैं, अपने जीवन-चिंतन को उनसे असंपृक्त ही छोड़ देते हैं । इससे हमारी संवेदनाओं पर तुषारपात हो जाता है और हमारा वक्तव्य वैज्ञानिक इन्द्रजाल ही बन जाता है । हमारा जीवन भी इस दृष्टिकोण से प्रभावित होता है और उसमें यान्त्रिकता तर्कित करते-करते हम उसे यान्त्रिक ही बना लेते हैं । परन्तु भारतीय कवि विश्व-जीवन की कल्पना प्रियतम के रूप में करता है और उसे आधार बनाकर सरस एवं प्राकृतिक काव्य-सर्जन उपस्थित करता है । उसकी कविता में हम अपने युग के दाऊद का साम-गान पाते हैं...सम्भव है कोई-कोई इस भारतीय कवि के दर्शन को विदेशी मान कर उसके जादू से बचा रहे । विचक्षण और विदेशी मानकर घृणा करने से पहले हमें अपने से यह प्रश्न करना उचित है कि हमारा अपना जीवन-दर्शन क्या है ? विचारों के क्षेत्र में हम उद्विग्न हैं, परन्तु हमारे पास ऐसे विचार ही कहां हैं जो श्रेष्ठ काव्य का रूप धारण कर सकें ।[4]

'गीतांजलि' का भाव-पक्ष तो नवीन और आकर्षक था ही, उसका कला पक्ष भी कम महत्वपूर्ण नहीं था । आलोचकों ने रवीन्द्र के काव्य की आत्यन्तिक संगीतात्मकता की चर्चा की है । 'गीतांजलि' के गीतों में संगीत की एक धारा अन्तः सलिला की भांति ही प्रवाहित है, परन्तु साथ ही नाद और लय का एक बहुत ही ऐन्द्रजालिक गुम्फन भी उसमें है । बीसवीं शती के पहले दशक में हिन्दी के काव्य में कल्पना का नितान्त अभाव था, जिसके कारण प्रत्येक कवि आचारनिष्ठ और उपदेशक बन जाता था । द्विवेदीयुगीन काव्य की इस कल्पनाशून्य, इतिवृत्तात्मक, नीतिपरक भूमि पर ही 'गीतांजलि' की कलम लगाई गई । आश्चर्य की बात नहीं है कि उसे उस समय उपहासास्पद माना गया। परन्तु जिनके लिए कवि की उपचेतन-मूलक प्रतीक-भाषा का कोई विशेष अर्थ था और जो उसकी अनुभूति की अपरिहार्य सत्यता और उस अनुभूति के भावुक समीकरण में विश्वास रखते थे, उन्होंने इस नए काव्य में युग-धर्म के दर्शन किए । उनके लिए रवि बाबू न पूर्व के थे, न पश्चिम के । वह मानवता के कवि थे : ऐसी मानवता के जो एक साथ चिर-पुरातन और चिर-नवीन है ।

'गीतांजलि' का जीवन-दर्शन औपनिषदिक भूमि पर आधारित होते

---

[4]Times Literary supplemtent, Review of Gitanjili 7.11.1912

हुए भी उससे भिन्न है। एक तरह से वह पश्चिमीय मानवतावाद की वेदांत-परक व्याख्या है - वह जीवन के सुखोपभोगों को पूर्ण स्वीकृति देता है और बन्धनों से भागता नहीं। वह संघर्षप्राण जीवन के बीच में ही त्याग और सन्यास की भेरी बजाता है। मृत्यु उसके लिए भयप्रद वस्तु नहीं। वह तो जीवन की पूर्णता है। वह निराशावादी नहीं, सतत आस्थावान है। कवि जीवन को उस परोक्ष प्रभु का वरदान मान कर प्रसन्न और उसके प्रति संरक्षणशील होता है। जीवन की जैसी अभिवंदना रवि बाबू के गीतों में है, वैसी और कहीं नहीं मिलेगी।

'गीतांजलि' का कवि प्रकृति के सभी कार्य-व्यापारों और ऋतुचक्रों में उसी परोक्ष का प्रत्यक्षीकरण करता है। सायं-प्रातः वर्षा-शरत्-वसन्त सभी एक अलौकिक रहस्यमय जीवन-तत्व से स्पन्दित हो जाते हैं। कवि गाता है :

तोरा शुनिस नि कि तार पायेर ध्वनि,
ए जे आसे, आसे, आसे।
... ...
कत कालेर फागुन दिने वनेर पथे
से जे आसे, आसे, आसे।
कत श्रावण-अन्धकारे मेघेर रथे
से जे आसे, आसे, आसे।
दुखेर परे परम दुखे,
तारि चरण बाजे बाजे बुके,
सुखे कखन बूलिये से नेय
परश माने
से जे आसे, आसे, आसे।

(गीत ४५)

(क्या तुमने उसकी शब्दहीन पगध्वनि नहीं सुनी। वह आता है, आता है, आता है। ...अनेक बार बसन्ती फागुन के महीने में वन-पथ पर वह आता है। अनेक बार वह सावन के अन्धेरे में, बादलों के रथ पर बैठ कर आता है। अथाह दुःख में उसकी पगध्वनि हृदय में बज उठती है और सुख में न जाने कब उसके चरण-स्पर्श से दिल सुहला देता है। वह आता है, आता है, आता है।)

---

[3]–गीत, ४८।

प्रकृति की वैभवमयी रहस्यमयी चित्रपटी उस परोक्ष के प्रति आत्म-समर्पण की अत्यन्त उपयुक्त पीठिका बन जाती है।[5] वह उसमें खो कर ही उस अनन्त का स्पर्श प्राप्त करता है। प्रकृति के कोमल-कठोर दोनों पक्ष उसे प्रिय हैं। वे उस महिमामय की करुणा और उसके क्रोध के प्रतीक हैं। इसी भाव को कवि रूपक में बांधकर आकर्षक ढंग से उपस्थित करता है :

सुन्दर वटे तव अंगदखानि
ताराय ताराय खचित,
स्वर्णे रत्ने शोभन लोभन
वर्णे वर्णे रचित।
खड्ग तोमार आरो मनोहर लागें।
बाँका विद्युते आंका से,
गरुडेर पाखा रक्त रविर रागे
जेन गो अस्त-आकाशे।

(गीत ५३)

(तेरा कंकण अति सुन्दर-सुन्दर है, इसमें असंख्य रंगों के रत्न लगे हैं। किन्तु मुझे तो तेरी तलवार अधिक सुन्दर लगती है, विद्युत इसकी टेढ़ी धार है, मानों गरुड के फैले हुए पंख ही सूर्यास्त की कुछ लाल रोशनी में पूर्णतया सन्तुलित हो कर फैले हों।)

प्रकृति का अपार वैभव, प्रकाश का यह सारा खेल उस आनन्दमय की लीला है, उसकी अपरिसीम करुणा की आंखमिचौनी है। इसी से कवि प्रकाश की महामहिमा का वर्णन करता हुआ नहीं थकता।[6] प्रभात की अरुणिमा जो कवि की आंखों को आप्लावित कर लेती है, उस अनन्त महिमामय का उसे संदेश देती है।[7] इसीलिए कवि अपने अन्तिम गीत को आनन्द गीत के रूप में देखना चाहता है जिसमें प्रकृति में अन्तर्भुक्त आनन्द की सम्पूर्ण अभिव्यक्ति हो। कवि के शब्दों में :

जेन शेष गाने मोर सब रागिनी पूरे,
आमार सब आनन्द मेले ताहार सुरे।
जे आनन्दे माटीर धरा हासे
अधीर हये मरुलताय धासे
जे आनन्दे दुई पागलेर मतो
जीवन-मरण वेड़ाय भवन धूरे

[6]—गीत, ५७। [7]—गीत, ५९।

सेई आनन्द मेले ताहार सुरे ।।
जे आनन्द आसे झड़ेर वेशे,
घूमन्त प्राण जागाय अट्ट हे से ।
जे आनन्द दाँड़ाय आंखेर जले,
दु:ख व्यथार रक्त शतदले ।
जा आछे सब धूलाय फेले दिये,
जे आनन्द वचन नाहिं फूरे ।
सेई आनन्द मेले ताहार सूरे ।।

(गीत, ५८)

(मेरे अन्तिम गीत में ही सब राग-रागनियां भर जाय और मेरा सारा आनन्द उसी के स्वरों में मिल जाये। जिस आनन्द से यह मिट्टी की ज़मीन भी अधीर होकर पेड़-पौधे, घास और लताओं के रूप में हंसने लगती है, जिस आनन्द से जीवन-मरण दो पागलों की तरह संसार में घूमते फिरते हैं, वही आनन्द मेरे अन्तिम गीत के स्वरों में भर जाय। जो आनन्द प्रबल झंझावात के रूप में आ कर सोते प्राणों को अपने अट्टहास से जगा देता है, जो आनन्द दुःख-दर्द के लाल कमल पर आंसुओं के रूप में ठहर जाता है और जो आनन्द सर्वस्व धूल में मिला कर भी मुंह से आह नहीं निकलने देता, वही आनन्द मेरे अन्तिम गीत के स्वरों में भर जाय।)

प्रभात की प्रथम किरण की कोमलता और सजलता में कवि उस उज्ज्वल, अकलुष, अपरिसीम व्यक्तित्व ही की छाया देखता है।[8] वह यह अनुभव करता है कि उसकी शिराओं में जो जीवन-स्रोत प्रवाहित हो रहा है वही विश्व को रूप-रंग, नृत्य-लय के रूप में आप्लावित कर रहा है।[9] मनुष्य के लिए इस अखिल-व्याप्त जीवनस्पन्दन से परिचित होना आवश्यक है। प्रकृति तथा जीवन की सारी प्रगति संगीतात्मक है, लयात्मक है तथा ऋतुचक्र अर्थात् रंग-रूप-गंध-स्वर का आवर्त्तन-प्रत्यावर्त्तन उस परमानन्द का ही अविभाज्य अंग है।[10]

रवीन्द्रनाथ 'लीला' के कवि हैं। उनके लिए यह सम्पूर्ण जगत उस परमतत्व की माया है। वह अव्यक्त ही 'लीला' के लिए अनेकानेक रूपों रंगों-गंधों-स्वरों में अपने को विभाजित कर लेता है। रात-दिन के मायावी बहुरंगी चित्रफलक के पीछे उसका सिंहासन है।[11] इसीलिए कवि त्याग में

8—गीत, ६८। 9—गीत, ६९। 10—गीत, ७० अ।
11—गीत, ७१।

मुक्ति के दर्शन नहीं करता। उसके लिए बंधन ही मुक्ति है। प्रेम के सहस्रशः बंधनों में उसे मुक्ति का सुखद आलिंगन प्राप्त होता है। फलतः कवि इन्द्रियों के दमन में विश्वास नहीं करता। उसकी आस्था है कि दृष्ट, श्रव्य और स्पर्श्य वस्तुओं का आनन्द उस आनन्दमय ही का प्रकाश है।[12]

इसीलिए कवि विराग का संदेश नहीं देता। वह मानव-शरीर के प्रति जुगुप्सा का भाव नहीं उठाता। इसी शरीर के माध्यम से ही उसे परोक्ष के संकेत प्राप्त होते हैं। वह तो उस अनन्त की बीन-मात्र है। कवि प्रण करता है कि वह अपने देह-मन को उस चिदानन्द शाश्वत शक्ति से चिर संपर्कित जान कर निरंतर शुद्ध रखेगा और अपने प्रत्येक कर्म में उसका ही प्रकाश देखेगा।[13] सभी मानव-शरीरों में उस चिरंतन ज्योति का वास है। फलतः कवि दीनों दुःखितों, परित्यक्तों और पीड़ितों से तादात्म्य स्थापित करता है और जनता-जनार्दन की सेवा को पाद पूजन समझता है। साधक के लिए अहंकार का नाश परमावश्यक है तथा क्षुद्रों-दीनों के प्रति संवेदना के द्वारा ही आभिजात्य-गर्व तथा अहंभाव का नाश संभव है।[14] इसी से रवीन्द्रनाथ एकांत साधना का विरोध करते हैं और साधक को खेत गोड़ते हुए कृषकों तथा पथ बनाते हुए मजदूरों के बीच में देखना चाहते हैं।[15] यह वेदान्त का नया मानवतावादी रूप है जिसकी क्रियात्मक स्थापना स्वामी विवेकानन्द ने की थी तथा जो उन्नीसवीं शताब्दी के भारत की सब से बड़ी देन है। कवि ने इस नए मानवतावादी वेदान्त को नए काव्य-दर्शन का रूप दिया है।

मध्ययुगीन सन्तों की तरह रवीन्द्रनाथ अहंभाव, धनगर्व, शक्ति-भय आदि को आत्मा का बंधन मानते हैं। मनुष्य ने स्वयं अपनी मुक्तात्मा के के लिए अनेकानेक शृंखलाएं गढ़ ली हैं।[16] मनुष्य अपने दुर्बल क्षणों में वासनाओं की छलना द्वारा परास्त हो जाता है परन्तु धीरे-धीरे वे उसकी सारी प्रवृत्तियों को घेर लेती हैं।[17] वासनाओं की इस छलना से बचने के लिए कवि आत्मा के सर्वसमर्पण को ही एक मात्र उपादेय मानता है। उसका कुछ भी परोक्ष अथवा परमात्मा से गोपनीय नहीं रहा।[18] उसका हृदय पुकार उठे। मैं केवल तेरा हूं, तेरा हूं[19] उसके करुणा-कण के लिए वह चातक की भांति बराबर प्रार्थी रहे।[20] ऐसे अनेक क्षण आते हैं जब साधक जीवन के उत्ताप से विचलित हो जाता है तथा भगवान से प्रार्थी होता है कि वह करुणा के मेघ बरसा कर उसके सारे व्यक्तित्व को ही डुबो दे।[21] यह पुष्टिभाव वैष्णव-भावना का केन्द्र-विन्दु है। रवीन्द्रनाथ औपनिषदिक

निर्गुणवाद को सगुण भक्ति के मानवीय तत्वों और स्निग्ध रसों से महिमा मंडित कर देते हैं और उनका आत्म निवेदन कबीर की भांति ज्ञानी का शुष्क निवेदन न होकर वैष्णव भक्त की आत्यंतिक विह्वलता से ओतप्रोत हो जाता है । फलतः उनके काव्य में निर्गुण-सगुण, ज्ञान-भक्ति द्वैत-अद्वैत की दीवारें ढह जाती हैं और दार्शनिक प्रश्न उठते ही नहीं । जिस उदात्त-जीवन भूमि पर रवीन्द्र की जीवन-चिन्ता 'गीतांजलि' में प्रवाहित हुई है, वह पिछले युगों की धर्मचिन्ताओं के समस्त विरोधाभासों को एक नए जीवन दर्शन में समीकृत कर देती हैं। इसी से उनके काव्य में निर्गुण ज्ञान के साथ भक्त हृदय की कोमलता और लिह्वलता का गठबंधन हो सका है और वैष्णव भक्तों की 'लीला' भावना निर्गुण प्रतीकों में बंध कर और भी रहस्यमय और मार्मिक हो उठी है । राम-कृष्ण के मध्ययुगीन प्रतीक नई मध्यवित्तीय भौतिक वैज्ञानिक धर्म-भावना को कुछ स्थूल लगते थे । इसी से उसने रवीन्द्र-काव्य के 'जीवन-देवता' में युग के अनुरुप नया प्रतीक ढूंढा और उसमें कबीर के निर्गुण राम और सूर-तुलसी के सगुण राम-कृष्ण को एक साथ खोज निकाला । उपनिषदों का ब्रह्म नए जीवन-रस से पोषित हो कर और मानवतावादी संवेदनाओं से सज कर नया इष्ट बना । कवि ने इहलौकिक जीवन संघर्षों और प्रकृति के रूप-रंग-गंध-स्पर्श में ही इस इष्ट का प्रसार पाया और उसके लिए यह जीवन-बोध अमूल्य वरदान बन गया है । मध्ययुग के भक्तों-संतों के लिए जो गरल था, वही उसे अमृत जान पड़ा । इस प्रकार 'गीतांजलि' नए युग की 'गीता' बनी और उसने हिमालय से कन्याकुमारी तक और सिन्धु से लौहित तक कवियों, गद्य-गीतकारों और जीवनचिन्तकों की जीवन-भावना को प्रभावित किया । उसे छोड़कर नए काव्य को समझना असम्भव बात है ।

असीम-ससीम के अनन्य सम्बन्ध को कवि ने अपनी एक कविता में बड़ी सुन्दरता से प्रकाशित किया है । एकाधारे तुमिई आकाश, तुम नीड़ (तू अनन्त आकाश है और तू ही नीड़ है)[22] वह चरम सत्ता एक ही साथ सर्वात्मिन् और अंतर्यामिन् है[23] वह सब कुछ निःशेष करके भी पूर्ण है ।[24] इस विचारधारा में उपनिषद् के इस शांति-मंत्र का सार आ जाता है ।

ऊं पूर्णमदः पूर्णमिदं
पूर्णात् पूर्णमुदच्यते ।
पूर्णस्य पूर्णमादाय
पूर्णमेवावशिष्यते ॥

अर्थात् वह पूर्ण है, यह पूर्ण है। पूर्ण से पूर्ण निष्पन्न होता है। पूर्ण में से पूर्ण निकाल लें तो भी पूर्ण ही शेष रहता है। जीवन और मृत्यु इस पूर्ण के दो पूरक चरण हैं। इसीलिए कवि इस जीवन का अभिनन्दन करता हुआ भी मरण से त्रस्त नहीं होता। वह प्रभु का दूत समझ कर उसका स्वागत करता है।[25] वह उसे अतिथि कहता है और अपने जीवन से भरे हुए पात्र को उसे सौंपने का साहस करता है।[26] वह उसे जीवन की पूर्णता मानता है।[27] वह कर्म-निःशेष हो विदा के लिए तैयार है।[28] इस अंतिम यात्रा के समय उसे समस्त प्रकृति अपने प्रति सम्वेदनाशील जान पड़ती है।[29] वह जानता है कि आत्मा अमर है और जीवन-मरण उस मातृशक्ति के जीवनदायी युगल पयोधर है।[30] जीवन की अमृतधारा ही आत्मा को पोषित करती है। मृत्यु तो क्षणिक व्यवधान है। उससे मनुष्य का कातर होना ऐसा है जैसे शिशु का एक पयोधर छूटने और दूसरे की प्राप्ति के अंतराल में रुदन। कवि को संतोष है कि उसने इस जीवन में ही उस अनन्त का स्पर्श किया है।[31] इस दर्शन-भूमि पर से देखने से उसे असफलताएं नहीं लगतीं वह हार को ही जीत समझ लेता है।[32] उसे यह विश्वास आश्वस्त करता है कि उसके जीवन का प्रत्येक क्षण उस अनन्त करुणामय के हाथों में सुरक्षित है, कि सब कुछ अमरता का अंश है, नाश कुछ भी नहीं होता।[33] आत्म-समर्पण की यह भावना कवि के काव्य को नए अर्थों से समन्वित करती है।

असीम-ससीम, रूप-अरूप और, प्राचीन सन्दर्भ में, आत्मा-परमात्मा की अनन्य केलि को कवि ने अभिसार, मिलन और वियोग प्रिय-प्रियतमा के चिर-परिचित रूपकों में भी बाँधा है। अभिसार के कई सुन्दर वर्णन मिलते हैं जिनमें मेघाच्छन्न-गगन और कण्टकाकीर्ण-पथ के द्वारा कवि ने आत्मा के ऊर्ध्व-गमन की कठिनाइयों की ओर संकेत किया है। अलबत्ता इस प्रतीक-पद्धति का विशेष विस्तार रवीन्द्रनाथ के काव्य में नहीं मिलता। रवीन्द्रनाथ का काव्य पौरुष का काव्य है, शक्ति का काव्य है। फलतः उनकी प्रेम-भावना कहीं भी अश्रु विगलित नहीं हो पाती। परन्तु दुःख की महिमा से वे पूर्ण परिचित हैं। एक गीत में वे कहते हैं :

तोमार सोनार थालाय साजाव आज
दुःखेर अश्रु-धार।
जननी गो, गांथव तोमार
गलार मुक्ताहार।
चन्द्र-सूर्य पायेर काछे,

माला हयेजड़िये आछे,
तोमार बूके शोभा पावे आमार
दुःखेर अलंकार ।

(गीत, ८३)

(मां, मैं अपने शोकाश्रुओं से तेरे गले के लिए मोती-माला गूँथूंगा । तारों ने तेरे चरणों के लिए ज्योति-मंजीर गढ़े हैं, परन्तु मेरा हार तेरे वक्ष को अलंकृत करेगा ।) प्राचीन रहस्यवादियों की तरह रवीन्द्रनाथ भी आत्मा के विच्छेद-दुःख की विश्वव्याप्ति में विश्वास करते हैं ।[34] इस प्रकार रवीन्द्रनाथ का जीवन-दर्शन प्राचीन रहस्यों की भूमि पर खड़ा होता हुआ भी, नई चेतना से ओतप्रोत है । उनके आनन्द के स्वरों में दुःख का स्वर डूब गया है । इसमें सन्देह नहीं कि "गीतांजली" की जीवन-चेतना, उसकी आनन्द-भूमि, उसकी रहस्यवार्त्ता, उसका मानव में अदम्य विश्वास ये कुछ बातें नवीन युग की मानवतावादी विचारधारा से बेमेल नहीं हैं । इसीलिए पश्चिम ने उसे उतना ही समझा, जितना रहस्यवादी पूर्व ने । "गीतांजली" मानव-जगत के लिए एक सार्वभौम सन्देश लाई थी ।

१२–गीत, ७३	१३–गीत, ४	१४–गीत, ६	१५–गीत, ११
१६–गीत, ३१	१७–गीत, ३३	१८–गीत, ३४	
१९–गीत, ३८	२२–गीत, ६७	२३–गीत, ७२	२४–गीत, ७५
२५–गीत, ८६	२६–गीत, ९०	२७–गीत, ९१	२८–गीत, ९३
२९–गीत, ९४	३०–गीत, ९५	३१–गीत, ९६	३२–गीत, ९८
३३–गीत, ८१	३४–गीत, ८४		

द्वितीय खण्ड

(आलोचन)

: १६ :

मेरी दृष्टि में आधुनिक कविता

'आधुनिकता' का अर्थ प्रत्येक युग में नया संदर्भ ग्रहण करता है। इसीलिए आधुनिक हिन्दी कविता पर विचार करने के पूर्व हमें उसकी सीमाएं निर्धारित करनी होंगी। रूढ़ार्थ में भारतेन्दु से आधुनिक कविता का जन्म होता है और अधुनातन काव्य तक उसकी गति है। परन्तु एक सम्पूर्ण शताब्दी को विहंगम दृष्टि में भी लाना कुछ कठिन है। इसीलिए हमें इस वार्त्ता में हिन्दी के आधुनिक-काव्य-विकास का क्षिप्र पर्यवेक्षण करते हुए मुख्यतः पिछले बीस वर्षों के समसामयिक काव्य पर अपनी दृष्टि केन्द्रित करनी होगी। इस प्रकार हम अपने विवेचन में आधुनिकता का निर्वाह भी कर सकेंगे और उसे युग-निष्ठा भी दे सकेंगे।

आधुनिक कविता हमारे उस नए जीवन की उपज है, जो विदेशी अंग्रेज जाति के शासक-रूप में प्रतिष्ठित हो जाने के बाद नई परिस्थितियों के कारण विकसित हुई और बाद में पश्चिम के साहित्य और ज्ञान-विज्ञान से अनुप्राणित हुई। प्लासी-युद्ध के बाद बंगाल में इस नई राज-शक्ति की नींव जमी और उसे देशव्यापी एवं एकच्छत्र बनने में सौ वर्ष लगे। उन्नीसवीं शताब्दी के आरम्भ से ही देश के साहित्य में नई प्रवृत्तियों का उदय होने लगता है, परन्तु शताब्दी का उत्तरार्द्ध ही उन प्रवृत्तियों को दृढ़ कर सका। फलतः

काव्य-क्षेत्र में नवोन्मेष भी इसी युग में सामने आया। काव्य में जिसे हम भारतेन्दु-युग कहते हैं वह यही अर्द्ध-शताब्दी है। इस अर्द्ध-शताब्दी में काव्य क्षेत्र में वही पुरानी काव्य-भाषा ब्रज चलती रही और कवियों का एक बहुत बड़ा वर्ग रीति और भक्ति युगों के संस्कारों में बंधा रहा। भारतेन्दु ने समसामयिक विषयों पर कविता लिख कर काव्य को नई सुधारात्मक एवं राजनीतिक चेतना दी और उसे बदलते हुए जीवन से संपृक्त किया। अपनी सर्वश्रेष्ठ रचनाओं में वे रसनिष्ठा का आदर्श निबाहते रहे और भाषा की विशुद्धता तथा अनुभूति की सच्चाई के आग्रह ने उन्हें नई काव्य-भूमि दी। उन्हें हम रीति मुक्त कवियों और स्वच्छन्दतावादी कवियों के बीच में रख सकते हैं। काव्य को निर्वैयक्तिक साधना और शास्त्रीय मर्यादा से बाहर लाकर उन्होंने उसे व्यक्तित्वनिष्ठ किया और भावुकता से भरा। परन्तु उनकी महत्ता किसी नए काव्यादर्श के कारण उतनी नहीं है जितनी नई काव्य-भूमि के निर्माण के कारण। जातीयता, राष्ट्रीयता और सुधारवाद के तीन प्रमुख पक्षों को लेकर भारतेन्दु-युगीन काव्य सामने आता है। इसी युग में श्रीधर पाठक की रचनाओं में प्रकृति को आलम्बन के रूप में ग्रहण किया गया। नया कवि मध्यवर्ती समाज का सदस्य था जो पश्चिमी शिक्षा-दीक्षा के कारण जहां एक ओर पश्चिम के मानवतावाद से प्रभावित हुआ, वहां उसमें धीरे-धीरे राष्ट्रीय चेतना भी जाग्रत हुई जिसका एक पक्ष सुधारवाद था। यह मध्यवित्त समाज नागरिक-समाज था और नव विकसित नगरों के व्यस्त जीवन ने प्रतिक्रिया-स्वरूप प्रकृति की ओर उसे आकर्षित किया। पश्चिम के काव्य में प्रकृति की स्वतंत्र स्थिति थी। इसीलिए वह प्रकृति की ओर लौटा।

परन्तु बीसवीं शताब्दी के पहिले बीस वर्षों में काव्य की यह प्रगतिशीलता नष्ट हो गई। द्विवेदी-युग में आचार्य द्विवेदी के द्वारा जहां काव्य-भाषा का प्रश्न खड़ी बोली के पक्ष में हल हुआ, वहाँ उनके पौराणिक इतिवृत्तों के आग्रह और संस्कृत के वार्णिक छन्दों के प्रयोग के कारण स्वच्छन्दतावादी प्रवृत्तियां कुंठित रहीं। द्विवेदी जी गद्य-पद्य की भाषा में अन्तर नहीं देखते थे। फल यह हुआ कि इस युग में 'गद्य' ही अधिक लिखा गया, 'कविता' कम सामने आई। यह युग भाषा-संस्कार और छन्दों के क्षेत्र में प्रयोग का युग है और अब उसका केवल ऐतिहासिक महत्व ही रह गया है। भारतेन्दु-युग की सुधारात्मक प्रवृत्ति इस युग में भी चलती रही, परन्तु नीतिवाद की प्रधानता होने के कारण काव्यस्फुरण दुर्बल रहा।

प्रतिक्रियास्वरूप द्विवेदी-युग में ही जयशंकरप्रसाद और माखनलाल

चतुर्वेदी के द्वारा भावना और कल्पना के आग्रह के साथ स्वच्छन्दतावादी प्रवृत्तियों ने बल पकड़ा और छायावाद की नींव पड़ी। इस काव्यधारा का विस्तार १६१८ से १६३६ तक माना जा सकता है। आधुनिक हिन्दी कविता के ये बीस वर्ष काव्योन्मेष के सुन्दरतम वर्ष हैं। इनमें भाषा प्राथमिक प्रयोग की स्थिति से ऊपर उठ कर भाव और स्वप्न का वाहन बन गई और कवियों का सफ़जाग्रत मनोनिवेश एक अतीन्द्रिय कल्पना-लोक की सृष्टि करता है। छायावादी काव्य राष्ट्रीय क्षेत्र की वहिर्मुखी हलचलों की अंतर्मुखी वैयक्तिक अभिव्यक्ति है। उसने उन्नीसवीं शताब्दी के अंग्रेजी रोमांटिक कवियों, प्रमुखतः शैली के, प्रभाव को स्वीकार किया है और रवीन्द्रनाथ की सौन्दर्य-चेतना और रहस्य-भावना से भी वह प्रभावित है। रवीन्द्रनाथ का काव्य जहां कालिदासीय सौन्दर्यनिष्ठा का अभिनव संसार निर्मित करता है, वहां मध्ययुगीन वैष्णव कवियों, मर्मियों, संतों-सूफियों और लोकगायक बाउलों का विरह-मिलन-भाव, अध्यात्म-भाव की नवयुग की नई भाषा ग्रहण करता है। यूरोप की रोमांटिक काव्यधारा से भी वे रस ग्रहण करते हैं। इस प्रकार छायावाद स्वीय भूमि पर आधारित होते हुए भी हिन्दी से इतर अनेक प्रभावों से उद्दीप्त है। उसमें हिन्दी-भारती का कंठ पहिली बार फूटा है। उसे हम वयःसंधि का काव्य भी कह सकते हैं। एक अभिनव-आश्चर्य, विश्व के प्रति एक चमत्कृत दृष्टि, प्राकृतिक सौन्दर्य के प्रति रहस्यमय भावना और नारी के वन्दन-गीतों से यह काव्य मुखरित है। पिछले युगों की सामाजिक और सुधारात्मक चेतना कवि के व्यक्तिगत भावविलास के नीचे दब गई है और परवर्त्ती प्रगतिशील काव्य में ही वह भावना-सूत्रों के दुर्बल पढ़ जाने पर ही उभर सकी है। परन्तु राष्ट्रीय चेतना का सूक्ष्म प्रसार प्रसाद, पंत और निराला के प्रगीतों में स्पष्ट रूप से मिलता है और यही राष्ट्रीय भाव कवियों को अतीत के स्वर्ण-युगों की ओर भी प्रेरित करता है। छायावाद काव्य की प्रकृति मुख्यतः प्रगीतात्मक है, परन्तु निराला जैसे कवि के काव्य में क्लासिकल या मर्यादावादी काव्य-शैली का भी अभिनव योग है। 'राम की शक्ति-पूजा' और 'तुलसीदास' जैसी रचनाएं छायावाद के उत्कर्ष-काल में ही सामने आती हैं, परन्तु इस काव्य की श्रेष्ठतम देन कदाचित् कामायनी है जो प्राचीन ऐतिह्य को नवीन मनोवैज्ञानिक आलोक में देखती है और पश्चिम की भौतिक-वैज्ञानिक संस्कृति की एकांगिता की घोषणा करती हुई इच्छा, कर्म और ज्ञान की समन्वयात्म भूमिका पर शैवाद्वैतो मानववाद की प्रतिष्ठा करती है। इस रचना में हम छायावादी-वायवी-सौन्दर्य चेतना को

क्लासिकल सौन्दर्यदृष्टि से परिपुष्ट पाते हैं।

छायावादी काव्य के अंतर्गत रहस्यवादी काव्य की भी एक धारा प्रवाहित थी। प्रारंभ में अस्पष्ट विस्मय-भाव और 'गीतांजली' के प्रभाव को लेकर यह रहस्य-चेतना विकसित हुई। परन्तु निराला, प्रसाद और महादेवी में उसने हिन्दी की संत-वैष्णव-परम्परा से सहारा लिया और अपने दार्शनिक पक्ष को सुनिश्चित किया। इस काव्य-धारा का जैसा व्यक्तित्व महादेवी के काव्य में निखरा है वैसा आधुनिक भारतीय साहित्य में कहीं नहीं मिलता। स्वयं रविन्द्रनाथ के गीतों की रहस्यदृष्टि भी महादेवी की अंतरंग कोमलता और मर्म-मधुर गीति लहरी के सामने दुर्बल जान पड़ती हैं।

१९३६ के बाद हमें भावना और विचार के नए सूत्र काव्य-क्षेत्र में दिखलाई देते हैं और आकाशचारी कवि भावातिशयता छोड़ कर "जग के दाने" के प्रति आकर्षित हो जाता है। राष्ट्रीय क्षेत्र के नए समाजवादी और मार्क्सवादी आन्दोलनों की प्रतिक्रिया काव्य में उभरती है और विद्रोह, क्रांति एवं विध्वंस के सुर मुखर हो उठते हैं। नवनिर्माण के सपने अब वायवी नहीं रह पाते। वे "वादों" में बन्ध जाते हैं। इससे निश्चय ही काव्य-तत्व की हानि हुई है और बौद्धिकता बढ़ी है। वैचारिक काव्य निबन्ध-काव्य के रूप में सामने आया है और भावपक्ष की कलात्मक एवं सौन्दर्यमय अभिव्यंजना की ओर से कवि की दृष्टि हट गयी है। नवीन प्रगतिवादी काव्य रूस और चीन के नवोदित काव्य से प्रेरणा ग्रहण करता है और उसमें राजनैतिक और सामाजिक नारे ही काव्यबद्ध हो जाते हैं। परन्तु इस प्रगतिशील काव्य धारा के साथ ही प्रयोगवाद के रूप में स्वच्छन्दतावादी आन्दोलन का नया प्रसार भी सामने आता है जो फ्राइडीय मनोविज्ञान की उपलब्धियों और यूरोपीय प्रतीकवाद की प्रेरणा ग्रहण कर अंतर्जगत को स्वप्नमण्डित करता है और रूप-रंग की अभिनवसृष्टि के लिए प्रयोगशील बनता है। इस क्षेत्र में अज्ञेय, गिरिजाशंकर माथुर नरेश मेहता, भवानीप्रसाद मिश्र आदि कवियों की रचनाएं नए मानों का निर्माण करती हैं। 'तार - सप्तक' के कवियों में हम नई अभिव्यंजना की ओर जो आकुलता देखते हैं उसे केवल पश्चिम का प्रभाव कह कर टाला नहीं जा सकता। प्रत्येक युग में कवि की भाषा-छन्द-प्रतीक की खोज नया रूप ग्रहण करती है और प्रयोग की ड्योढ़ी को पार करके ही वह परम्परा से अपना सम्बन्ध जोड़ पाता है। 'नई कविता' के पिछले दो भागों से यह स्पष्ट है कि प्रयोग, प्रयोग के लिए भी किये जा रहे हैं और वैचित्र्य की मरु-भूमि में कवि के खो जाने की आशंका है। यह स्थिति

प्रतिक्रियात्मक है, परन्तु यह निश्चय है कि छायावादी काव्य की भांति यह काव्य भी प्रयोगों की दलदल से उभर कर आत्मविश्वास के नए चरण बढ़ाता हुआ स्वस्थ और निर्माणोन्मुख काव्य की ओर आगे बढ़ेगा। कविता में गतिरोध की पुकार प्रयोगवादियों के लिए बहुत बड़ी चेतावनी है। परन्तु भविष्य उनके साथ है, इसमें संदेह नहीं।

समसामयिक काव्य में और भी अनेक प्रवृत्तियों का संश्लेष है। छायावादी गीति-काव्य भाव और भाषा के क्षेत्र में नए प्रसार को ले कर आगे बढ़ा है। नए गीत लोक-कंठ से प्रभावित हैं और उनकी संवेदना धरती की गंध से आपूरित है उनमें सुचिक्कणता नहीं, स्वर-वैषम्य है। फिर भी उनमें हिन्दी का सुर अधिक सुरक्षित रह सका है। गीतों की यह नई धारा हिन्दी काव्य का प्रमुख अंग है। इसके अतिरिक्त प्रबन्ध और आख्यान के क्षेत्र में नए प्रयोग चल रहे हैं। बौद्धिकता के आग्रह के कारण इन क्षेत्रों में नई रचनाएं आई हैं, जो परम्परित ढंग का महाकाव्य होने का दावा करने पर भी महाकाव्य नहीं हैं। परन्तु चरित्रों और कथा-संदर्भों में नए पक्षों का उद्घाटन हुआ है और साकेत और कामायनी की परम्परा आगे बढ़ी है। गीति-नाट्य के क्षेत्र में उदयशंकर भट्ट के प्रयोग, काव्य-रूपक के रूप में पंत और भगवतीचरण वर्मा की रचनाएं, डा० धर्मवीर भारती के 'अंधा कुंआ' जैसे नए नाट्य-प्रयोग हमें विश्वास दिलाते हैं कि नई काव्य चेतना एकदम निष्प्राण और अमौलिक नहीं है। यह स्पष्ट है कि नया काव्य प्रयोगों की भूमि पर बढ़ता हुआ सशक्त अभिव्यंजना और मौलिक अभिनिवेश के क्षेत्र में पहुंच गया है और उसकी प्रगति को आशा और उत्सुकता से देखा जाना चाहिए। नई कविता अब नई न रह कर हमारी संवेदना-शिराओं के लिए परिचित स्पन्दन बनती जा रही है और वह धीरे धीरे अपनी दुर्बलताओं को पहचान कर उनके ऊपर उठना सीख रही है।

समसामयिक कविता की सबसे बड़ी दुर्बलता यह है कि उसने अपने महान आदर्शों, महत् संवेदनाओं एवं अतलस्पर्शी अनुभूतियों से नाता तोड़ दिया है। वह हमारे आज के विशृंखल और आदर्शच्युत जीवन का प्रतीक बन गयी है। निराला, पन्त, प्रसाद और महादेवी के काव्य में महत् की उपासना और अनुभूति की सच्चाई है और इसी से उनका काव्य जीवन के संदर्भ से अनुप्राणित है। इन कवियों ने अपनी भावुकता और शब्द-साधना के द्वारा व्यक्तिगत कल्पनाओं और अनुभूतियों को सार्वजनिक बना दिया है। इन्होंने शाश्वत और चिरंतन का पल्ला पकड़ा है, परन्तु उनके काव्य में

समसामयिक जीवन की वैचारिक और भावक भूमियों की सम्पूर्ण प्रतिच्छाया है और उनका सूक्ष्म आकलन है। उनके स्वप्न भी यथार्थ से अधिक वास्तव हैं। नया कवि स्वप्नों को छोड़ कर यथार्थ की अनुर्वरा भूमि पर ही विचरण करना चाहता है, परन्तु यथार्थ स्वप्न की वास्तविकता ग्रहण करके ही सार्थक हो सकेगा। अभी नवजीवन का यथार्थ नए काव्य का स्वप्न नहीं बन सका है और वह नए कवि के भाव-जगत को उतनी सम्पूर्णता और अतिशयता से नहीं छूता। आज का सत्य जब प्रज्ञा का सत्य-मात्र न रह कर भाव लोक का स्वप्न बन जाएगा, तभी नवीन कविता जन-जन के रस-कोष को स्पर्श करने में समर्थ होगी।

नया काव्य मुख्यतः मासिक पत्रों, वार्षिकियों, अनेकमुखी एवं व्यक्तिमुखी संकलनों और स्फुट रचनाओं के रूप में सामने आ रहा है। पुस्तकों के रूप में आने से पहले वह पत्रों के पृष्ठों पर उतरता है और बहुत कुछ वहीं तक परिमित रह जाता है। पिछले दिनों बारबर यह शिकायत रही है कि काव्य-ग्रन्थ पड़े रह जाते हैं। उनकी बिक्री नहीं होती। आज कवि को साहित्य-क्षेत्र में वह अग्रगामिता प्राप्त नहीं जो कथालेखक और समीक्षक को है। पश्चिम में भी यही स्थिति है और कवियों को जनता तक पहुंचने के लिए चमत्कारक या नाटकीय रूप से प्रयत्न करना पड़ रहा है। सच तो यह है कि सब कहीं कविता ने जन-सम्पर्क खो दिया है और वह प्रयोगों एवं दुश्चिन्ताओं में डूब गयी है। कदाचिद् नए जीवन की अभिव्यक्ति के लिए उपयुक्त माध्यम का निर्माण नहीं कर पा रही है। यह अवश्य है कि पश्चिम में इलियट, एज़रा पाउन्ड, काफ़का, स्टेफ़न स्पेन्डर आदि कवि नई काव्य-शैलियों के प्रवर्त्तक हैं और उन्होंने वैज्ञानिक युग के सन्दर्भों को रसनिष्ठ कर नई भाषा और नए प्रतीकों के सहारे काव्य को नई भूमि दी है, परन्तु वह भूमि रस-भूमि की अपेक्षा प्रज्ञा-भूमि ही अधिक है। फल यह हुआ है कि काव्य कूट बन गया है और उसका साधारणीकरण नहीं हो सका है। वह एक छोटे से संकीर्ण दायरे में घूमता है और एक प्रकार के गोष्ठी-काव्य को जन्म देता है। विद्रोह और ध्वन्स, प्रचार और प्रताड़न ही उसके लक्ष्य हैं, भीतरी और बाहरी निर्माण पर उसकी दृष्टि कम जाती है। वह साधना-विरल और चमत्कार जीवी है। आवाज़ आती है कि कविता का युग अब नहीं रहा और जीवन के गद्य ने उसका गला घोट दिया है। विज्ञान और काव्य की विरोधी प्रकृति की दुहाई दे कर बात समाप्त कर दी जाती है।

परन्तु कविता के क्षेत्र में गतिरोध की बात अंशतः ही सत्य है इससे पुष्ट केवल यही होता है कि आज का कवि जीवन के रस-कोषों तक नहीं पहुंच पाया है और युग की नई भौतिक चेतना को उच्च एवं सूक्ष्म अध्यात्म-भूमि नहीं दे सका है। वह युग के अनुरूप सौंदर्यमय प्रतीकों की खोज में असफल रहा है और उसने जीवन की असंगतियों को ही अपनी भावगत सीमा मान लिया है। इस चक्रव्यूह को उसे भेदना होगा। तभी वह स्वस्थ और प्रभावशाली काव्य की सृष्टि कर सकेगा। काव्य को जीवन की बहिर्मुखी प्रवृत्तियों से नहीं, उसकी अंतरंगी अनुभूतियों और निष्ठाओं से सम्पृक्त करके ही हम कविता का गौरव लौटा सकेंगे। आवश्यकता है नई सौंदर्यदृष्टि के निर्माण की, जो युग की असंगतियों और विरोधाभासों को पार कर भाव और भाषा के नए संतुलन और जीवन के निर्माणात्मक रूप-रंग पर बल दे। पश्चिम में विज्ञान का आतक है और भौतिक एवं राजनीतिक संस्कारों में कविता का रस शोषण किया है। पूर्व में कालचक्र की गति ऊर्ध्वमुखी है और उसका आत्मविश्वास अभी भी सुरक्षित है। उसकी आध्यात्मिक तथा सौंदर्यमुखी चेतना हतप्राण नहीं हुई है। युग करवटें बदल रहा है। हमारा मुख उगते हुए सूर्य की ओर है, अस्तांगत रवि की ओर नहीं। फिर समझ में नहीं आता की हम पश्चिम की विशृंखल आत्मकुण्ठित और प्रयोगविजड़ित काव्य-प्रेरणाओं का अनुकरण एवं अनुचरण क्यों करें और अपने रसबोध के अनुरूप अपनी काव्य-परम्परा को ध्यान में रखते हुए स्वस्थ नवनिर्माण की ओर क्यों नहीं बढ़ें। नया युग कवि के लिए एक बड़ी चुनौती है। उसे स्वीकार करके ही कवि को आगे बढ़ना होगा। वह जब विज्ञानमयी संस्कृति के आतंक से ऊपर उठ कर नए जीवन की आस्था के सहारे प्रयोग की दलदल से बाहर निकल कर सब के हृदयस्पन्दन से अपना स्पन्दन मिलायगा, तभी नई भावना के कमल काव्य-सरोवर में खिलेंगे तभी कवि और उसका काव्य मूर्धाभिषिक्त हो सकेगा। जब तक ऐसा सुयोग नहीं आता, तब तक प्रयोग-प्रयोग ही रहेंगे और उनकी रसात्मक भूमि उद्घटित नहीं हो सकेगी। नए जीवन के प्रति आस्थावान और कविता के भविष्य के सम्बन्ध में सुनिश्चित हो कर ही हम नई भाव-भूमियों को प्राप्त कर सकेंगे और हमारी अभिव्यंजना शैली मात्र न रह कर अनुभूति का पुंजीभूत प्रकाश-काय बन कर सार्थक हो सकेगी। कविता यदि व्यक्तिगत सौंदर्यानुभूति की सार्वभौमिक अभिव्यंजना है तो हमें उसकी पुनर्प्रतिष्ठा के लिए इसी मार्ग से लौटना होगा। काव्य

सम्पूर्ण दृष्टि है। वह युग की जागतिक अनुभूतियों और उपलब्धियों का समुच्चय है। विज्ञान काव्य का अंगी बन कर ही अपनी जड़ता से विमुक्त हो सकेगा। अध्यात्मनिष्ठ होने में ही उसकी सार्थकता है। मध्ययुग में काव्य जिस प्रकार धर्म और दर्शन को कर्मकाण्ड और तर्कवाद की भूमियों से ऊपर उठाकर सार्थक हुआ था, उसी प्रकार अर्वाचीन युग में यह विज्ञान को स्वप्नगर्भित करके ही सफल हो सकेगा। पश्चिम में विज्ञान और कविता का द्वन्द है। पूर्व की कविता इस द्वन्द से ऊपर उठ कर तात्कालिक मानव की सार्वत्रिक, सम्पूर्ण और असम्वृत अनुभूति को वाणी देने में प्रयत्नशील है। नई हिन्दी कविता अपने इस उत्तरदायित्व का निर्वाह करे तो सफल हो। ऋचा कहती है:-कविर्मनीषी परिभूः स्वयंभूः। प्रत्येक युग की तरह आज भी कवि को मनीषी, परिभूः और स्वयंभू होकर ही सार्थक होना होगा।

: १७ :

छायावादी काव्य-दृष्टि

छायावादी काव्य-दृष्टि को समझने के लिए हमारे पास तीन स्रोत हैं : स्वयं कवियों का अपनी काव्य-कला के सम्बन्ध में वक्तव्य, छायावाद के मान्य समीक्षकों की मान्यताएं तथा स्वयं काव्य। इन तीनों स्रोतों को परस्पर पूरक मानकर ही हम छायावादी काव्य-दृष्टि को सम्पूर्णता दे सकते हैं।

छायावादी कवियों में 'प्रसाद', माखनलाल, पन्त, निराला, महादेवी और दिनकर ने अपनी काव्य-प्रक्रिया और अपने काव्य-सिद्धान्तों के सम्बन्ध में विशदता से लिखा है। 'पल्लव' (१९२८) और 'परिमल' (१९३०) की भूमिकाओं से हमें पता चलता है कि छायावाद के आदि प्रवर्त्तक किस प्रकार नई काव्य-भूमि की ओर उन्मुख हुए और वे किस सीमा तक प्राचीन काव्य-भूमियों के प्रति विद्रोह लेकर चले। छायावाद के कवि का सबसे बड़ा विद्रोह काव्यानुशासनों के प्रति था, जो कवि के स्वच्छन्द एवं उन्मुक्त भाव-प्रवाह में बाधक होते थे। उस समय तक काव्य ही साहित्य का प्रतीक था। इसी से निराला की यह उक्ति कि 'साहित्य की मुक्ति उसके काव्य में दीख पड़ती है। इस तरह जाति के मुक्त प्रयास का पता चलता है। मन की एक खुली हुई प्रशस्त भूमि में विहार करना चाहता है'[1]—बहुत सार्थक उक्ति थी। निराला के लिए काव्य की मुक्ति का अर्थ था छन्दों के अनुशासन से मुक्ति।

और उनका मुक्त-काव्य इस मुक्ति का ही विजयी उद्घोष था। पिछले किसी युग में काव्य की ऐसी निर्बन्ध कल्पना सम्भव नहीं थी जो कवि-चित्त की उन्मुक्तता को इतना बड़ा श्रेय देती। इसीलिए निराला का काव्य नए युग की विद्रोही काव्यधारा का केन्द्रबिन्दु है।

'पल्लव' की भूमिका में हमें नए (छायावादी) कवि का विद्रोह कुछ अधिक मुखर दिखलाई देता है। वह भक्ति-काव्य और रीति-काव्य के अन्तर्वाह्य के प्रति पूर्णरूपेण विद्रोही है। पन्त ने स्पष्ट कहा है कि 'उस व्रज के वन में झाड़-झंकाड़, करील-बबूर भी बहुत हैं।' अधिकांश भक्त कवियों का समग्र जीवन मथुरा से गोकुल जाने में ही समाप्त हो गया। बीच में उन्हीं की संकीर्णता की यमुना पड़ गई। कुछ किनारे रह गए, कुछ उसी में बह गए।'[2] रीति-काव्य के शृंगार भाव में नए कवियों ने वासना की स्थूलता देखी और उन्होंने उसे देश के नैतिक स्वास्थ्य एवं कलात्मक अथवा भावात्मक विकास के लिए बाधा माना।[3] यही नहीं, रीति-काल का कला-पक्ष भी अपनी ही कृत्रिमता के कारण नए कवियों को अमान्य था।

इस प्रकार हम देखते हैं कि छायावादी काव्य-दृष्टि भक्ति-काव्य की स्थूल आध्यात्मिकता और रीति-काव्य की नायिकाभेद-विजड़ित रूप सृष्टि का विरोध लेकर क्षेत्र में आई और काव्य के बहिरंगों के विषय में वह एक स्वतन्त्र वृत्ति लेकर चली। भाव, भाषा और छन्दों के विषय में गतानुगत प्रयोग उसे अक्षम्य लगे। परवर्ती रीति-काव्य की अति आलंकारिता उसे स्पष्ट ही अग्राह्य थी। नए काव्य का आरम्भ एक नई भाषा (खड़ी बोली) को लेकर हो चुका था, परन्तु पन्त ने पल्लव' की भूमिका समाप्त करते हुए ठीक ही कहा है कि 'हम खड़ी बोली से अपरिचित हैं, उनमें हमने अपने प्राणों से संगीत अभी नहीं भरा। उसके शब्द हमारे मधु से सिक्त होकर अभी सरस नहीं हुए। वे केवल नाम-मात्र हैं, उनमें हमें रूप-रस-गंध भरना होगा। उनकी आत्मा से अभी हमारी आत्मा का साक्षात्कार नहीं हुआ, उनके हृत्स्पन्दन से हमारा हृत्स्पन्दन नहीं मिला।[5] इसमें सन्देह नहीं कि यद्यपि पन्त और निराला ने श्रीधर पाठक, मैथिलीशरण गुप्त और हरिऔध के काव्य को अपना पथ-प्रदर्शक माना है, वे द्विवेदी युग के काव्य को काव्य-विकास के मार्ग में अवरोधक मानते हैं। उनके लिए नया काव्य द्विवेदी युग के ही काव्य का विकास था, परन्तु द्विवेदीयुगीन काव्य की त्रुटियों से वे परिचित थे। उसमें कवि की आत्मा का आवेग नहीं था और रीतियुगीन परम्पराओं के विरोध में उसने शुष्क और नीरस गद्यात्मकता को काव्य मान

लिया था। नई काव्य-दृष्टि ने इस विषम स्थिति को परखा और उसने एक बार फिर काव्य की रसात्मकता प्रतिष्ठापित करनी चाही, परन्तु उसका कहना था कि यह रसात्मकता रीतिकाव्य की प्रथित भूमि पर न होकर नए युग की भाव-भूमि पर पल्लवित हो, नया काव्य नए युग के प्रतीकों पर आधारित हो और उसमें नए युग की सौन्दर्यनिष्ठा तथा स्वच्छन्दता प्रस्फुटित हो।

यह तो हुई विरोध और विध्वंस की बात। परन्तु छायावादी काव्य-दृष्टि के निर्माण के तत्व और भी अधिक महत्वपूर्ण हैं। वास्तव में केवल विध्वंस किसी काव्य धारा को श्रेय नहीं देता। नए काव्य-तत्वों और नई काव्य-भूमियों की खोज ही नई काव्यधारा को महत्व देती है।

छायावादी काव्य की सबसे महत्वपूर्ण खोज कवि या कलाकार के स्वतन्त्र निजी व्यक्तित्व की खोज थी। समस्त प्राचीन काव्य निर्वैयक्तिक था। छायावाद नया भावोन्मेष लाया और इसके साथ ही उसने कवि के स्वतन्त्र व्यक्तित्व की भी घोषणा की। कवि ने प्रथम बार 'मैं' शैली अपनाई। उसने बहिर्जगत को अपने रंग में रंग कर देखा और अपने अन्तर्जगत की अन्यतम भावनाओं को वाणी दी। सभी छायावादी कवियों में व्यक्तित्व पर आग्रह मिलता है। प्रसाद की 'आंसू' शीर्षक रचना, पन्त की 'आंसू' और 'उच्छ्वास' और निराला की बीसियों कविताएं कवि के व्यक्तित्व का विस्फोट मात्र हैं। राष्ट्रीय कवियों के काव्य में उनकी राष्ट्रीय आत्मा ही काव्य के रूप में ढल गई है। बच्चन के काव्य में व्यक्ति के सुख-दुःख, उसकी आशा-निराशा, उसके उपचेतन के द्वन्द्व इतनी सूक्ष्मता से आलेखित हैं कि उनका कुछ भी पाठक से छिपा नहीं रह जाता। इसी प्रकार महादेवी का रहस्यवादी काव्य उनके अन्तरंग के रंगों में और भी चमत्कारक हो उठा है। कवि के व्यक्तित्व की यह अन्यतम स्वीकृति छायावाद की विशेषता है। माखनलाल चतुर्वेदी (भारतीय आत्मा) के शब्दों में 'कागजों, दीवारों और पत्थरों पर तो सपने उतर आए हैं, उनकी आकृतियों और आकर्षणों ने वहां जन्म नहीं लिया। उनके जन्मस्थल को यशोदा की गोद तो है, हमारी कसमसाहट का बोझ सम्भालने वाली वह दृढ़ता, जिसकी सुलग से अनन्त जीवनों की एकत्र चिनगारियां एकांत में उतर पड़ती हैं, और लोहे से या बालों से बनी कलम को हिला देने पर किसी जाति का उल्लास, विलास, वेदना और बलिदान बन कर वह कागज, पत्थर या दीवारों पर उतर आती है।६ इस वक्तव्य में कवि या कलाकार के व्यक्तितत्व को उसकी सृष्टि से अभिन्न माना गया

है। कवि जीवन के प्रकटीकरण की भूख का अनुभव करता है : उसकी "निकम्मी घड़ियाँ कला के अस्तित्व का श्वाशोछ्वास हैं।"७ कदाचित् कवि कलाकार के व्यक्तित्व की उससे ऊंची स्थापना नहीं हो सकती जितनी माखनलाल जी के इन शब्दों में कि "कलाकार अपने युग की स्फूर्ति के प्रकाश के रंग में डूबी भगवान की प्राणवान् प्रेरक और कल्पक कूंची है।"८

यह दृष्टि काव्य को क्या समझती है, यह भी देखना आवश्यक है। यह सम्भव नहीं है कि सभी कवियों की काव्य-सम्बन्धी भावना एक जैसी हो। अतः हमें विभिन्न कवियों के मन्तव्यों का उल्लेख करते हुए सम्भाव्य समीकरण की ओर बढ़ना होगा। प्रसाद का कहना है कि "कवित्व वर्णमय चित्र है, जो स्वर्गीय भावपूर्ण संगीत गाया करता है। अंधकार का आलोक से, असत् का सत् से, जड़ का चेतन से और वाह्यजगत का अंतर्जगत से सम्बन्ध कौन कराती है? कविता ही न ?"९ इस प्रकार कविता में संगीत और चित्रकला की सीमाएं मिल जाती हैं। यह उसका बाह्यांग है। उसका अंतरंग इससे भी अधिक महत्वपूर्ण है। कविता बाह्य जगत से अंतर्जगत का सम्बन्ध कराती है। उसी के द्वारा प्राकृतिक सौंदर्य आत्मनिष्ठ हो कर पूर्णता को प्राप्त होता है। परन्तु इससे भी अधिक महत्वपूर्ण यह है कि कविता की भूमि मुख्यतः आध्यात्मिक है। वह चेतना का विषय है। वह आत्मा की दीप्ति है। प्रसाद के अनुसार मनन-शक्ति, वाक् शक्ति और मनन का सम्बन्ध वाक् से जोड़ने वाली सजीवता (प्राणशक्ति) आत्मा की तीन मौलिक क्रियाएं हैं। काव्य तीनों को सिमेट कर चलता है। मन के दो रूप हैं—संकल्प और विकल्प। विकल्प द्वारा वह तर्क-वितर्क करता है। काव्य का मूल संकल्प है, विकल्प नहीं। वह तर्कवाद पर आश्रित नहीं है। एक जानना विकल्प द्वारा होता है, और एक जानना संकल्प द्वारा। वैज्ञानिक विकल्प (विश्लेषण, तर्क और परीक्षा) द्वारा जानता है। कवि का जानना प्रत्यक्ष जानना है। इसी से उसे दृष्टा अथवा कवि कहा गया है। इस प्रकार काव्य प्रत्यक्ष दर्शन हुआ। उसका आधार है मन की संकल्पात्मक अनुभूतिस। जिस कवि में यह संकल्पात्मक अनुभूति जितनी अधिक होगी उतना ही बड़ा कवि वह होगा।

आगे चल कर प्रसाद यह भी बताते हैं कि अभिव्यक्ति और अनुभूति काव्य के दो पक्ष हैं, परन्तु अभिव्यक्ति अनुभूति से एकदम अलग नहीं है। "व्यंजना वस्तुतः अनुभूतिमयी प्रतिभा का स्वयं परिणाम है, क्योंकि सुन्दर अनुभूति का विकास सौंदर्यपूर्ण होता है। जहां आत्मानुभूति की प्रधानता है, वहीं

अभिव्यक्ति अपने पूर्ण रूप में सफल हो सकी है।[10] इस प्रकार प्रसाद काव्य में शुद्ध आत्मानुभूति की प्रधानता मानते हैं। वे कौशलमय आकारों या प्रयोगों के समर्थक नहीं हैं। इस प्रकार छन्द, भाषा शैली और अलंकार काव्य-शरीर बन जाते हैं और कवि की आत्मानुभूति उसकी आत्मा। संक्षेप में, प्रसाद कविता के स्वरूप को आध्यात्मिक मानते हैं, वे उसे बुद्धिवाद से किसी भी प्रकार सम्बन्धित करने के लिए तैयार नहीं हैं। वह अनुभूतिमयी कवि-प्रतिभा का परिणाम है। कवि अपने सम्पूर्ण व्यक्तित्व को लेकर काव्य-वस्तु से साक्षात्कार करता है।

पन्त के अनुसार 'कविता हमारे परिपूर्ण क्षणों की वाणी है। हमारे जीवन का पूर्ण रूप, हमारे अन्तरतम प्रदेश का सूक्ष्माकाश ही संगीतमय है। अपने उत्कृष्ट क्षणों में हमारा जीवन छन्द में ही बहने लगता है। उसमें एक प्रकार की सम्पूर्णता, स्वरैक्य तथा संयम आ जाता है। प्रकृति का प्रत्येक कार्य- एक अनन्त छन्द, एक अखण्ड संगीत में ही होता है।'[11] ये परिपूर्ण क्षण वे हैं, जब कवि की भावुक प्रतिभा और कल्पना पूर्णोन्मेष पर होते हैं। इसीलिए कवि कल्पना के सत्य को सबसे बड़ा सत्य मानता है और उसे ईश्वरीय प्रतिभा का अंश समझता है।

निराला की 'कविता'. 'कवि', 'स्मृति-चुम्बन', 'बनबेला' जैसी कविताओं और अनेक गीतों में कविता-सम्बन्धी उनकी भावना विजड़ित है। उनका कवि जहां एक ओर निर्मम संसार के सहस्रों वार झेलता हुआ, अपने सुख से मुंह मोड़ कर अपने आत्मदान से विश्व को उपकृत करता है, वहां दूसरी ओर वह कल्पना के अतीन्द्रिय लोक में विहार करने वाला और प्रकृति के महोल्लास का भावुक द्रष्टा है।

रामकुमार वर्मा के मत में 'आत्मा की गूढ़ और छिपी हुई सौंदर्य-राशि का भावना के आलोक में प्रकाशित हो उठना ही कविता है। जिस समय आत्मा का व्यापक सौन्दर्य निखर उठता है, उस समय कवि अपने में सीमित रहते हुए भी असीम हो जाता है।[12] वे छायावाद को हृदय की एक अनुभूति

१- 'परिमल' की भूमिका, पृष्ठ १७ २- 'पल्लव' की भूमिका, पृ० १४,७
३- वही, पृ० ६ ४- वही, पृ० १० ५- वही, पृ० ४५
६- साहित्य-देवता (अंगुलियों की गिनती की पीढ़ी) पृ० २०
७- वही, पृ० २३ ८- वही, पृ० २६ ९- स्कन्दगुप्त नाटक में मातृगुप्त १,३
१०- काव्य, कला और अन्य निबंध, पृ० १६
११- 'पल्लव' की भूमिका, पृ० २४ १२- आधुनिक कवि, पृ० ५

मानते हैं जो भौतिक संसार के क्रोड़ में प्रवेश करके अनन्त जीवन के तत्व ग्रहण करती है। प्रसाद की भांति रामकुमार भी छायावाद को आध्यात्मिक मानते हुए जीवन में दैवी सत्ता का प्रतिबिंब खोजते हैं।

माखनलाल काव्य को कवि के व्यक्तित्व का ही प्रसार मानते हैं। कवि-कर्म में कवि का व्यक्तित्व अनजाने ही उभर आता है। इस दृष्टि से काव्य और कवि दो विभिन्न सत्ताएं नहीं हैं। स्वच्छन्दतावादी काव्य की यह बड़ी विशेषता है कि कवि और काव्य उसमें एकाकार हो जाते हैं। 'कवि विषय का मोल-तोल नहीं कूतता, वह उसी समय लेखनी उठाता है, जब अपनी वेदना को लिखने का भार उससे नहीं सम्भलता'[13] इस प्रकार माखनलाल जी काव्य में भावुकता को प्राधान्य देते हैं। वे छायावाद को भंगिमा मात्र नहीं समझते। वह वेदान्त से भिन्न, उससे बड़ी वस्तु है।

महादेवी ने छायावाद पर शास्त्रीय ढंग से विस्तारपूर्वक विचार किया है। वह कविता को परिभाषा में बांधने में असमर्थता दिखलाती हैं। परन्तु छायावाद के सम्बन्ध में उनकी मान्यताएं सुस्पष्ट हैं। वे उसे नए छन्द-बन्धों में सूक्ष्म सौंदर्यानुभूति का प्रकाशन मानती हैं। उनके अनुसार छायावाद स्थूल की प्रतिक्रिया में उत्पन्न हुआ। इसीलिए इतिवृत्तात्मक यथार्थ चित्र नहीं दिए। छायावाद ने रूढ़िगत अध्यात्म या वर्गगत सिद्धान्तों का संचय न देकर केवल समष्टिगत चेतना और सूक्ष्म सौन्दर्यसत्ता की ओर हमें जागरूक किया। वह मध्यवर्ग का काव्य था, अतः उसकी सामाजिक कुण्ठाओं के कारण उसके भाव-जगत में निराशा को भी स्थान मिला। महादेवी छायावाद को संश्लिष्ट आन्दोलन मानती हैं, जिसके अन्तर्गत अनेक वाद' (दृष्टिकोण) हैं।[14] छायावाद के अन्तर्गत दुःखवादी दृष्टिकोण की उन्होंने विस्तृत व्याख्या की है।[15] उनका विचार है कि छायावाद का जन्म बहिर्गत सामाजिक असन्तोष के अन्तर्गत रूप में हुआ और इस विद्रोह के कारण उसे सामाजिकता का अधिकार ही नहीं मिल सका। फलतः उसने आकाश, तारे, फूल, निर्झर आदि से आत्मीयता का सम्बन्ध जोड़ा और उसी सम्बन्ध को अपना परिचय बनाकर मनुष्य के हृदय तक पहुंचने का प्रयत्न किया।[16]

दिनकर का आलोचनात्मक दृष्टिकोण उस समय की चीज है, जब वह 'छायावाद' से 'प्रगतिवाद' की ओर बढ़ चुके थे। इसीलिए वह सुन्दर को काव्य का प्रेय मानते हैं और उपयोगिता को उसका श्रेय, एवं दोनों के ग्रन्थि बन्धन को सत्काव्य के लिए आवश्यक समझते हैं। फिर भी अन्य छायावादियों की तरह वह कवि-प्रतिभा को एक अनिर्वचनीय और ईश्वरीय

विलक्षण तत्व कहते है, जिसका सन्तोषप्रद विश्लेषण अभी तक नहीं हो सका ।[17]

बच्चन कवि को विश्वजनीन शाश्वत भावों का चितेरा मानते हैं। उनके शब्दों में : 'कवि का हृदय केवल कवि का हृदय नहीं है । उसकी हृदय-गोद में त्रिकाल और त्रिभुवन सोते रहते हैं, सृष्टि दूध मुँही बच्ची के समान क्रीड़ा करती है और प्रलय नटखट बालक के समान उत्पात मचाता है । उसका हृदयांगण गगन के गान, समीरण के हास और सागर के रोदन से प्रतिध्वनित हुआ करता है । उसके हृदय-मन्दिर में जन्म-जीवन-मरण अविरल गति से नृत्य किया करते हैं ।[18]

ऊपर की विवेचना से यह स्पष्ट है कि सभी छायावादी कवि काव्य को एक असाधारण, लोकोत्तर एवं आध्यात्मिक सर्जन प्रक्रिया के रूप में देखते हैं और उनके लिए कवि एक विशेष प्राणी है । कवि का अन्तरतम उनके लिए रहस्यमय है और काव्य-प्रक्रिया को वह अनिर्वचनीय मान कर मनुष्य के शेष कार्य-व्यापारों से उसे एकदम भिन्न मानते हैं । कवि की यह आध्यात्मिक लोकोत्तर, रहस्यमय व्याख्या कवि के व्यक्तित्व को देवत्व प्रदान कर देती है और इसीलिए काव्य कौशल-मात्र या सचेतन कार्य-व्यापार न रह कर अलौकिकता-मण्डित बन जाता है ।

छायावाद के मान्य समीक्षकों में सर्वश्री नन्ददुलारे वाजपेयी, हजारी प्रसाद द्विवेदी, डा० नगेन्द्र, गंगाप्रसाद पाण्डेय, शम्भूनाथसिंह, डा० सुधीन्द्र और डा० रामविलास शर्मा अग्रगण्य हैं । इलाचन्द जोशी एवं डा० देशवराज प्रभृति अनेक विद्वानों ने भी इस काव्य-धारा के सम्बन्ध में बहुत कुछ कहा है । उनकी मान्यताओं पर भी हमें विचार करना होगा । ये मान्यताएं बहुत बाद में आई हैं और महादेवी जी की यह शिकायत ठीक ही है कि छायावाद को तो शैशव में कोई सहृदय आलोचक नहीं मिला ।

इन समीक्षकों में वाजपेयी जी पण्डित रामचन्द्र शुक्ल की मान्यता का विरोध करते हुए कहते हैं 'छायावाद को हम पण्डित रामचन्द्र शुक्ल

१३- 'साहित्य-देवता' पृ० १

१४- आधुनिक कवि, भाग १, पृ० १०, १४, १५, १६, १८

१५- 'रश्मि' की भूमिका में

१६- 'दीपशिखा' भूमिका, पृ० १६

१७- "मिट्टी की ओर' पृ० १२५,१४७

१८- 'मधुशाला' (संबोधन) पृ० १४

१८- 'जयशंकर प्रसाद' (१६४०) भूमिका, पृ० १२

जी के कथनानुसार केवल अभिव्यक्ति की एक लाक्षणिक प्रणाली विशेष नहीं मान सकेंगे। इसमें एक नूतन सांस्कृतिक मनोभावना का उद्‌गम है और एक स्वतंत्र दर्शन की नियोजना भी। पूर्ववर्त्ती काल से इसका स्पष्टतः पृथक् अस्तित्व और गहराई है।[19] डाक्टर हज़ारीप्रसाद द्विवेदी इस काव्य में परिपाटिविहित और परम्परामुक्त रसदृष्टि के स्थान पर कवि की आत्मानुभूति आवेग-धारा और कल्पना का प्राधान्य देखते हैं। "कल्पना" का अविरल प्रवाह और निविड़ आवेग, ये दो निरंतर घनीभूत मानसिक वृत्तियां ही इस व्यक्तित्वप्रधान साहित्यिक रूप की प्रधान जननी हैं परन्तु यह नहीं समझना चाहिए कि ये दोनों एक दूसरे से अलग रह कर काम करती हैं।[20] शांतिप्रिय द्विवेदी छायावाद में कवियों की बाह्य चेतना और अंतश्चेतना का एकीकरण देखते हैं, यद्यपि उनका यह भी कहना है कि छायावाद के प्रमुख कवियों ने "बाह्य चेतना को तो गौण रूप में ग्रहण किया, अंतश्चेतना को प्रमुख रूप में।"[21] वे छायावाद को हिन्दी काव्य-परम्परा का ही विकास मानते हैं। डा० नगेन्द्र उसमें स्थूल से विमुख हो कर सूक्ष्म के प्रति आग्रह और नवजीवन के स्वप्नों और कुंठाओं का अंतर्मुखी और वायवी सम्मिश्रण ढूंढ़ते हैं और प्राकृतिक प्रतीकों के द्वारा भावोन्मेष की अभिव्यंजना को उसका कला-पक्ष स्थिर करते हैं।[22] डा० रामविलास शर्मा का उनके इस दृष्टिकोण से मतभेद है। वे इस काव्य को चेतन मन की भूमि पर ही देखना चाहते हैं और उनके मत में उसमें जीवन की कुंठा नहीं, भविष्य की मंगलाशा ही अधिक पल्लवित हुई हैं।[23] डा० देवराज छायावाद के कड़े समीक्षक हैं और उनकी "छायावाद का पतन" पुस्तक में हम उनके इसी रूप से परिचित होते हैं परन्तु अन्य स्थानों पर उन्होंने इस काव्य की एकांगिता का ही अधिक विरोध किया है। उसमें उन्हें जीवन के केवल वैयक्तिक पक्षों ही की विवृत्ति मिलती है। सामाजिक, नैतिक और मानवीय सम्बन्धों की विवृत्ति शिथिल है। फलतः काव्य-भूमि का प्रसार अधिक नहीं है।[24]

यह स्पष्ट है कि छायावाद के सम्बन्ध में कवियों की भांति आलोचकों की भी स्थापना एक नहीं है। आवश्यकता इस बात की है कि हम इस काव्य-धारा को उसके ऐतिहासिक परिपार्श्व में देखें और उसे अखण्डित इकाई न मान कर अनेक भावसंवेदनाओं और काव्य-प्रक्रियाओं की संश्लिष्ट समझें। छायावाद-काव्य का अंतरंग प्राचीन काव्य-धारा की अपेक्षा अधिक व्यापक और संप्राण है। बहिरंग भी अंतरंग रंग कर नई वर्णच्छटाओं से विभूषित हो गया

है। कवि के व्यक्तित्व के माध्यम से बहिर्जगत अन्तर्जगत से समीकृत हो सका है और इसीलिए यह सारा काव्य विषयी-प्रधान है। कवि के अपने चेतन अचेतन, सुख-दुःख, आशा-आकांक्षा, हास-अश्रु ही कहीं अभिधा द्वारा, कहीं प्रतीक भाषा द्वारा, कहीं लक्षणा द्वारा काव्य की रंगरेखाओं में बंध गए हैं। निराला और बच्चन के काव्य में छायावादी काव्य की यह व्यक्ति-निष्ठा सबसे प्रमुख रूप में सामने आती है। परन्तु यहां हमें व्यक्तित्व के बहिरंग ही मिलते हैं। व्यक्तित्व की अंतरंग सृष्टि पंत और महादेवी के काव्य में परिपूर्ण रूप से मिलती है।

यह काव्य स्थूल आध्यात्मिकता, वासनात्मक शृंगार और इतिवृत्तात्मक सुधार भावना का विरोध करता है और पूर्ववर्त्ती काव्य की निर्वैयक्तिकता के समकक्ष कवि के व्यक्तित्व को उभार कर रखता है। कवि का अंतर्जगत उसके बहिर्जगत को भी नाना छवियों में रंग डालता है और हमें जो रूपसृष्टि मिलती है वह प्राकृतिक रूप-सृष्टि से भिन्न और विशिष्ट है। काव्य के अंतरंग में बड़ा परिवर्त्तन हो गया है। मनुष्य की महान महिमा का उद्घोष पहले-पहल इसी काव्य में हुआ है। और मानवतावाद से प्रभावित होकर कवि ने दुःखों, उत्पीड़नों के विरोध में अपनी वाणी का उपयोग किया है। कवि का मानस वहिर्जगत के द्वन्दों से समझौता नहीं करता और उसका उद्वेग अनेकानेक भाव-तरंगों और कल्प विधानों में इतनी शक्ति से प्रवाहित होता है कि पाठक उस प्रवाह में बह जाता है। चित्त की यह उन्मुक्तता और कवि की यह संवेदनशीलता ही नये काव्य (छायावाद) को विशिष्ट रूप दे सकी है। प्रकृति, मानव, परोक्ष, अंतस् का छायालोक, स्वप्न-कल्प और राष्ट्रभाव कवि के मन में जिन सूक्ष्म संकल्पों और भाव-समष्टियों का निर्माण कर सके हैं, वे ही छायावादी काव्य में निःप्रयास आलेखित हैं। छन्द भाषाशैली और अलंकार-विधान के क्षेत्र में कवि ने अपनी भावना के अनुरूप परिवर्तन किए हैं। जिस भावोन्मुक्ति को उसने अपने काव्य के अंतरंग में प्रतिष्ठित किया है, वही छन्दों में तुकान्त, मुक्त-काव्य, विषम चरण-बंध आदि में नियोजित हुई

१९- 'रोमांटिक साहित्य' देवराज उपाध्याय, की भूमिका, में, पृ० १

२०- 'संचारिणी' (छायावाद का उत्कर्ष) पृ० १७८-१७९

२१- काव्य-चिन्तन, पृ० ५३-९

२२- 'महादेवी वर्मा' (सं० शची-रानी गुर्टू) पृ० ३०१-३०५

२३- साहित्य-चिन्ता' (छायावादी कवियों का कृतित्व) पृ० १९७

२४- ए० ओ० लवज्वाय एसेज़ इन द हिस्ट्री आव आइडियाज़ (१९४८),

मनोवैज्ञानिक परीक्षण के अनुसार दोनों काव्यधाराओं में समान रूप से कवि के अवचेतन मानस का चेतन मन के प्रति विद्रोह स्पष्ट रूप से आभासित है। इन धाराओं के कवि अपने मूर्त्त विधान के लिए चेतन की अपेक्षा अवचेतन के ही अधिक आश्रित रहते हैं और वे वस्तुजगत से सामंजस्य स्थापित करने में असमर्थ होकर अंततः प्रकृति, कल्पनानिष्ठ सौन्दर्य, आदर्श राजतंत्र आदि विषयों की ओर संक्रमित होते हैं। यह एक प्रकार का पलायन ही है। साहित्य में यह भावस्थिति अधिक दिनों तक नहीं टिक पाती और वस्तु जगत के आग्रह से कवि एक बार फिर अतीन्द्रिय भाव-लोक से नीचे उतर कर जीवन के दैनंदिन समतल पर प्रतिष्ठित हो जाता है। उपचेतन का विस्फोट समाप्त हो जाता है और काव्य चेतन मानस की बौद्धिक प्रक्रिया से समाविष्ट हो कर नया रूप ग्रहण कर लेता है। समसामयिक प्रगतिवादी और प्रयोगवादी काव्य में यही बौद्धिक प्रक्रिया महत्वपूर्ण हो उठी है।

हैं। भाषा-शैली के क्षेत्र में सभी कवि एक ही प्रकार से सजग नहीं हैं। एक ओर पंत की तत्संबंधी जागरूकता और सौन्दर्यनिष्ठा हमें मिलती हैं तो दूसरी ओर माखनलाल और दिनकर की स्वच्छन्दता और कभी-कभी अराजकता भी मिलती हैं। परन्तु यह स्पष्ट है कि कवि अपनी भाव-सृष्टि के अनुरूप भाषा खोजने में लगा है और सब कहीं वह सफल ही हुआ है। अंग्रेजी रोमांटिक काव्य में भी वर्डस्वर्थ, शैली, कीट्स और स्विनवर्न में हम भाषा-शैली की यही विविधता देखते हैं। यही बात अलंकारविधान के क्षेत्र में है। छायावादी कवियों ने निरालंकृत, भाव-संवलित मुक्ति छन्द से ले कर अत्यंत कलात्मक, अलंकरणप्रधान गीतसृष्टि तक एक बड़ी काव्य-राशि हमें दी है। परन्तु यह स्पष्ट है कि कवि के लिए अब काव्य वचन-भंगिमा या कौशल मात्र नहीं है। वह अलंकारों में बंधना नहीं चाहता। उसकी कल्पना अलंकारों के इन्द्रजाल को बेध कर मुक्त भाव-गगन में उन्मुक्त विहार करती है। पंत के सूक्ष्म भाव कल्प से ले कर निराला के सुश्रृंखलित मूर्त्तिविधान तक कल्पना का व्यापक विस्तार हमें छायावाद में मिलता है। संक्षेप में, छायावादी काव्यदृष्टि व्यक्तिनिष्ठ, भावुक, अनुशासन विद्रोही, कल्पनाप्रिय और मूर्त्त चित्रप्रधान है। परन्तु संपूर्णतः मानववादी होते हुए भी वह सामाजिक प्रक्रिया का स्पष्ट बोध न होने के कारण अस्पष्ट और रहस्यमयी ही रह गई है। फिर भी उसने अंतस् के अजस्र स्रोतों को उन्मुक्त किया है और आधुनिक हिन्दी काव्य को नई दिशाएं दी हैं।

छायावादी काव्यदृष्टि और उन्नीसवीं शताब्दी के अंग्रेजी रोमांटिसिज्म में मूल स्रोतों और उपादानों की विभिन्नता होते हुए भी बहुत बड़ा साम्य है। छायावाद की भांति रोमांटिसिज्म की व्याख्या भी अनेक प्रकार से हुई है। उसे बुद्धि - भावना का विद्रोह (आर्नाल्ड), रुग्ण साहित्य (गेटे), अपरिकल्पित रूप से असंतुलित (ह्यू गो) मध्ययुग की पुनरावृति (हेन), सौन्दर्य में अद्भुत का संयोग (वाल्टर पेटर), साहित्यिक अहं (ब्रूनेतेयर) और वाह्यानुभूति से हट कर आभ्यंतरिक पक्ष पर बल देने वाला साहित्य (लेसेल ऐवकाम्बी) कहा है। प्रो० लवज्वाय ने यह स्पष्ट कहा है कि वास्तव में रोमांटिसिज्म को एक निश्चित इकाई या अखण्डनीय वस्तु मानना एक गलत दृष्टिकोण है, यह शब्द ही भ्रामक है और इसमें अनेक काव्यदृष्टियां समाहित हैं।[25] छायावाद के सम्बन्ध में भी यही कहा जा सकता है। यह अवश्य है कि

२५- एफ० एल० लूकास लिटरेचर एंड साइकालोजी, पृ०९९-१००

: १८ :

कामायनी की पृष्ठभूमि

प्रसाद की रचनाओं में 'कामायनी' का अत्यंत महत्वपूर्ण स्थान है। इस रचना में जहां हमें एक ओर उनके काव्य का युग-प्रवर्तक रूप दिखलाई देता है, वहां दूसरी ओर उनके जीवन-चिन्तन के अनेक स्तर भी हमें मिलते हैं। 'कामायनी' की पृष्ठभूमि के लिए हमें प्रसाद के काव्य-व्यक्तित्व के दो पक्षों पर विचार करना आवश्यक है। इस रचना में प्रसाद कथासूत्र के लिए वैदिक और पौराणिक आधारों को ग्रहण करते हैं और कथा की योजना इस प्रकार करते हैं कि उसमें मानव-मनस्तत्व का सूक्ष्म आकलन स्वतः हो जाता है और हम मानवीय प्रगति के ऐतिहासिक विकास का एक सर्वांगपूर्ण चित्र भी देख पाते हैं। इस प्रकार 'कामायनी' अपनी पृष्ठभूमि में वैदिक और पौराणिक अनुश्रुतियों और आधुनिक मनोवैज्ञानिक खोजों को पूर्ण रूप से समेट लेती है। उसमें प्रसाद के गम्भीर अध्ययन, जीवन-चिन्तन और उनकी जीवन-व्यापी काव्य-साधना का ऐसा समाहार हमें मिलता है कि हम उनकी प्रतिभा से आश्चर्यान्वित हो जाते हैं। इस रचना के द्वारा कवि ने आधुनिक युग को, नई भाषा में, नया जीवन-सन्देश दिया है और इस सन्देश की रूप-रेखाओं को अनुभूति और कल्पना के रंगों से संवारा है। प्रसाद के व्यक्तित्व की तरह यह रचना बहुमुखी बन जाती है तथा उसे हमें कई पहलुओं से छूना होता है।

प्रसाद आधुनिक हिन्दी काव्य की स्वच्छन्दतावादी धारा के प्रवर्तक हैं। इस धारा का पहला रूप हमें उनकी प्रारम्भिक ब्रजभाषा-कविताओं में ही मिल जाता हैं। इन कविताओं का रचनाकाल १९०५ से १९१३ तक है। वे चित्राधार में संग्रहीत हैं। खड़ी बोली की स्वच्छन्दतावादी रचनाएं 'कानन-कुसुम', 'झरना' और 'लहर' में संकलित हैं। संख्या में ये रचनाएं अधिक नहीं हैं परन्तु इनमें एक नया काव्योन्मेष मिलता है। ये रचनाएं द्विवेदी-काव्यधारा का विरोध सूचित करती हैं और विषय एवं शैली में एक नई काव्यदृष्टि लेकर चलती हैं। इस नई काव्य दृष्टि को ही अधिक उपयुक्त नाम न मिलने के कारण 'स्वच्छन्दतावाद' या 'छायावाद' कह दिया गया है। स्फुट रचनाओं के अतिरिक्त प्रसाद की एक शृंखलित रचना 'आंसू' भी है। वास्तव में इसी रचना में स्वच्छन्दतावाद को पहली बार स्थायीत्व प्राप्त होता है। 'कामायनी' में हम स्वच्छन्दतावादी काव्य-प्रवृति का सर्वोच्च विकास पाते हैं। पूर्ववर्ती रचनाओं में जो प्रवृतियां अस्पष्ट थीं वह अब यहां रेखाओं से भास्वर हो उठी हैं। एक तरह से 'कामायनी' प्रसाद के स्वच्छन्दतावादी काव्य की चरम परिणति है।

स्वच्छन्दतावाद से हमारा क्या तात्पर्य है? यह हमें पहले स्पष्ट कर देना होगा। पश्चिमी विद्वानों ने काव्यदृष्टि और काव्यशैली के दो विभाग किए हैं। वास्तव में ये दो विभाग कवि-मानस के विभिन्न प्रसार को सूचित करते हैं। जहां कवि किसी गम्भीर पौराणिक विषय को उठाता है अथवा जीवन की गम्भीर व्याख्या उपस्थित करता हुआ संयत भाषा-शैली में अपना मन्तव्य उपस्थित करता है वहां मर्यादावादी अथवा क्लासिकल काव्य की सृष्टि होती है। इस प्रकार की रचनाओं में कवि का दृष्टिकोण बहुत कुछ महाकाव्यात्मक रहता है और वह आत्मानुभूति न देकर सार्वभौमिक संवेदना को ही हमारे सामने उपस्थित करता है। विषय और शैली दोनों की दृष्टि से यह काव्य स्वच्छन्दतावादी काव्य से भिन्न है।

स्वच्छन्दतावादी काव्य में अनुभूति और कल्पना के तत्वों की प्रधानता रहती है और काव्य-शैली तथा भाषा के प्रयोग में भी स्वच्छन्दतावादी कवि बहुत कुछ स्वतन्त्र रहता है। वह सब की बात न कह कर अपनी बात कहता है। उसके काव्य में भले ही वह परम्परा-पुष्टि और प्रौढ़ता न हो, यह निश्चय है कि उसमें रचनाकार का व्यक्तित्व इस आकर्षक ढंग से उभर आता है कि हम चमत्कृत हो उठते हैं। स्वच्छन्दतावादी कवि अपने ही भीतर निर्माण के सारे तत्व खोजता है। उसकी भावना में रंग कर काव्य के परम्परागत उपकरण

नवीन हो उठते हैं। वास्तव में यह जीवन-दृष्टियों की विभिन्नता है।

'कामायनी के' सम्बन्ध में बहुधा यह प्रश्न किया जाता है कि वह महाकाव्य है या नहीं। और यदि वह महाकाव्य है तो प्राचीन महाकाव्यों से किस प्रकार भिन्न है। साहित्य-दर्पण में महाकाव्य की जो परिभाषा है वह 'कामायनी' पर पूरी नहीं उतरती, परन्तु यह आश्चर्य की बात नहीं है। 'रामचरित-मानस' हिन्दी का श्रेष्ठ महाकाव्य कहा जा सकता है। परन्तु वह भी कदाचित् इस परिभाषा पर पूरा नहीं उतरेगा। साहित्य-दर्पणकार के सामने संस्कृत महाकवियों की रचनाएं रही होंगी। उन्हीं के आधार पर उसने महाकाव्य की सामान्य विशेषताओं का संकलन किया और उन्हें परिभाषा में बांधा। नई प्रवृत्तियों और नई आवश्कताओं ने नये ढंग के महाकाव्यों की सृष्टि की। मध्ययुग के वैष्णव आन्दोलन ने पौराणिक रामकथा के आधार पर महाकाव्य की एक रूप रेखा स्थिर की। तुलसी के रामचरित मानस में हम एक नवीन कोटि का महाकाव्य पाते हैं। उसमें प्राचीन संस्कृत महाकाव्यों की सर्गवद्धता और नैसर्गिक चित्रपटी का विस्तार तो नहीं है परन्तु उदात्त जीवन-दर्शन और एक सार्वभौम संवेदना के कारण तुलसी का काव्य महाकाव्य के उच्च धरातल पर ही ठहरता है। उसमें महाकाव्यात्मक गंभीरता और काव्य-शैली के संयम और प्रौढ़त्व का अभाव नहीं है। इस प्रकार वह प्राचीन संस्कृत महाकाव्यों की शैली से हट कर भी महाकाव्य के अतिरिक्त और कुछ नहीं है।

परन्तु 'कामायनी' के सम्बन्ध में यही बात नहीं कही जा सकती। उसकी संपूर्ण प्रकृति ही महाकाव्य की प्रकृति से भिन्न है। इसमें संदेह नहीं कि उसमें भी एक उदात्त जीवन-दृष्टि मिलती है और ज्ञान, कर्म एवं भाव के समन्वय और अद्वैतमूलक आनन्दवाद के रूप में आधुनिक जीवन की विडम्बनाओं के लिए श्रेष्ठ समाधान हमें मिल जाते हैं परन्तु महाकाव्यों की तरह ये समाधान कथासूत्रों में न पिरो कर बहुत कुछ सूक्ति में उपस्थित किए गए हैं और उनके लिए मानव-जीवन की जो चित्रपटी उभारी गई है, वह अत्यन्त विरल और अस्पष्ट है। 'कामायनी' में हमें कथा-संगठन का वह सौष्ठव नहीं मिलता जो महाकाव्यों की विशेषता है और न चरित्रों के घात-प्रतिघात हमें मिलते हैं। उसमें प्रगीतात्मक तत्वों की प्रधानता है और कथानक के बीच में रुक-रुक कर ऊहात्मक और भावना प्रधान पंक्तियों को सजा कर रखने की स्वच्छन्दतावादी प्रवृत्ति भी हमें बराबर मिलती है। यदि 'कामायनी' को महाकाव्य की श्रेणी में ही रखना हो तो उसे प्रगीतात्मक महाकाव्य

कह सकते हैं।

इस प्रकार की अनेक रचनाएं हमें पश्चिम में मिलती हैं। इससे 'कामायनी' छोटी नहीं हो जाती। केवल यह सिद्ध होता है कि महाकाव्य के अनेक उपकरणों का संकलन इस रचना में होने पर भी उसकी शैली महाकाव्यों की शैली से भिन्न है और उसमें अनुभूति-तत्व, ऊहात्मक-कल्पना और प्रगीतात्मकता का प्राधान्य है। वह निश्चय ही एक नई कोटि की रचना है। उदाहरण के लिए, 'लज्जा' शीर्षक सारा सर्ग ही प्रगीतात्मक है। कथा-विकास में उससे कोई भी सहायता नहीं मिलती। वास्तव में वह 'कामायनी' से किसी भी प्रकार सम्बन्धित नहीं है और उसे एक स्वतंत्र अंश के रूप में ग्रहण किया जा सकता है। उसमें नारी के मनस्तत्व के सूक्ष्म और कोमल अंगों को उभारा गया है और भावना एवं सुकुमारता की दृष्टि से वह अप्रतिम है, परन्तु मानव के जीवन-विकास को चित्रित करने वाले महाकाव्य में उसे स्थान नहीं मिलना चाहिए था। मनु की चिन्ता, उनकी जिज्ञासा, श्रद्धा का सौन्दर्य और मनु के हृदय में प्रीति (काम) के जन्म जैसे प्रसंगों की कल्पना और भावुकता का विस्तार ही अधिक है। महाकाव्य की विवरण-प्रधान गम्भीर संयत-शैली का उपयोग कवि नहीं करता। सच तो यह है कि संपूर्ण रचना अनेकानेक भावुक और कल्पना प्रधान प्रसंगों का गुम्फन जान पड़ती है और उसमें प्रसंगों एवं मंतव्यों का वह क्रमागत सम्बन्ध स्थापित नहीं हो सका है जो महाकाव्य की विशेषता है।

यदि हम "कामायनी" को महाकाव्य कह सकते हैं तो केवल इसीलिए कि उसमें एक उदात्त जीवन-दर्शन हमें मिलता है और मानव-जीवन एवं प्रकृति के कुछ महत्-चित्र हमारे सामने आते हैं। उसका महाकाव्यत्व उसके मंतव्य में है, उसकी शैली और भाषा में नहीं। प्रसाद की मधुमयी-भाषा और उनके प्रतीकवाद का सबसे सुन्दर रूप हमें "कामायनी" में ही मिलता है। कल्पना का जैसा सूक्ष्म और विविध विस्तार हमें यहां मिलता है वैसा स्वयं प्रसाद की अन्य रचनाओं में भी नहीं। परन्तु इससे "कामायनी" प्रसाद की काव्य-रचनाओं में प्रारम्भ से ही विकसित स्वच्छंदतावादी प्रवृत्तियों का विकास ही सिद्ध होती है, नई महाकाव्य-कोटि की रचना नहीं जान पड़ती है। केवल इड़ा, रहस्य और आनन्द सर्गों को छोड़ दिया जाए तो "कामायनी" की प्रेम-कथा स्वच्छन्दवादी प्रेम-कथा है।

"कामायनी" का एक बहुत सुन्दर पक्ष है जीवन-चिन्तन। अनेक पाठकों के लिए यही पक्ष सबसे आकर्षक है। आधुनिक युग बौद्धिक युग

है और उसमें ऐसे कवि की वाणी हमारे लिये महत्वपूर्ण हो जाती है जो युग के विभिन्न एवं विविध तत्वों का नए जीवन-दर्शन के रूप में समाहार उपस्थित कर सके। प्रसाद चिन्तनप्रधान कवि हैं और अपने प्रारंभिक काव्य और नाटकों में ही वे जीवन चिन्तक के रूप में उपस्थित होते हैं। इस दृष्टिकोण से "अजातशत्रु", "कामना", "जनमेजय का नागयज्ञ" प्रभृति नाटक और "आँसू" एवं "लहर" विशेष महत्वपूर्ण हैं। इनमें उनकी जीवन-चिन्तना का विकास स्पष्ट रूप से दिखलाई देता है।

अपने प्रारम्भिक काव्य और नाटकों में प्रसाद करुणा को सार्वभौमिक जीवन-तत्व के रूप में उपस्थित करते हैं और उसमें समसामयिक जीवन की विषमता का समाधान ढूंढ़ते हैं। "मानव का विकास जगती में फैला अरुणा करुणा से" (अजातशत्रु) : यह उनका मन्तव्य है। जीवन की अनित्यता क्षणिकवाद, भाग्यवाद (नियतिवाद) और बौद्ध-दर्शन के तत्व उन्हें जीवन की व्याख्या के लिये तत्पर करते हैं और करुणा की व्यापक भावना समाधान के रूप में उनके सामने आती है। यह उनके दर्शन का सार्वभौमिक तत्व है। "कामायनी" में भी इस दुःखवाद की व्यापक छाया है। 'इड़ा' शीर्षक सर्ग में मनु कहते हैं :

जीवन-निशीथ के अन्धकार।
तू नील तुहिन जलनिधि बन कर फैला है कितना वारपार ॥
कितनी चेतनता की किरनें हैं डूब रहीं ये निर्विकार ॥
कितना मादक तम, निखिल भुवन भर रहा भूमिका में अभंग।
तू मूर्तिमान हो छिप जाता, प्रतिपल के परिवर्त्तन अनंग ॥
ममता की क्षीण अरुण रेखा—खिलती है तुझमें ज्योति-कला।
जैसे सुहागिनी की उर्मिल अलकों में कुंकुम चूर्ण भला ॥
रे चिर निवास-विश्राम, प्राण के मोह, जलद-छाया उदार।
माया-रानी के केश-भार ॥

अवसाद, निराशा और दुःख की इस सार्वभौमिक चित्रपटी पर प्रसाद का जीवन-चिन्तन चलता है। यह उनके दुःखवादी दर्शन की परिणति है। 'अजातशत्रु' प्रभृति प्रारंभिक नाटकों में उन्होंने 'करुणावाद' को दर्शन के रूप में उपस्थित किया था और 'जनमेजय का नाग-यज्ञ' में गीता के अनासक्त कर्मयोग की जयभेरी बजाई थी। परन्तु 'कामायनी' में वह शैवागमों की ओर लौटे और उन्होंने आनन्दवाद के रूप में एक नए दार्शनिक समाधान को प्रस्तुत किया। यह समाधान भारतीय दार्शनिक-चिन्ता के लिए नया नहीं है परन्तु 'कामा-

यनी' में वह नई मनोवैज्ञानिक-भाषा और नवीन प्रतीकों के साथ हमारे सामने आता है। 'आनन्द' सर्ग में इसी आनन्दवाद की व्याख्या है। प्रसाद प्रकृति को मायात्मक नहीं मानते, न साँख्य की भांति उसे स्वतंत्र तत्व। वह शिव-तत्व से भिन्न नहीं है। कवि के शब्दों में :

चिर मिलित प्रकृति से पुलकित
वह चेतन पुरुष पुरातन,
निज शक्ति-तरंगायित था
आनन्द-अंबुनिधि शोभन।

श्रद्धा जब मानव को ले कर तपी मनु की शरण में पहुचती है तो वह इसी अद्वैत भाव में भर कर कहते हैं :

मनु ने कुछ-कुछ मुसका कर
कैलाश-ओर दिखलाया,
बोले, देखो कि यहां पर
कोई भी नहीं पराया ॥
हम अन्य न और कुटुम्बी,
हम केवल एक हमीं हैं।
तुम सब मेरे अवयव हो
जिसमें कुछ नहीं कमी है ॥

इस अद्वय-भाव की प्राप्ति के बाद साधक में समरसत्व का जन्म हो जाता है, पाप-पुण्य, सुख-दुख का द्वैत समाप्त हो जाता है। समुद्र में जिस प्रकार बुद्बुद् का अस्तित्व है, वैसे ही उसे इस अभेद सागर में प्राणों का सृष्टिक्रम जान पड़ता है। इस परम भाव से भर कर साधक इस महान सत्य से परिचित होता है कि :

अपने दुःख-सुख से पुलकित
यह मूर्त्त विश्व सचराचर,
चिति का विराट् पपु मंगल
यह सत्य सतत चिर सुन्दर।
सबकी सेवा न पराई,
वह अपनी सुख-संसृति है,
अपना ही अणु-अणु कण-कण,
द्वयता ही तो विस्मृति है ॥

इस प्रकार आत्मप्रताड़न, निराशा और दुःखवाद से सतत ऊपर उठता

हुआ कवि अंत में अद्वैत की भाव-भूमि पर प्रतिष्ठित हो जाता है और शैव-दर्शनों के समरसत्व में उसके दृष्टिकोण की परिणति हमें प्राप्त होती है। समरसत्व से आनन्द की सृष्टि है। 'इरावती' में प्रसाद ने इस आनन्दवाद की रूपरेखा स्थापित करनी चाही थी और कदाचित् 'इन्द्र' नाम के प्रस्तावित नाटक में वह इस वाद को और भी सुस्पष्ट रूपरेखा देते, परन्तु 'कामायनी' में भी यह आनन्दवाद काव्य के उपकरणों के साथ आ कर आकर्षक बन सका है।

इस आनन्दवाद को हम मानव-भाव-भूमि की सर्वोच्च कल्पना कह सकते हैं। परन्तु प्रसाद ने नीचे उतर कर समसामयिक जीवन की वस्तुस्थित पर भी विचार किया है। 'कामना' (१९२६) में उन्होंने रूपक द्वारा आधुनिक भौतिक सभ्यता के एकांगी विकास की ओर संकेत किया था और पश्चिम के सामने पूर्व के सत्य, प्रेम, अहिंसा और संतोष के संदेश को रंगमंचीय रूप देकर उपस्थित किया था। 'कामायनी' (१९४८) में वह 'इड़ा' और 'संघर्ष' सर्गों में बुद्धिवादी भौतिक-वैज्ञानिक जीवन की एकाँगिता को फिर उभारते हैं और अंत में सारस्वत प्रदेश की भौतिक संस्कृति के नाश के साथ उसके अवश्यंभावी पतन की ओर इंगित करते हैं। बाद के 'रहस्य' सर्ग में उन्होंने ज्ञान-कर्म-श्रद्धासमन्वित जीवन को ही इष्ट के रूप में उपस्थित किया है। केवल श्रद्धा पर आधारित पूर्वीय जीवन-दर्शन एकांगी है, तो केवल कर्म, केवल बुद्धि पर आधारित पश्चिमी जीवन-दर्शन भी अपूर्ण है। दोनों का संतुलन ही उपादेय है। ज्ञान, क्रिया (कर्म) और इच्छा (श्रद्धा) के समन्वय-मार्ग से ही मानवता विकास-पथ पर आगे बढ़ सकती है। इस सत्य को प्रसाद ने 'कामायनी' के 'रहस्य' सर्ग में उद्घटित किया और इस समन्वय को उन्होंने अपने आनंदवादी जीवन-दर्शन की पूर्वभूमि माना है।

इस प्रकार जहां उन्होंने सामाजिक जीवन के विकास के लिए कर्म और श्रद्धा के समाहार को उपादेय बताया, वहां वैयक्तिक जीवन की भूमि इस समाहार से शुरु होकर अद्वैत-मूलक समरसत्व और तज्जनित आनन्द भाव तक निश्चित की। यह समाधान द्विविध न हो कर मानव के वैयत्तिक और सामाजिक जीवन के विकास का एक समीकरण उपस्थित करता है। आज के अराजकता के युग में यह समाहृत जीवन-दर्शन कितना महत्वपूर्ण है, यह हम सब जानते हैं। सच तो यह है कि इस पथ पर चल कर मानव एक नई ही जीवन-विधि से परिचित होगा और उसका वैयक्तिक और सामाजिक जीवन परिपूर्ण बन जायेगा।

'कामायनी' की कथावस्तु के वैदिक और पौराणिक आधारों पर विद्वानों ने विस्तारपूर्वक विचार किया है और स्वयं प्रसाद जी ने ग्रन्थ के आरम्भ में 'आमुख' में अपने सूत्र स्रोतों का उल्लेख किया है। ऋग्वेद, शतपथ-ब्राह्मण, छान्दोग्य-उपनिषद् और भागवत उनके आधार ग्रन्थ हैं और इन ग्रन्थों के इतस्ततः उल्लेखों से ही उन्होंने कथा के सूत्र बटोरे हैं। परन्तु केवल इतिहास कथा या पुराण-गाथा उपस्थित करना ही उनका उद्देश्य नहीं है। उन्होंने कथा के रूपक-पक्ष की ओर स्वयं भी संकेत किया है : 'यदि श्रद्धा और मनु अर्थात् मनन के सहयोग से मानवता का विकास रूपक है, तो भी बड़ा ही भावमय और श्लाघ्य है। यह मनुष्यता का मनोवैज्ञानिक इतिहास बनने में सफल हो सकता है। यह इतिहास इतना प्राचीन है कि इतिहास में रूपक का भी अद्भुत मिश्रण हो गया है। इसीलिए मनु, श्रद्धा और इड़ा इत्यादि अपना ऐतिहासिक अस्तित्व रखते हुए, सांकेतिक अर्थ की भी अभिव्यक्ति करें तो मुझे कोई आपत्ति नहीं। मनु अर्थात् मन के दोनों पक्ष हृदय और मस्तिष्क का सम्बन्ध क्रमशः श्रद्धा और इड़ा से भी सरलता से लग जाता है।' इस उद्धरण से यह स्पष्ट है कि प्रसाद 'कामायनी' की कथा को मूलतः इतिहास-कथा मानते हैं और ग्रन्थ में मनु, श्रद्धा और इड़ा के ऐतिहासिक चरित्रों को सुरक्षित रखते हुए भी उन्हें उनके रूपकार्थ स्वीकृत हैं। परन्तु रूपकार्थ का विस्तार कदाचित् कुछ अधिक ही हो गया है।

वास्तव में कामायनी' में इतिहास का आग्रह नहीं है। वह मनु-श्रद्धा-इड़ा सम्बन्धी प्राचीन वैदिक और पौराणिक उल्लेखों का स्वतंत्र और काव्य-भूमिपरक उपयोग करती है और उसके पीछे प्रसाद की जीवन-सम्बन्धी मौलिक चिन्ताओं का एक व्यापक विस्तार है। इड़ा, दर्शन, रहस्य और आनन्द सर्ग वास्तव में एकदम सामग्री उपस्थित करते हैं, उनका प्राचीन उल्लेखों से कोई सम्बन्ध नहीं है। रूपक का समस्त विस्तार और समरसत्व एवं आनन्दवाद की झाँकी जो अंतिम सर्ग में हमें मिलती है, प्रसाद की मौलिक गवेषणा है। यह शैव-दर्शन का एक नवीन मनोवैज्ञानिक संस्करण, युग के अनुरूप नई भाषा में, हमारे सामने रख रहे हैं।

वास्तव में 'कामायनी' में कथा-तत्व इतना कम है कि यह स्पष्ट झलक जाता है कि प्रसाद ने अपनी काव्य-प्रतिभा की परीक्षा और अपने आनन्दवादी दर्शन की प्रतिष्ठा के लिए यह अति सूक्ष्म कथानक चुना है। श्रद्धा के रूप में वे स्वयं उपस्थित हैं। वास्तव में श्रद्धा-द्वारा मनु के मार्ग प्रदर्शन

की कल्पना नई नहीं है. वह दांते के 'डिवाइन 'कॉमेडिया' की बेतरिस की कल्पना जैसी है। स्वयं प्रसाद के समकालीन डा० मुहम्मद इक़बाल ने 'असरारे खुदी' में इस मार्ग प्रदर्शन के लिए मौलाना रूमी की कल्पना की है। प्रसाद की रोमांटिक कवि-भावना नारी के नेतृत्व की आकांक्षिणी है। इसीलिए श्रद्धा सहज वृत्ति से वहां पहुंच जाती है जहां बड़े-बड़े तप-साधनों से भी मनु नहीं पहुंचते। ऐतिहासिक सूत्रों की सूक्ष्मता और अल्पसंख्यकता के कारण वे काव्य और दर्शन की नई-नई भूमियाँ सामने ला सके हैं। ये नई भूमियां ही 'कामायनी' को इस युग के साहित्य और चिंतन के लिए महत्वपूर्ण बनाती हैं।

'कामायनी' के विभिन्न सर्गों को कवि ने भिन्न-भिन्न नाम दिए हैं: १ चिन्ता, २ आशा, ३ श्रद्धा, ४ काम, ५ वासना, ६ लज्जा, ७ कर्म, ८ ईर्ष्या, ९ इड़ा, १० स्वप्न, ११ संघर्ष, १२ निर्वेद, १३ दर्शन, १४ रहस्य और १५ आनन्द। इस योजना के आधार पर मानव के विकास की कोई रूपरेखा स्थिर नहीं होती। वास्तव में प्रत्येक सर्ग की कथा की प्रमुख मनोवैज्ञानिक सम्वेदना के आधार पर उस सर्ग का नामकरण कर दिया गया है। इससे अधिक सार्थकता इन नामों में नहीं है। कुछ की योजना लगभग स्वतंत्र है। कम से कम 'लज्जा' सर्ग कथासूत्र में नहीं बंधता। उसमें प्रसाद नारीत्व की व्याख्या करते हैं और यही इस सर्ग की सार्थकता है। अंतिम चार सर्ग मनु के आंबरिक विकास के चित्रण मात्र हैं। इनमें हमें मानव के ऊर्ध्व गमन की चार स्पष्ट दिशाएं मिलती हैं। कर्मजनित अवसाद, ईर्ष्या और बुद्धि के अतिरेक से भाग कर मन निर्वेद की शरण लेता है, परन्तु यह निर्वेद मनुष्य को सत्य के दर्शन कराने में सफल होता हुआ भी अंतिम सोपान नहीं है। जीवन के समन्वयात्मक मार्ग से परिचित होने पर ही मनुष्य अपने व्यक्तित्व का अतिक्रमण कर रहस्यभाव और तदनन्तर समरसत्वमूलक अभेदानन्द की प्राप्ति करता है। यह जितना साधना का तत्व है उतना मनस्तत्व का मूल भी है।

परन्तु प्रत्येक सर्ग के प्रसंग के अनुसार पात्रों की मनःस्थिति के सहारे मनस्तत्व का व्यापक निरूपण है। काम (रति), लज्जा, चिन्ता, निर्वेद, ईर्ष्या आदि भाव, संचारी भावों के साथ सूक्ष्म रूप से आते हैं। उदाहरण लिए, 'लज्जा' सर्ग में हम लज्जा की आंगिक और मानसिक सूक्ष्म भंगिमाओं का सविस्तर आलेखन पाते हैं। लज्जा के इन शब्दों में :

मैं रति की प्रतिकृति लज्जा हूं,
मैं शालीनता सिखाती हूं।

मतवाली सुन्दरता, पग में
नूपुर सी लिपट मनाती हूं ॥
लाली बन सरल कपोलों में,
आंखों में अञ्जन-सी लगती ।
कुंचित अलकों सी घुंघराली
मन की मरोर बन कर जगती ॥
चंचल किशोर सुन्दरता की
मैं करती रहती रखवाली ।
मैं वह हलकी सी मसलन हूं
जो बनती कानों की लाली ।

न जाने कितने सूक्ष्म अनुभावों का गुम्फन हो गया है। इसमें संदेह नहीं कि इन स्थलों में कवि की मनोवैज्ञानिक पकड़ अद्वितीय बन गई है और वह सूक्ष्म अंतर्वृत्तियों और भावुक-स्पन्दनों के चित्रकर्त्ता-कलाकार के रूप में हमारे सामने आता है। 'कामायनी' का यह पक्ष सबसे अधिक पुष्ट है और यही उसको आधुनिकता देता है। इतिहास, पुराण और रूपक 'प्रसाद' के अध्ययन और जीवन-चिन्तन के पक्ष हैं, तो अंतर्वृत्तियों का यह सूक्ष्म आलेखन और भाव-स्पन्दनों के चित्रण की यह प्रतिभा उनके भावुक-कवि-हृदय की संवेदनशीलता का परिचय देती है। इस भूमि पर 'कामायनी' संसार की श्रेष्ठतम रचनाओं के सामने अकुंठित भाव से खड़ी रह सकती है।

संक्षेप में, यह 'कामायनी' की रूपरेखा है। इस पृष्ठभूमि पर उसका अध्ययन किया जाये, तभी हम उसके साथ न्याय कर सकेंगे। शास्त्रीय ढंग का महाकाव्य न हो कर भी इस रचना में पर्याप्त महाकाव्यत्व है। प्रलय की रोमांचक पृष्ठभूमि पर मनु द्वारा नवीन सर्जन की यह पुराण कथा प्रसाद के हाथों में नये मनस्तत्वों द्वारा विकसित हो कर मानव प्रगति का रूपक बन गई है। उसमें भाषा की मधुमयी भूमिका एवं नवीन प्रतीकों के प्रयोग द्वारा रूप-रंग का अन्वेषण है। पृष्ठ-पृष्ठ पर नई सौन्दर्यसृष्टि और अभिनव कल्पना-विलास से हम परिचित होते हैं। गीतिकला और महाकाव्य के तत्वों को इस रचना में हम एक ही स्थान पर समीकृत पाते हैं। उसकी उदात्त जीवन-चिन्ता उसकी अपनी विशेषता है।

: १६ :

'अपरा' में निराला का व्यक्तित्व

'अपरा' में निराला के काव्य व्यक्तित्व का एक बहुत बड़ा भाग संकलित है। 'परिमल' (१६३०) से लेकर 'नये पत्ते' (१६४६) तक की समस्त रचनाओं में से कुछ इस नये शीर्षक के अंतर्गत स्वयं कवि ने चुन ली हैं। इस में संदेह नहीं कि संकलन पर कवि की अपनी अभिरुचि अपने काव्य-सम्बन्धी मानदण्ड की छाप है। फिर भी इस संकलनमें कवि के विविध और असम व्यक्तित्व एवं उसकी दो दशकों की काव्य-साधना का महत्वपूर्ण अंश आ गया है।

विषयी और विषय दोनों पक्षों में निराला का काव्य महत्पूर्ण है। विषयी पक्ष में उनका निजी व्यक्तित्व है और उसकी छाप उनकी प्रत्येक पंक्ति पर दिखलाई देती है। कविताओं की एक बहुत बड़ी संख्या और अनेक गीतों में उन्होंने अपनी ही बात कही है और उनके जीवन-दर्शन एवं दृष्टिकोण की अमिट छाप उन पर अंकित है। ऐसा चुनौती का स्वर और ऐसा मुखर सशक्त व्यक्तित्व हमें समस्त आधनिक काव्य में नहीं मिलता। हमारे प्राचीन काव्य में निर्वैयक्तिकता और परिपाटीबद्धता ही अधिक है। पद के अंत में भले ही कवि अपनी 'छाप' दे दे, उनका स्वर निर्वैयक्तिक है। वह सब की बात कहता है, अपनी निजी बात नहीं कहता। फलतः बात दबी-दबी सी सामने आती है और उसमें प्राणों के रूंग नहीं लगते। निराला के काव्य में हिन्दी भारती का कंठ पहली बार फूटा है और उसमें कवि के सुख-दुख, हास-विलास

राग-रंग से विजड़ित सपने मुखर हो उठे हैं। ऐसे साधक की वाणी प्रथम बार सामने आई है जो 'अमिय-गरल शशि-सीकर रविकर रागविराग भरा प्याला' पीता है और जिसके व्यक्तित्व में कुसुमादपि मृदुल और वज्रादपि कठोर तत्वों का आश्चर्यजनक रीति से संश्लेष हो गया है।

परन्तु निराला केवल भावुक कवि ही नहीं है, उनके काव्य में हमें प्रारंभ से ही एक अत्यंत उच्च कोटि की बौद्धिकता दिखलाई देती है। वास्तव में कवि के अत्यन्त भावुक क्षणों में इसी बौद्धिकता ने उसकी रक्षा की है और जहां उसने इसके सहारे अपने काव्य को वाह्य-सज्जा दी है वहां उसके अंतरंग को भी सुशृंखलित एवं संतुलित बनाया है। वेदान्त निराला की बौद्धिकता का एक छोर है, तो समसामयिक युग के आचार-विचारों और द्वन्द्वों पर उनकी व्यंगात्मक काव्य-समीक्षाएं उसका दूसरा छोर हैं। बौद्धिकता के कारण कहीं-कहीं उनके काव्य में जटिलता और नीरसता आ गई है फिर भी यह निराला की विशेषता है कि उन्होंने हिन्दी में केवल बुद्धि की भूमि पर से लिखे जाने वाले काव्य की एक नई परिपाटी चलाई और गंभीरतम वक्तव्य को रसात्मकता प्रदान की। अब तक हम काव्य को रस की भूमि पर से ही देख पाते थे। इस नये बौद्धिक काव्य में विषय ही मुख्य हेतु बन गया था और उसका उदात्त स्वर, उसका सार्वभौमिक रूप, उसका जीवनगत प्रसार ही उसे आकर्षक बना कर काव्य-तत्वों से समीकृत कर देता था। चिद्तत्व से प्रकृति के विकास का एक बड़ा सुन्दर रूपक निराला ने 'परिमल' की अंतिम कविता में बांधा है।

परन्तु जटिलतम दार्शनिक तथ्यों से बोझिल होने पर भी वह अपनी बात को श्रोता तक पहुंचाने में सफल होते हैं। अखरोट की गिरी जिस प्रकार एक अत्यंत कड़े छिलके में ढकी रहती है और अनेक कठिन आवरणों को भेद कर जैसे उसकी प्राप्ति संभव है उसी प्रकार निराला के बौद्धिक काव्य के भीतर प्रवेश करने के लिए साहस और अध्यवसाय चाहिए। फलतः कवि का विरोध हुआ और उसे दुरूह, 'कठिन' 'काव्य का प्रेत' और अहंवादी बताया गया। आज भी हिन्दी का काव्य-श्रोता भावुकता की भूमि को पीछे नहीं छोड़ सका है, परन्तु अब वह कदाचित् काव्य के नए अर्थ करने लगा है और इन नए अर्थों में बौद्धिक तत्वों की अस्वीकृति नहीं है।

इन दोनों पक्षों को ले कर हम 'अपरा' और उसके कवि का अध्ययन करना चाहेंगे और इन दोनों पक्षों के अनिवार्य सम्बन्ध पर भी ऊहापोह करेंगे। परन्तु पहले हम कवि को ऐतिहासिक पृष्ठभूमि देना

ठीक समझेंगे।

छायावाद के अन्य प्रमुख कवियों (प्रसाद, पंत, महादेवी) की अपेक्षा निराला कुछ अधिक स्वतंत्र रहे हैं। अन्य कवियों के पीछे हिन्दी काव्य-परम्परा और प्रयोग हैं, परन्तु निराला का जन्म और लालन-पालन हिन्दी प्रदेश से दूर बंगाल में हुआ और भाषा एवं साहित्य की शिक्षा उन्होंने १५-१६ वर्ष की आयु में 'सरस्वती' की फ़ायलों से प्राप्त की। परन्तु कदाचित् बंगाल की शस्यश्यामला भूमि और उसके वर्षा-शरद-वैभव ने किशोर निराला के मन को पहले ही पंख दे दिए थे और पिंगल से परिचित होते होते उन्होंने बंगला के समस्त काव्य-साहित्य से भी अपना नाता जोड़ लिया। 'अनामिका' (१९३५) में उनके विवेकानन्द और रवीन्द्रनाथ ठाकुर की कुछ कविताओं के अनवाद मिलते हैं। क़ाज़ी नज़रुल इस्लाम की रचनाएं भी उस समय सामने आ रही थीं। इन कवियों की रचनाओं में न वह परिपाटीबद्धता थी जो हिन्दी गीति-काव्य में थी, न उनमें वह इतिवृत्तात्मकता थी जो समसामयिक कविता (द्विवेदी काव्य) में। उनमें जहां एक ओर वेदांत की ऊंची से ऊंची उड़ान और मातृ-शक्ति की भावुक-कल्पना थी, वहां दूसरी ओर सौन्दर्य और प्रेम का एक नया संसार था जो अपने ही नियमों से शासित था और जिसमें भावना की चिर उन्मुक्ति ही ध्येय थी। एक ओर रवि बाबू के सौन्दर्योन्मेष और उनकी सूक्ष्म आलेखन-पद्धति ने कवि को प्रभावित किया, तो दूसरी ओर नज़रुल के क्रांति और विरोध के स्वर भी उसके व्यंग में बज उठे। इस प्रकार निराला हिन्दी में विवेकानन्द की दार्शनिकता और शक्ति-पूजा लाए, रवीन्द्र का भाव सौन्दर्य और अभिव्यंजना का धाराप्रवाह प्रासादिक रूप उन्होंने दिया और नज़रुल की विद्रोह और चुनौती की ललकार एक नए मार्दव के साथ नए कंठ में सुनाई दी। बंग-भारती की गीति-माधुरी और प्राकृतिक सुषमा ने उनके काव्य को कुछ ऐसे तत्त्व दिए जो हिन्दी में उस समय अलभ्य ही थे। इन्हीं कुछ थोड़े से परन्तु हिन्दी के लिए नितान्त नवीन उपकरणों के साथ कवि ने हिन्दी-काव्य-जगत में प्रवेश किया। उसके साथ हिन्दी में एक नई शक्ति का प्रादुर्भाव हुआ जो पूर्वी सीमांत की तीन दशकों की काव्य-साधना और काव्य-प्रक्रिया को हिन्दी के क्षेत्र में उतारने में सफल हुई।

जहां प्रसाद ने भारतीय आचार्यों की लाक्षणिक पद्धति से नाता जोड़ा और पन्त ने अंग्रेजी के रोमांटिक कवियों के रूप-विधानों और कल्पना-विधियों का आश्रय लिया, वहां निराला ने रवीन्द्रनाथ की भावुक, कल्पना-विविध और गीतात्मक काव्य-भूमि का आधार लिया और अपने विद्रोही कठिन-कोमल

व्यक्तित्व के सहारे अनेकानेक ओजस्वी और नृम्ण ध्वनियों से नए काव्य का शृङ्गार किया।

उनका काव्य १६१६ से आरम्भ होता है और 'जुही की कली' को वह अपनी पहली कविता बतलाते हैं। परन्तु वास्तव में उनका हिन्दी काव्य-जगत में विधिवत प्रवेश १६२३ में 'मतवाला-मण्डल' के साथ हुआ। आने पर उन्हें घेर कर एक बवंडर ही उठ खड़ा हुआ और उनके मुक्त छन्द से सशंकित होकर उनके समस्त काव्य को लांछना और उपहास का विषय बना दिया गया। लगभग एक दशक तक इस कवि को पाठकों की निष्क्रियता और समीक्षकों की रूढ़िप्रियता से लोहा लेना पड़ा। फलस्वरूप उसके व्यक्तित्व और काव्य में विद्रोह के स्वर ही अधिक मुखर हो उठे। 'परिमल' (१६३०) के अत्यन्त सरल, प्रासादिक, प्रसन्न काव्य का स्थान उपेक्षाविजड़ित कठिन, दुर्लंघ्य रचनाओं ने ले लिया जिनकी परिणति 'राम की शक्ति-पूजा' और 'तुलसीदास' की रचनाओं में हुई। उत्तर काल में कवि अपनी ही बनाई हुई शृङ्खलाओं को तोड़ कर फिर भाषा-शैली की सरलता और सुगमता की ओर मुड़ा है, परन्तु यह प्रतिक्रिया का दूसरा छोर है। फिर भी यह निःसन्देह कहा जा सकता है कि छायावादी कवियों में निराला ही की भाषा-शैली में 'हिन्दीपन' सबसे अधिक है। और उनका कवि-कण्ठ हिन्दी के मात्रिक-संगीत और उसकी उच्चारण प्रतिभा को पूर्ण रूप से सुरक्षित रख सका है। अन्य कवियों के काव्य में काव्य-भाषा गद्य की भाषा से भिन्न और असंपृक्त है। निराला के काव्य में गद्य ही भावनातिरेक के कारण काव्य बन गया है और गद्य-पद्य की भाषा का वह व्यवधान मिट गया है जो हिन्दी की सबसे बड़ी रूढ़ि रही है।

'अपरा' में हमें कवि के व्यक्तित्व का स्पस्ट चित्र मिलता है। वह अपने कर्तृत्व के प्रति पूर्ण रूप से आश्वस्त है यद्यपि वह बड़ी विनम्रता से नई पीढ़ी को शीर्षासन देने के लिए तैयार है। कवि 'हिन्दी के सुमनों के प्रति' इस प्रकार सम्बोधित हैं :

मैं जीर्ण-साज बहु-छिद्र आज,
तुम सुदल सुरंग सुवास सुमन,
मैं हूं केवल पदतल-आसन,
तुम सहज विराजे महाराज।
ईर्ष्या कुछ नहीं मुझे, यद्यपि
मैं ही वसंत का अग्रदूत,

ब्राह्मण-समाज में ज्यों अछूत
मैं रहा आज यदि पार्श्वच्छवि ।

कवि अपने जीवन-संघर्ष में ही आस्था और विश्वास का बल पाता है। वह बड़े गर्व से कह उठता है :

जानता हूं नदी-झरने
जो मुझे थे पार करने
कर चुका हूँ ।

परन्तु यह विश्वास एक दिन की सृष्टि नहीं है। उसके पीछे उपेक्षा, लांक्षा और विरोध की एक लम्बी शृङ्खला हैं। कभी-कभी कवि का जीवन इतना रुद्ध हो गया है कि वह प्रतिशोध से भरकर स्वयं कठिनाइयों को इस प्रकार चुनौती दे उठा हैं :

जीवन चिरकालिक क्रन्दन ।
मेरा अंतर वज्र-कठोर,
देना जी भरसक झकझोर,
मेरे दुख की गहन अंध-
तम-निशि न कभी हो भोर ।
क्या होगी इतनी उज्जवलता,
इतना बन्दन-अभिनन्दन ।

परन्तु कातरता और भयपरता निराला के स्वभाव के अंग नहीं हैं। उसमें यौवन का उद्दाम प्रवाह है जो कोई भी बाधा नहीं मानता। प्रतिरोधों की चट्टानों के भीतर से उनका जीवन के प्रति दुर्दम्य विश्वास बड़े वेग से प्रवाहित होता है। कवि चिल्ला उठता है :

अभी न मेरा होगा अन्त ।
मेरे जीवन का है जवा यह प्रथम चरण,
इसमें कहां मृत्यु,
है जीवन ही जीवन ।
अभी पड़ा है आगे सारा जीवन ।
स्वर्ण-किरण-कल्लोलों पर बहता रे
यह बालक मन ।
मेरे ही अविकसित राग से
विकसित होगा बन्धु दिगन्त ।
अभी न होगा मेरा अन्त ।

सम्पूर्ण जीवन में कवि ने आशा, उत्साह, प्रेरणा और शक्ति के सूत्रों का संचालन किया है तथा उसके काव्य में उसका यह आशा-मधुर 'वीर, कर्मठ व्यक्तित्व बड़े ओजपूर्ण ढंग से पल्लवित हुआ है। परन्तु फिर भी संघर्ष संघर्ष है और उसकी विश्रान्ति कवि के उत्तर जीवन और उत्तर काव्य पर स्पष्ट रूप से मुद्रित है। १९४२ में लिखे हुए उसके दो गीत इस विश्रान्ति के सजीव चित्र हैं। एक में वह गाता है:

गहन हैं यह अंधकारा।
स्वार्थ के अवगुंठनों से
हुआ है लुंठन हमारा॥
खड़े हैं दीवार जड़ की घेर कर,
बोलते हैं लोग ज्यों मुंह फेर कर,
इस गगन में नहीं दिनकर,
नहीं शशधर, नहीं तारा॥

दूसरे में वक्तव्य और भी स्पष्ट है। कवि के भीतर का विश्वास ही जैसे ढह गया है। वह कहता है:

स्नेह-निर्झर बह गया है।
रेत ज्यों तन रह गया है॥

इस प्रकार हम देखते हैं कि निराला के काव्य का मेरुदण्ड उनका व्यक्तित्व है और उनकी अनेकानेक रचनाओं में उसी का प्रसार है। कहीं तो वे अपने उदात्त,ओजपूर्ण विद्रोही व्यक्तित्व के प्रतिरूप बदलते हुए बादल को ललकारते हैं। जैसे 'बादल-राग' में कहीं महासमुद्र के तरंगावर्त्तों में झूलते हैं (जैसे 'तरंगों के प्रति' में)। कहीं रोक-टोक से कभी न रुकने वाली धारा के उद्दाम प्रवाह में अपने व्यक्तित्व को बहा देते हैं:

आज हो गए ढीले सारे बन्धन,
मुक्त हो गए प्राण,
रुका है सारा करुणा-क्रन्दन। बहती कैसी पागल उसकी धारा।
हाथ जोड़ कर खड़ा देखता
दीन विश्व यह सारा॥
('धारा')

लहरों का यह उन्मुक्त चंचल नृत्य 'नव जीवन की प्रबल उमंग' मात्र है। कवि भी इसी नई सृजन-उमंग में उमड़ता हुआ, झूलता हुआ, बहता हुआ आगे बढ़ता है और प्रचलित वर्त्तमान के प्रति विद्रोही होकर काव्य-रूढ़ियों,

परम्पराओं, छन्दों और काव्यरूपों के बन्धन तोड़ता हुआ उन्मुक्त अट्टहास करता है। ऐसा मूलगत, सर्वभक्षी विद्रोह जैसा निराला के काव्य में ध्वनित है, वैसा पूर्व-पश्चिम कहीं भी विरल है। जिस प्रकार जीवन-भूमि पर कवि ने आचार-विचार और लोक-व्यवहार एवं धर्म के सभी बन्धनों को तोड़ कर केवल मात्र मानवता को अपना लक्ष्य बनाया है, उसी प्रकार काव्य के क्षेत्र में भी वह सतत प्रयोगी, सतत विद्रोही बन गया है और भाषा-भावों-छन्दों का सर्वांगीण मुक्ति उसके काव्य का मानदण्ड बन गई है।

कवि के व्यक्तिगत संघर्षों को कहीं-कहीं रूपक का बड़ा सुन्दर आवरण मिल गया है। 'बनबेला' 'राम की शक्ति-पूजा' और 'तुलसीदास' शीर्षक उनकी तीन प्रमुख रचनाओं को लें। 'बनबेला' कवि की उपेक्षित काव्य-साधना का प्रतीक है। कवि सोचता है :

हो गया व्यर्थ जीवन,
मैं रण में गया हार।

सफल राजनीतिज्ञ के चित्र उसके सामने आते हैं जो आज जनता के द्वारा बन्दनीय हैं। श्रेष्ठ साहित्यिक उपेक्षित है। समाज में आदान-प्रदान चल रहा है। जीवन के मूल्य ही बदल गए हैं। इस विषम परिस्थिति से जब कवि हतप्रभ हो जाता है तब बनबेला के द्वारा उसे नया जीवन-मंत्र मिलता है।

यह जीवन का मेला
चमकता सुघर बाहरी वस्तुओं को ले कर,
त्यों-त्यों आत्मा की निधि पावन
बनती पत्थर।

इस नए दर्शन से कवि को नए जीवन-मूल्य प्राप्त होते हैं और वह अपनी तिरस्कृत साधना के प्रति पूर्णतया आश्वस्त हो फिर कर्मभूमि की ओर लौटता है। 'राम की शक्ति-पूजा' में कवि बंगाल में प्रचलित कथा के आधार पर राम के अखण्ड तप और मनःसंकल्प के ऊर्ध्व-नियोजित चित्र हमें देता है। इस कविता में हमें जिस हिल्लोल-संगीत और उदात्त वाणी के दर्शन होते हैं, वे निराला के व्यक्तित्व के ही स्फुरण हैं। राम असफल हो कर जब हार मान बैठते हैं तो विभीषण और जामवंत उन्हें शक्ति की याद दिलाते हैं और राम फिर एक बार ऊर्ज्वस्वित हो माता की प्रसन्नता के लिए यज्ञ करते हैं और अन्त में एक कमल-फूल कम पड़ने पर अपना नेत्र अर्पित करने के लिए सन्नद्ध हो जाते हैं। माँ शक्ति प्रकट हो कर उन्हें आश्वस्त करती हैं। कथा प्राचीन होने पर भी उसकी भूमि मनोवैज्ञानिक है और उसमें

हमें माइकेल के 'मेघनाद-बध' के स्वर कहीं अधिक सशक्त रूप में सुनाई पड़ते हैं। यह निराला की क्लासिकल कविता है जिसमें उनके अवचेतन ने अवरोध और विजय के अन्तः—स्रोत को राम-कथा का रूप दे दिया है। 'तुलसीदास' में तरुण कवि के व्यक्तित्व में कवि का अपना विद्रोही-व्यक्तित्व और भी अधिक सफलता से समीकृत हो सका है। 'अपरा' के संकलित छन्दों में प्रियतमा रत्नावली के उपालंभ से तुलसीदास की भाव-जागृति का एक सम्पूर्ण चित्र कवि खड़ा करता है। उसके भीतर एक अप्रतिहत चेतना ध्वनित हो उठती है :

जागो जागो, आया प्रभात,
बीती वह, बीती अन्ध रात,
झरता भर ज्योतिर्मय प्रभात पूर्वाञ्चल।
बांधो-बांधो, किरणें चेतन,
तेजस्वी, हे तमसिज्जीवन,
आती भारत की ज्योति छीन महिमा-बल। आदि

तुलसीदास की तरह निराला ने भी केवल भारती के बल पर जड़ जीवन के संचित कौशल पर आश्रित निम्नगा प्रवृत्तियों और कुंठित रुचियों से मोर्चा लिया है। अपने व्यक्तित्व के बल पर ही कवि इस दुर्जय संग्राम में सफल हुआ है। सच तो यह है कि निराला के काव्य में उनके व्यक्तित्व का पूर्ण प्रकाश है और उसके कड़े-कोमल स्वर, उनके साहित्य के कड़े-कोमल स्वर बन गए हैं। इस व्यक्तित्व में माधुर्य-काठिन्य, नृम्ण-ओज, परम्परा और प्रयोग, भाव और विचार, कुछ इस प्रकार घुलमिल कर एकाकार हो गए हैं कि हम आश्चर्यचकित रह जाते हैं। काव्यविषय कवि के व्यक्तित्त्व से छन कर नए-नए रंगों-रूपों में उभरता है और इससे उसका आकर्षण बढ़ता ही है। यह अवश्य है कि कहीं-कहीं निराला के व्यक्तित्त्व का असंतुलन और असामंजस्य भी उनके काव्य में उतर आया है, परन्तु इसने उनके काव्य-व्यक्तित्त्व को निजत्त्व ही दिया है। आधुनिक कवियों में उनका ही काव्य सबसे अधिक व्यक्तित्त्वनिष्ठ है। कवि के व्यक्तित्व के माध्यम से ही हम उसके अन्तरंग में प्रवेश कर सकते हैं।

परम्पराओं, छन्दों और काव्यरूपों के बन्धन तोड़ता हुआ उन्मुक्त अट्टहास करता है। ऐसा मूलगत, सर्वभक्षी विद्रोह जैसा निराला के काव्य में ध्वनित है, वैसा पूर्व-पश्चिम कहीं भी विरल है। जिस प्रकार जीवन-भूमि पर कवि ने आचार-विचार और लोक-व्यवहार एवं धर्म के सभी बन्धनों को तोड़ कर केवल मात्र मानवता को अपना लक्ष्य बनाया है, उसी प्रकार काव्य के क्षेत्र में भी वह सतत प्रयोगी, सतत विद्रोही बन गया है और भाषा-भावों-छन्दों का सर्वांगीण मुक्ति उसके काव्य का मानदण्ड बन गई है।

कवि के व्यक्तिगत संघर्षों को कहीं-कहीं रूपक का बड़ा सुन्दर आवरण मिल गया है। 'बनबेला' 'राम की शक्ति-पूजा' और 'तुलसीदास' शीर्षक उनकी तीन प्रमुख रचनाओं को लें। 'बनबेला' कवि की उपेक्षित काव्य-साधना का प्रतीक है। कवि सोचता है :

हो गया व्यर्थ जीवन,
मैं रण में गया हार।

सफल राजनीतिज्ञ के चित्र उसके सामने आते हैं जो आज जनता के द्वारा बन्दनीय हैं। श्रेष्ठ साहित्यिक उपेक्षित है। समाज में आदान-प्रदान चल रहा है। जीवन के मूल्य ही बदल गए हैं। इस विषम परिस्थिति से जब कवि हतप्रभ हो जाता है तब बनबेला के द्वारा उसे नया जीवन-मंत्र मिलता है।

यह जीवन का मेला
चमकता सुघर बाहरी वस्तुओं को ले कर,
त्यों-त्यों आत्मा की निधि पावन
बनती पत्थर।

इस नए दर्शन से कवि को नए जीवन-मूल्य प्राप्त होते हैं और वह अपनी तिरस्कृत साधना के प्रति पूर्णतया आश्वस्त हो फिर कर्मभूमि की ओर लौटता है। 'राम की शक्ति-पूजा' में कवि बंगाल में प्रचलित कथा के आधार पर राम के अखण्ड तप और मनःसंकल्प के ऊर्ध्व-नियोजित चित्र हमें देता है। इस कविता में हमें जिस हिल्लोल-संगीत और उदात्त वाणी के दर्शन होते हैं, वे निराला के व्यक्तित्व के ही स्फुरण हैं। राम असफल हो कर जब हार मान बैठते हैं तो विभीषण और जामवंत उन्हें शक्ति की याद दिलाते हैं और राम फिर एक बार ऊर्ज्वस्वित हो माता की प्रसन्नता के लिए यज्ञ करते हैं और अन्त में एक कमल-फूल कम पड़ने पर अपना नेत्र अर्पित करने के लिए सन्नद्ध हो जाते हैं। माँ शक्ति प्रकट हो कर उन्हें आश्वस्त करती हैं। कथा प्राचीन होने पर भी उसकी भूमि मनोवैज्ञानिक है और उसमें

हमें माइकेल के 'मेघनाद-बध' के स्वर कहीं अधिक सशक्त रूप में सुनाई पड़ते हैं। यह निराला की क्लासिकल कविता है जिसमें उनके अवचेतन ने अवरोध और विजय के अन्तः—स्रोत को राम-कथा का रूप दे दिया है। 'तुलसीदास' में तरुण कवि के व्यक्तित्व में कवि का अपना विद्रोही-व्यक्तित्व और भी अधिक सफलता से समीकृत हो सका है। 'अपरा' के संकलित छन्दों में प्रियतमा रत्नावली के उपालंभ से तुलसीदास की भाव-जागृति का एक सम्पूर्ण चित्र कवि खड़ा करता है। उसके भीतर एक अप्रतिहत चेतना ध्वनित हो उठती है :

जागो जागो, आया प्रभात,
बीती वह, बीती अन्ध रात,
झरता भर ज्योतिर्मय प्रभात पूर्वाञ्चल।
बांधो-बांधो, किरणें चेतन,
तेजस्वी, हे तमसिज्जीवन,
आती भारत की ज्योति छीन महिमा-बल : आदि

तुलसीदास की तरह निराला ने भी केवल भारती के बल पर जड़ जीवन के संचित कौशल पर आश्रित निम्नगा प्रवृत्तियों और कुंठित रुचियों से मोर्चा लिया है। अपने व्यक्तित्व के बल पर ही कवि इस दुर्जय संग्राम में सफल हुआ है। सच तो यह है कि निराला के काव्य में उनके व्यक्तित्व का पूर्ण प्रकाश है और उसके कड़े-कोमल स्वर, उनके साहित्य के कड़े-कोमल स्वर बन गए हैं। इस व्यक्तित्व में माधुर्य-काठिन्य, नृम्ण-ओज, परम्परा और प्रयोग, भाव और विचार, कुछ इस प्रकार घुलमिल कर एकाकार हो गए हैं कि हम आश्चर्यचकित रह जाते हैं। काव्यविषय कवि के व्यक्तित्त्व से छन कर नए-नए रंगों-रूपों में उभरता है और इससे उसका आकर्षण बढ़ता ही है। यह अवश्य है कि कहीं-कहीं निराला के व्यक्तित्त्व का असंतुलन और असामंजस्य भी उनके काव्य में उतर आया है, परन्तु इसने उनके काव्य-व्यक्तित्त्व को निजत्व ही दिया है। आधुनिक कवियों में उनका ही काव्य सबसे अधिक व्यक्तित्त्वनिष्ठ है। कवि के व्यक्तित्त्व के माध्यम से ही हम उसके अन्तरंग में प्रवेश कर सकते हैं।

: २० :

पंत की काव्य-चेतना

पंत के काव्य में हमें आधुनिक हिन्दी काव्य-चेतना का सबसे व्यापक और विविध रूप दिखलाई देता है। १६१३-१६१४ से लेकर आज तक वह काव्यरचना-क्षेत्र में बराबर क्रियाशील रहे हैं और उनकी चालीस वर्षो की काव्य-साधना स्वयं एक लम्बी कहानी बन गई है। कविता के प्रति इतनी एकनिष्ठा कदाचित् किसी अन्य आधुनिक कवि में नहीं मिलेगी। उन्होंने केवल काव्य ही लिखा है : ग्रन्थों की भूमिकाओं एवं 'गद्य-पथ' में संकलित अतिरिक्त सामग्री, 'पांच कहानियों' (१६३६) और ज्योत्स्ना नाटक (१६३४) को छोड़ कर उनकी सारी प्रकाशित सामग्री काव्य है। एक दर्जन के लगभग काव्य-संग्रहों में उनकी काव्य-प्रतिभा सुरक्षित है और इस लम्बी काव्य-साधना के एक छोर पर 'उच्छ्वास' (१६२२) 'वीणा' और 'पल्लव' (१६२७) हैं और दूसरे छोर पर 'उत्तरा' (१६५०)। भाव-भूमि और विचार-भूमि में इतना बड़ा अंतर हमें उनके काव्य में दिखलाई देता है कि हम चमत्कृत रह जाते हैं। प्रयोगों और परम्पराओं के सैकड़ों सूत्र उनके काव्य में प्रसारित हैं। खड़ी बोली का कविता में प्रयोग बहुत पहले की बात है और श्रीधर पाठक एवं मैथिलीशरण गुप्त का खड़ी बोली काव्य पंत के काव्य-क्षेत्र में उतरने से पहले ही परम्पराओं का निर्माण कर चुका

था, परन्तु खड़ी बोली की रुक्षता नष्ट कर उसे सरस और श्रुतिमधुर बनाने और काव्योपयोगी भाव-भूमि देने का सारा श्रेय पंत को ही है। काव्य-भाषा, नवीन छन्दों और नवीन काव्य-शैलियों के क्षेत्र में पंत की देन सचमुच अप्रतिम है। उन्होंने ही काव्य-विहग को कल्पना के आकाश में उड़ने के लिए पंख दिये और बाद में उसे जीवन के 'खाद्य-मधु' का परिचय कराया।

पंत के समस्त काव्य-विकास को हम तीन कालों में बांट सकते हैं। 'उच्छ्वास' (१६२२) 'वीणा' (१६२७), और 'पल्लव' (१६२७) उनके काव्य-विकास का पहला चरण सूचित करते हैं। 'पल्लव' की अंतिम कविता में कवि अपने इस प्रथम चरण को विदा दे देता है। वास्तव में इस एक दशक का काव्य कवि के प्रारंभिक प्रयोगों, बाल-सुलभ भावनाओं और किशोर-कल्पनाओं का भांडार है। विवेकानन्द, रवीन्द्र और अंग्रेजी के रोमांटिक-कवियों, विशेषतः शेली की अनेकानेक प्रतिध्वनियां उनके इस प्रारम्भिक काव्य में मिलेंगी। इन्हीं कृती कवियों के काव्य से उसे भावोन्मुक्ति प्राप्त हुई है परन्तु वह स्वयं कौसानी और अलमोड़ा के क्षण-क्षण परिवर्तित प्रकृति वेश से परिचित हुआ है और उसने प्रकृति और प्रेम के सूक्ष्मतम स्पंदनों को अपने प्राणों में गूंथा है। भावुक और कल्पनाशील किशोर कवि का बड़ा सुन्दर काव्य-व्यक्तित्व इस प्रारंम्भिक चरण में उतर आया है।

'गुंजन' (१६३२) से 'ग्राम्या' (१६४०) तक कवि का दूसरा काव्य-चरण सामने आता है। बीच के संग्रह हैं 'युगान्त' (१६३७) और 'युगवाणी' (१६३६)। सच तो यह है कि १६३२ से ही पंत का काव्य भावुकता और कल्पना की भूमियों को पीछे छोड़ कर आगे बढ़ने लगता है। कवि प्रेम और प्रकृति के कोमल गीतों का गायक नहीं रह जाता, वह जीवनद्रष्टा बन जाता है। उसकी कविता धीरे-धीरे विषय-प्रधान हो जाती है और उसमें काव्योपकरण की अपेक्षा मंतव्य का महत्व अधिक हो जाता है। 'गुंजन' में काव्य-तत्त्व फिर भी अधिक है और उसके सूक्ष्म एवं उदात्त जीवनचिंतन का अपना आकर्षण है। उसमें कवि का कल-कंठ जैसे फूटा है और वह तलस्पर्शी-चिंतन लेकर सामने आया है। प्रकृति और प्रेम अब भी उसके भाव-जगत में महत्त्वपूर्ण हैं, परन्तु अब वह वाह्य सौंदर्य-बोध पर आश्रित न रह कर अंतर के सौंदर्य-बोध को विकसित करना चाहता है। उसकी कल्पना प्रक्रिया में अंतर हुआ है और उसके भाव-चित्र अधिक संयमित और रेखाविरल हैं। भाषा भी बदली है। उसमें उतनी सघनता और भाव-संकुलता नहीं है,

वह अधिक प्रशस्त और अधिक प्रसन्न है। 'ज्योत्स्ना' (१६३४) नाटक इस भावधारा और संतुलित भाषा-शैली का चरम विंदु है। उसके गीत कल्पना और कला की सर्वोच्च उड़ान हैं।

'ज्योत्स्ना' को समीक्षकों ने पंत के काव्य-व्यक्तित्व का 'विस्फोट' कहा है। उसमें उन्होंने रूपक-पद्धति का आश्रय लेकर आधुनिक मानव के सामने एक नया जीवन-दर्शन उपस्थित किया था। जिसमें भौतिक और आध्यात्मिक जीवन-विधियों के समीकरण पर बल दिया गया था। इस नाटक में पंत एक नवीन जीवन–विकास की कल्पना करते हैं' जो जाति-वर्ण-राष्ट्रभेद से ऊपर उठ कर मानवता की भूमि पर प्रतिष्ठित होगा। यह मनःकल्प बड़ा सुन्दर है और उस गतिशील चिंतन का निर्देश करता है जिसने कवि को पहले गांधीवाद और फिर मार्क्सवाद की ओर प्रेरित किया। 'युगांत' में कवि गांधीवादी है और 'युगवाणी' और 'ग्राम्या' में मार्क्सवादी। अपने मनःकल्प को वह जीवन की भूमि पर उतारना चाहता है और ये प्रचलित वाद उसे काफी देर तक उलझाते हैं। परन्तु अन्त में उसने यह जान लिया है कि 'वादों' से जीवन को बदला नहीं जा सकता। वे एकांगी, अतः अपूर्ण है। गांधीवादी जीवन-दर्शन भौतिक तथ्यों की अवहेलना करने के कारण अपूर्ण है, तो मार्क्सवादी दर्शन मानव की स्वतंत्र चेतना में अविश्वास कर उसे आर्थिक मूल्यों से मुद्रित कर देता है और इस प्रकार उसे छोटा कर देता है। यह भी एक प्रकार की एकांगिता है, फलतः अपूर्णता है। 'युगवाणी' में कवि ने 'गीत-गद्य' में जीवन के द्वन्दों के सम्बन्ध में जिज्ञासा और समाधान उपस्थित किये हैं और राजनैतिक-सामाजिक-अर्थनैतिक मूल्यों को भली भांति परखा है। अन्त में वह मार्क्स के द्वन्दात्मक भौतिकवाद से बहुत कुछ समझौता कर लेता है, यद्यपि वह उसे अन्य जीवन-मूल्यों के साथ संश्लिष्ट करके देखता है। 'ग्राम्या' 'युगवाणी' के सिद्धान्तों का जीवन-प्रयोग है। 'ग्राम्या' की रचनाओं में कवि ने ग्राम्य-जीवन और जन-भावना को बड़े पास से देखा है और जीवन के उपेक्षित और वर्जित पक्षों को वाणी दी है। ये रचनाएं भावना में तो जन-जीवन को छूती हैं, परन्तु कवि का तटस्थ वैज्ञानिक-भाव उन्हें प्राण-रस से वंचित रखता है। फलतः इनमें काव्य का स्वर कुंठित हो गया है, सिद्धांत की ही पूजा होने लगी है।

कवि के काव्य का तीसरा चरण अभी चल रहा है। 'स्वर्ण-किरण' (१६४७), 'स्वर्ण-धूलि' (१६४७), और 'उत्तरा' (१६४६) की रचनाएं

उसकी नवीन काव्य-चेतना को सामने लाती हैं। इस काव्य-चेतना को आध्यात्मिक और साँस्कृतिक भाव-भूमि प्राप्त है। अध्यात्म और दर्शन प्रारम्भ से ही कवि को प्रिय रहे हैं और 'पल्लव' और 'गुंजन' में हमें प्राकृतिक अध्यात्म के साथ औपनिषदिक रहस्यवादी भावना के भी दर्शन होते हैं। इस तीसरे चरण की रचनाओं में कवि अरविन्द की ऊर्ध्व चेतन सम्बन्धी विचारधारा और चेतना-प्रवाह के मनोवैज्ञानिक सत्य के आधार पर नूतन रहस्यवाद की सृष्टि करता है। इस नये काव्य पर उसके अरविंद-साहित्य के अध्ययन की छाप स्पष्ट है। स्वयं पंत ने अपने इस नवीन काव्य को 'जीवन की वहिरंतर मान्यताओं का अंतर्मुखी ऊर्ध्व संचरण' कहा है और उसे अध्यात्म का क्षेत्र बतलाया है। दूसरे काव्य-चरण में कवि में नवीन सामाजिकता (मानवता) की प्रधानता है और वर्ग-युद्ध को अमान्य बतलाते हुए भी कवि मार्क्सवाद की द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी विचारधारा को बहुत दूर तक ले कर चला है। तीसरे चरण की रचनाओं में वह अधिक व्यापक जीवन-भूमि को लेकर चलना चाहता है। उसके मत में सभी आन्दोलनों को परिपूर्णता प्रदान करने के लिए, संसार में, एक व्यापक सांस्कृतिक आन्दोलन को जन्म देना होगा जो मानव-चेतना के राजनैतिक-आर्थिक, मानसिक तथा आध्यात्मिक—सम्पूर्ण धरातलों में मानवीय संतुलन तथा सामंजस्य स्थापित कर आज के जनवाद को विकसित मानववाद का रूप दे सकेगा। इसी संदर्भ में आगे चल कर उसने अपने नए बोध को इस प्रकार स्पष्ट किया है : 'इस युग के क्रांति, विकास, सुधार-जागरण के आन्दोलनों की परिणति एक नवीन सांस्कृतिक चेतना के रूप में होना अवश्यंभावी है, जो मनुष्य के पदार्थ, जीवन, मन के सम्पूर्ण स्तरों का रूपांतर कर देगी तथा विश्व-जीवन के प्रति उसकी धारणा को बदल कर सामाजिक सम्बन्धों को नया अर्थ-गौरव प्रदान कर देगी। इसी साँस्कृतिक चेतना को मैं अंतर्चेतना या नवीन सगुण कहता हूं। मैं जन-वाद को राजनीतिक संस्था या तंत्र के वाह्य रूप में ही न देख कर भीतरी, प्रजात्मक मानव-चेतना के रूप में भी देखता हूं, और जनतंत्रवाद की आंतरिक (आध्यात्मिक) परिणति को ही 'अंतर्चेतनावाद' अथवा 'नवमानववाद' कहता हूं।' ('उत्तरा' की प्रस्तावना से) वास्तव में कवि का यह तीसरा काव्य-चरण उसके दूसरे काव्य चरण का आगे बढ़ा हुआ डग है। अंतर केवल इतना है कि वह वाह्य जगत के द्वन्द्वों के साथ अंतर्जगत के वैषम्यों का भी समाधान आवश्यक मानता है और मानव जीवन की आर्थिक भूमि के साथ उसकी आध्यात्मिक (अथवा बौद्धिक एवं नैतिक) भूमि को भी

उतना ही महत्वपूर्ण स्थान देता है। अब भी मानव ही उसकी विचारधाराओं का केन्द्र हैं : उसी के वहिरंतर ऊर्ध्व गमन के विश्वास से उसका भाव-जगत प्रकाशित है। मार्क्सवादी भौतिकवाद पदार्थ-जगत तक ही सीमित है, वह आधुनिक मनोविज्ञान के उपचेतन-अवचेतन में विश्वास नहीं करता। पंत लोक-जीवन के विकास के लिये भूत-विज्ञान, मनोविज्ञान और अर्थविज्ञान एवं अध्यात्म-ज्ञान के चारों चरणों को समान रूप से आवश्यक समझते हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि जहां अपने काव्य के प्रारम्भिक चरण में पंत केवल एक कोमल, भावुक, कल्पनाशील कवि हैं, वहाँ बाद के दो काव्य चरणों में वह जीवन-चिंतक हैं। जहां वह इस जीवन-चिंतन को केवल सिद्धान्त की भूमि देते हैं. वहां वह स्वभावतः सूक्ति प्रधान निबंध-काव्य की सृष्टि करते हैं जो काव्योपकरणों से हीन और नीरस है। परन्तु जहां वह अपने जीवन-चिंतन को भाव की समर्थ भूमि दे सके हैं, वहां हमें पर्याप्त काव्यस्फुरण दिखलाई देता है, परन्तु ऐसे संश्लेषणात्मक क्षण कुछ कम ही आते हैं। उनका गम्भीर-जीवन-चिंतन बराबर सजग रहता है, फलतः परवर्त्ती काव्य में रसात्मकता का अभाव है और पिछले भावना-प्रधान, सौन्दर्यनिष्ठ काव्य के समकक्ष ये रचनाएं रुक्ष ठहरती हैं। परन्तु विषयी-पक्ष की महत्ता न होने पर भी आधुनिक युग की समीकृत विचार धारा का एक बड़ा सुन्दर रूप हमें इन रचनाओं में मिलता है। संभव है, विभिन्न युगों के सांस्कृतिक मानों का समन्वय, जैसा पंत चाहते हैं, असंभव और अव्यावहारिक बात हो परन्तु अपने इस महादेश में कृष्ण, शंकर, कबीर तुलसी और गाँधी के रूप में इस प्रकार के समन्वय की एक लंबी परम्परा रही है और यदि आज का भावुक और जागरूक कवि इस दिशा में विशेष प्रयत्न करता है तो कदाचित लांक्षा की कोई बात नहीं है। हम उससे केवल यही चाह सकते हैं कि वह अपने समन्वय को काव्य-रूप दे, उसके आधार पर नई काव्य-भूमियों की खोज करे और नये काव्य-प्रतीकों के द्वारा अपने समन्वय को बौद्धिकता की जड़ता से बचा कर उसे रसात्मकता प्रदान करे। देश की स्वाधीनता-प्राप्ति के बाद सांस्कृतिक क्षेत्र में नई हलचलें दिखलाई पड़ती हैं और पिछले पांच-छः वर्षों में पंत का काव्य भी पर्याप्त मात्रा में रसात्मक अवयवों का संयोजन कर सका हैं। इसमें संदेह नहीं कि इस भूमि पर आगे बढ़ते हुए कवि हमें नये युग-सत्य का काव्य-समीकरण भी दे सकेगा। अभी उसके काव्यविकास की अनेक संभावनाएं काल के गर्भ में अंतर्निहित हैं।

(२)

पंत के पहले चरण के काव्य में हमें प्रौढ़ रचनाएं १९१९ के बाद ही मिलती हैं। १९२४ में लिखी 'परिवर्त्तन' शीर्षक कविता नई दिशा की सूचना देती है। कवि की प्रारंभिक कविता में कविता में प्रकृति के प्रति शिशु जैसा विस्मय-भाव है और वह स्वयं अपने को बालिका के रूप में कल्पित कर आनन्द प्राप्त करता है। 'वीणा' की 'प्रथम रश्मि' और' पल्लव' की 'बादल' जैसी रचनाएं स्पष्ट रूप से यह बतलाती हैं कि इस कवि ने प्रकृति की वर्णच्छटा में अकल्पित माधुर्य के दर्शन किये हैं और उसे पहले-पहल उसी के द्वारा भाव-मुक्ति प्राप्त हुई है। प्राथमिक कविताओं में प्रकृति के प्रति सहज भावोन्मेष हैं, परन्तु धीरे-धीरे कवि का काव्य अलंकृत होता गया है और अन्त में 'पल्लव' की 'बादल' 'नक्षत्र' और 'बीचि-विलास' जैसी रचनाओं में हम अलंकार और कल्पना विलास के प्राचुर्य में प्रकृति के सहज स्पन्दन को खो जाते देखते हैं।

'वीणा' की अधिकांश रचनाएं प्रार्थनापरक हैं और प्रकृति-चित्र भाव-पुष्टि के लिए ही सामने आते हैं। कवि प्रकृति में व्याप्त मंगलमयी मातृशक्ति की कल्पना करता है :

जिसकी सुन्दर छवि ऊषा है,
नव बसंत जिसका शृंगार,
तारे हार, किरीट सूर्य-शशि,
मेघ केश, स्नेहाश्रु तुषार।
मलयानिल मुख-वास, जलधि मन,
लीला लहरों का संसार॥

और उसी के चरणों में अपनी गीत-वन्दना चढ़ाना चाहता है। कहीं वह बालिका बन कर खद्योतों से खेलता है, कहीं उषा-कुसुमों से अपनी वेणी सजाता है। इस संग्रह की दो कविताएं कवि के प्रकृति-निरीक्षण और उसकी काव्य-प्रतिभा को बड़ी सुन्दरता से सामने रखती हैं। एक में कवि तरु की छाया को संबोधित करता हुआ उसके सहारे विरहिणी आत्मा के दुःख को व्यंजित करता है :

कौन-कौन तुम, परिहत-वसना,
म्लान-मना, भू पतिता सी।
धूलि-धूसरित, मुक्त-कुन्तला,
किसके चरणों की दासी।
अहा, अभागिनि ओ तुम मुझ-सी,

सजनि, ध्यान में अब आया,
तुम इस तरुवर की छाया हो,
मैं उनके पद की छाया ॥

और दूसरी कविता में बाल-विहंगिनी को संबोधित करते हुए वह प्रभात-सुषमा की बन्दना करते हुए दिखलाई देते हैं। वास्तव में यह दूसरी कविता रवि बाबू के 'निर्झरेर स्वप्न-भंग' के समान कवि की काव्य-प्रतिभा की पहली रश्मियों से उद्भासित है, यद्यपि उसमें भावना और अनुभूति का सर्वग्राही रूप हमें वहां नहीं मिलता। अंधकारपूर्ण रात्रि के बाद प्रभात की इस वर्णच्छटा में कैसा चमत्कार है :

निराकार तम मानो सहसा
ज्योतिपुंज में हो साकार,
बदल गया द्रुत जगत-जाल में
धर कर नाम-रूप नाना।
सिहर उठे पुलकित हो द्रुम दल,
सुप्त समीरण हुआ अधीर,
झलका हास कुसुम-अधरों पर
हिल मोती का सा दाना।
खुले पलक, फैली सुवर्ण छवि,
जगी सुरभि, डोले मधु-बाल,
स्पन्दन, कंपन औ नव जीवन
सीखा जग ने अपनाना ॥

'आधुनिक कवि'—१ में पंत ने 'वीणा-काल' की जिन कविताओं को स्थान दिया है, उनमें दो कविताएं ये हैं। दोनों में स्थायी साहित्यिक तत्त्व हमें मिलते है। परन्तु 'वीणा' की अन्य कविताएं भी इसलिये महत्त्वपूर्ण हैं कि उनसे हमें कवि की परवर्त्ती दिशाओं की सूचना मिलती है जैसे—तिलक, चेतक और प्रथम महायुद्ध के अवसान पर लिखी कविताएं स्पष्ट ही कवि की सामाजिकता की सूचना देती हैं और

विलोड़ित सघन गगन में आज,
विचर रहा है दुर्बल घन भी
धर कर भीमाकार—
बना है कहीं क्रुद्ध गजराज ॥

एवं

अंगड़ाते तम में
अलसित-पलकों से स्वर्ण-स्वप्न नित
सजनि, देखती हो तुम विसमित
नव अलभ्य, अज्ञात।
आओ, सुकुमारि विहग-बाले।

जैसे पद्य-खण्ड कवि की मूर्त्त चित्रों के निर्माण की अक्षय शक्ति का आभास उपस्थित करते हैं। 'वीणा' में जहाँ 'निर्झर की अजस्र 'झरझर' सुनाई पड़ती है, वहां स्थान-स्थान पर वेदान्त-दर्शन का मधुर-स्फुरण भी दिखलाई देता है, जो अभी बुद्‌बुद् की भांति छोटा और शात है, 'परिवर्त्तन' में वह तरंगावत्ता का रूप धारण कर लेता है और 'गुंजन' में गम्भीर जल-प्रवाह बन जाता है।

इसी समय कदाचित् कवि के जीवन में कोई प्रेम-प्रसंग आता है 'उच्छ्‌वास' 'आँसू' और 'ग्रंथि' नाम की रचनाओं से हमें इसकी सूचना मिलती है। पहली दो रचनाएं कवि की स्वीय अनुभूति का प्रकाशन हैं, 'ग्रंथि' में कथा का आधार लिया गया है। कवि की नाव ताल में डूब गई है और जब वह मूर्च्छा के बाद आँख खोलता है तो किसी की सुकोमल जंघा उसका उपाधान बनी दिखलाई देती है। इसी क्षण आँखें मिलते ही दो हृदय एक कोमल-सूत्र में बंध जाते हैं। कुछ दिनों तक यह सरल-प्रणय चलता है, परन्तु अंत में वह नव-कमल-मधुप-सा कवि का हृदय ले कर किसी अन्य मानस का विभूषण बन जाता है। दुःख से पीड़ित कवि को चारों ओर वेदना का ही साम्राज्य दिखलाई पड़ता है :

वेदना : कैसा करुण उद्‌गार है। वे
वेदना ही है अखिल ब्रह्माण्ड यह,
तुहिन में, तृण में, उपल में, लहर में,
तारकों में, व्योम में है वेदना।
वेदना: कितना विशद यह रूप है।

'ग्रंथि' की नायिका ही 'पल्लव' की 'उच्छ्‌वास' कविता की नायिका है और 'आँसू' में उसी की स्मृति में कवि ने अश्रुपात किया है। इन कविताओं ने ही पहली बार द्विवेदी-युग की जड़ता को तोड़ा और परिपाटी-बद्ध रीति-कवियों की स्थूल चित्रण की भूमि को अस्वीकार करते हुए नारी के प्रेम और सौन्दर्य के, मिलन और विरह के मंगल-गीत सम्पूर्ण भावोन्मेष के साथ

गाये। कितनी सरलता से कवि पूछता है :

कभी तो अब तक पावन प्रेम
नहीं कहलाया पापाचार,
हुई मुझको ही मदिरा आज
हाय ! क्या गंगा-जल की धार।

दोनों कवियों में प्रणय की स्वच्छन्द भूमि के पीछे प्रकृति का सजीव स्पन्दन है। पर्वतीय प्रकृति का, उसके क्षण-क्षण बदलते रूपों का जो सौन्दर्य हमें यहां मिलता है, वह उस समय हिन्दी-कविता के लिए एकदम नया था :

उड़ गया अचानक लो, भूधर
फड़का अपार पारद के पर।
रव-शेष रह गये हैं निर्झर।
है टूट पड़ा भू पर अंबर।
धँस गए धरा में समय शाल
उठ रहा धुआँ, जल रहा ताल।
—यों जलद-यान में विचर-विचर
था इन्द्र खेलता इंद्रजाल।

इस अकल्पित प्रकृति-सौन्दर्य ने हिन्दी के पाठकों का ध्यान पंत की ओर आकर्षित किया और इसमें संदेह नहीं कि वह आधुनिक कवियों में सबसे अधिक प्रकृति-चित्र हमें दे सके हैं। प्रकृति उनकी बाल-सहचरी है।

'पल्लव' की अधिकांश कविताओं में हमें प्रकृति का ही कोई-न-कोई रूप मिलता है, परन्तु जहां 'वीणा' में हम प्रकृति के प्रति एक सहजोचित बाल-भाव पाते हैं, वहाँ 'पल्लव' का किशोर कवि उसे कल्पना के ताने-बाने से इतना ढँक देता है कि अकल्पित सौन्दर्य से मंडित होने पर भी वह चित्र हृदय-ग्राह्य नहीं हो पाता। अंग्रेजी के रोमांटिक—कवियों जैसी सघन कल्पना हमें पंक्ति-पंक्ति में मिलती है। कल्पना का यह प्राचुर्य सौन्दर्य-बोध में बाधक है।' 'बीचि-विलास' 'मौन-निमंत्रण' 'छाया' 'नक्षत्र' 'निर्झरी' और 'बादल' शीर्षक कविताएं कल्पनाविलास से जड़ित स्वप्न-कल्प हैं। इनमें 'बादल' तथा 'मौन-निमंत्रण 'सर्वश्रेष्ठ हैं। 'बादल' में जहां कल्पना का अपार ऐश्वर्य है, यथा :

बुदबुद-द्युति तारक-दल तरलित
तम के यमुना-जल में श्याम,

हम विशाल जम्बाल जाल से
बहते हैं अमूल, अविराम ।
+ + +
स्वर्ण-भृंग तारावलि वेष्टित,
गुंजित, पुंजित तरल,रसाल,
मधुगृह-से हम गगन-पटल में
लटके रहते विपुल विशाल ।

वहाँ 'मौन-निमंत्रण' में प्रकृति की प्रत्येक अंग-भंगिमा को रहस्य से मंडित कर दिया गया है । यह कवि के 'वीणा' वाले विस्मय-भाव की परिणति है । नक्षत्रों और लहरों में उसे किसी का आह्वान मिलता है, बिजली में न जाने कौन उसे इंगित करता है । कोई सौरभ के मिस उसे संदेसा भेजता है और खद्योतों के दीप जला कर पथ दिखलाता है । कवि जिज्ञासा कर उठता है :

न जाने कौन, अये द्युतिमान,
जान मुझको अबोध अनजान,
सुझाते हो तुम पथ अनजान,
फूंक देते छिद्रों में गान ।

इसमें सन्देह नहीं कि यहाँ कवि प्रकृति के पीछे बजते परोक्ष के तारों को बड़ी सरलता से छू सका है । परन्तु 'नक्षत्र' जैसी कविताओं में उसके कल्पना-बहुल मन् ने मूर्त और अमूर्त चित्रों को लेकर जो चंचल क्रीड़ाएं की हैं, वे रसात्मकता में बाधक हैं । कहीं-कहीं कल्पना चित्र एकदम असंयत और अप्राकृतिक बन गए हैं । द्विवेदी-युग की तथ्य-प्रधान गद्यात्मक कविता के विरुद्ध प्रतिक्रिया ने ही कवि की भावप्रमुख और संगीतात्मक काव्य-धारा को जन्म दिया था, परन्तु कल्पनातिरेक ने एक दूसरे अतिवाद की सृष्टि कर डाली । जहां कल्पना सौंदर्यबोध में सहायक न होकर स्वयं लक्ष्य बन जाए, वहां कवि स्पष्ट ही अपनी काव्य-भूमि का अतिक्रमण करता है । 'अनंग' और 'स्वप्न' शीर्षक कविताओं में यह जटिलता और भी बढ़ जाती है, क्योंकि यहां कवि का विषय अमूर्त है और मूर्त चित्रों द्वारा अमूर्त भावों के प्रकाशन में पर्याप्त सतर्कता चाहिए । फिर भी पन्त की 'पल्लव' की इन कविताओं ने आधुनिक युग में पहली बार हिन्दी-प्रदेश के रीतिबद्ध मन को उन्मुक्ति दी और उसे प्रकृति, प्रेम तथा सौंदर्य के नए बोध से भरा । आधुनिक कविता की भाव-भूमि को अकल्पित विस्तार देने और उसे नए-नए काव्य-रूपों तथा

नई भाषा-शैली से सजाने का बहुत बड़ा श्रेय पन्त को ही मिलेगा ।

'परिवर्तन' 'पल्लव' की अन्तिम और सबसे बड़ी कविता है। इसमें कवि ने जीवन की अनित्यता की गम्भीर दार्शनिक भूमि पर प्रकृति के बवण्डर, उल्कापात, भूकम्प, जल-प्रलय आदि अनेक परिवर्तन-चक्रों की विराट चित्रपटी उभारी है और अवनी-कोमल-भाव-प्रकृति से हट कर तेजस्वी परुष-कण्ठ में अपनी बात कहने का साहस किया है। आज भी हिन्दी काव्य में अपनी विराट्-काव्य-भूमि और ओजस्वी-स्वर के कारण यह कविता अपूर्व है। केवल एक ही स्वर से कविता के स्वर का पता चल जाता है। 'परिवर्तन' को सम्बोधित कर कवि कहता है :

अहे वासुकि सहस्र फन ।
लक्ष अलक्षित चरण तुम्हारे चिन्ह निरन्तर
छोड़ रहे हैं जग के विक्षत वक्षस्थल पर।
शत-शत फेनोच्छ्वसित, स्फलीत फूत्कार भयंकर
घुमा रहे हैं घनाकार जगती का अम्बर ।
मृत्यु तुम्हारा गरल दंत, कंचुक कल्पांतर,
अखिल विश्व ही विवर, वक्र कुंडल दिग्मण्डल ।

ऐसे अनेक विराट् चित्र हमें इस कविता में मिलते हैं। यह स्पष्ट है कि कवि विचारों और भावों के नए क्षेत्र में प्रवेश कर रहा है और वह 'जीवन के छायाकाल' और 'सुप्त स्वप्नों के सजग सकाल' को छोड़ कर तारुण्य के कठोर कर्तव्य पर बढ़ चला है। अब तक वह बहिर्सौन्दर्योन्मुख था, अब वह बाहर-भीतर के सौन्दर्य का सामञ्जस्य खोजना चाहता है। 'गुंजन' में हम उसे प्रकृति के मानव-जीवन की ओर बढ़ते देखते हैं। यह कवि के काव्य का नया चरण है।

'पल्लव' की भूमिका—पन्त के शब्दों में 'प्रवेश'—स्वयं कविताओं से कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। उसमें जहां हमें परिपाटी-विहित रीति-काव्य का विरोध दिखलाई पड़ता है, वहां द्विधाजड़ित गद्य-शरीरी द्विवेदी-काव्य की उपदेशात्मक, तथ्यमयी बोध प्रवृत्ति के विरुद्ध प्रतिक्रिया भी दिखलाई देती है। इस भूमिका में नए छायावादी-काव्य ने समस्त प्राचीन हिन्दी-काव्य और समसामयिक द्विवेदी-काव्य को भाषा-शैली, छन्द, काव्य-पद्धति और विषय एवं आदर्श सभी क्षेत्रों को चुनौती दी है। 'बुतशकनी' के उत्साह में कहीं-कहीं तरुण कवि संयम भी खो बैठा है, परन्तु उसे अपनी सामर्थ्य पर विश्वास

है और आज जब छायावादी काव्य-धारा भूत वैभव की वस्तु बन गई है, हम उसकी काव्यानुभूति की सूक्ष्मता और उसके नए सौन्दर्य-बोध की नैसर्गिक कोमलता को परख सकते हैं। भक्ति-काव्य पर विहंगम दृष्टि डालते हुए कवि सूर और तुलसी को भारती के अक्षय भण्डार के दो सिंहद्वार बतलाता है, जो उस युग के भगवत्प्रेम की पवित्र धातु से ढाल दिए गए हैं।' पर उस व्रज के वन में झाड़-झंखाड़, करील-बबूल भी बहुत हैं। उसके स्वर में दादुरों का बेसुरा आलापन, उसके कृमिल-पंकिल गर्भ में जीर्ण अस्थि-पंजर, रोड़े, सिवार और घोघों की भी कमी नहीं।' अधिकांश भक्त-कवि रूप के उस श्यामावरण के भीतर झांक न सके। अनन्त-नीलाकाश को एक छोटे से तालाब के प्रतिबिंब में बांधने के प्रयत्न में स्वयं बंध गए। रीति कवियों के काव्य के प्रति वह और भी असहिष्णु है। उसे उसने रंगीन डोरियों पर झूलता हुआ कविता का 'हैंगिग गार्डन' कहा है, जिसमें 'वही कदली के स्तम्भ, कमलनाल, दाड़िम के बीज, शुक, पिक, खंजन, शंख, पद्म, सर्प, सिंह मृग, चन्द्र, चार आँखें होना, कटाक्ष करना, दूत भेजना, कराहना, मूर्च्छित होना, स्वप्न देखना, अभिसार करना, बस : इसके सिवा और कुछ नहीं।

खड़ी बोली की पहली प्रशस्ति हमें 'पल्लव' की इस भूमिका में ही मिलती है : 'खड़ी बोली आगे की सुवर्णाशा है, उसकी बाल-कला में भावी की लोकोज्ज्वल पूर्णिमा छिपी है। वह हमारे भविष्याकाश की स्वर्गंगा है, जिसके अस्पष्ट ज्योति-पुञ्ज में, न जाने, कितने जाज्वल्यमान सूर्य-शशि, असंख्य ग्रह-उपग्रह, अमन्द-नक्षत्र तथा अनिंद्य-लावण्य-लोक अन्तर्निहित हैं। परन्तु नई काव्य-भाषा की प्रशस्ति करके ही पन्त नहीं रह जाते। वह उसकी काव्य-प्रक्रिया भी विस्तारपूर्वक उपस्थित करते हैं :

१—रीतिकालीन श्रृंगार के प्रति विद्रोह :

'शृङ्गार-प्रिय कवियों के लिए शेष रह ही क्या गया। उनकी अपरिमेव कल्पना-शक्ति कामना के हाथों द्रौपदी के दुकूल की तरह फैल कर नायिका के अंग-प्रत्यंग से लिपट गई। बाल्य-काल से वृद्धावस्था पर्यन्त—जब तक कोई न कोई मृगलोचनी तरस खाकर उनसे बाबा न कह दे, उनकी रस-लोलुप सूक्ष्मतम दृष्टि केवल नख से शिख तक, दक्षिणी ध्रुव से उत्तरी ध्रुव तक, यात्रा कर सकी। ऐसी विश्व-व्यापी अनुभूति इसी विराट रूप का दर्शन कर ये पुष्प-धनुर्धर कवि रति के महाभारत में विजयी हुए। समस्त देश की वासना के वीभत्स समुद्र को मथ कर उन्होंने कामदेव को नव जन्म-दान दे दिया, वह अब सहज ही भस्म हो सकता है।'

(२) रीति-काव्य के वाह्य रूप के प्रति विद्रोह

'भाव और भाषा का ऐसा शुक प्रयोग, राग और छन्दों की ऐसी एक-स्वर रिमझिम, उपमाओं तथा उत्प्रेक्षाओं की ऐसी दादेरावृत्ति, अनुप्रास एवं तुकों की ऐसी अश्रान्त उपल-वृष्टि क्या संसार के और किसी साहित्य में मिल सकती है।'

(३) खड़ी बोली को नए प्रकार से नए संस्कारों में गढ़ने का उद्योग

(क) शब्दों के रागात्मक-रूप और नादात्मक-सौन्दर्य को खोजने की चेष्टा : भिन्न-भिन्न पर्यायवाची शब्द, प्रायः संगीत-भेद के कारण, एक ही पदार्थ के भिन्न-भिन्न स्वरूपों को प्रकट करते हैं। जैसे भ्रू से क्रोध की वक्रता भृकुटि से कटाक्ष की चंचलता, भौंहों से स्वभाविक प्रसन्नता, मृदुता का हृदय में अनुभव होता है।'—आदि

(ख) चित्रभाषा के लिए आग्रहः

कविता के लिए चित्रभाषा की आवश्यकता पड़ती है, उसके शब्द सस्वर होने चाहियें, जो बोलते हों, सेव की तरह जिनके रस की मधुर लालिमा भीतर न समा सकने के कारण बाहर झलक पड़े, जो अपने भाव को अपनी ध्वनि में आंखों के सामने चित्रित कर सकें, जो झंकार में चित्र, चित्र में झंकार हों, जिसका भाव-संगीत विद्युत्धारा की तरह रोम-रोम में प्रवाहित हो सके।'

(ग) भाव और भाषा के सामंजस्य का प्रयत्न

'भाव और भाषा का सामंजस्य, उनका स्वरैक्य ही चित्र-राग है। जैसे भाव ही भाषा में घनीभूत हो गए हों, निर्झरणी की तरह उनकी गति और रव एक बन गए हों, छुड़ाये न जा सकते हों .. ...

(घ) अलंकारों का विशेष प्रयोग :

'अलंकार केवल वाणी की सजावट के लिए नहीं, वे भाव की अभिव्यक्ति के विशेष चिन्ह हैं। ... कविता में भी विशेष अलंकारों, लक्षणा-व्यंजना आदि विशेष शब्द-शक्तियों तथा विशेष छन्दों के सम्मिश्रण और सामंजस्य से विशेष भाव की अभिव्यक्ति करने में सहायता मिलती है।

(४) छन्द के क्षेत्र में नए प्रयोगः

(क) संस्कृत के वर्णिक छन्दों की उपेक्षाः

'संस्कृत का संगीत जिस तरह हिल्लोलाकार मालोपमा में प्रवाहित होता है, उस तरह हिन्दी का नहीं। हिन्दी का संगीत केवल मात्रिक छन्दों में ही अपने स्वाभाविक विकास तथा स्वास्थ्य की संपूर्णता प्राप्त कर सकता है,

उन्हीं के द्वारा उसमें सौन्दर्य की रक्षा की जा सकती है। वर्ण-स्रोतों की लहरों में उसकी धारा अपना चंचल नृत्य खो बैठती है।'

(५) सवैया और कवित्त की उपेक्षा

'सवैया तथा कवित्त छन्द मुझे हिन्दी की कविता के लिए अधिक उपयुक्त नहीं जान पड़ते ... ...'

(६) तुक के प्रति मोह

...'तुक राग का हृदय है।'

इस विश्लेषण से यह स्पष्ट हो जाता है कि कवि का ध्यान काव्य के वहिरंग-परिवर्त्तन की ओर अधिक है। जहां वह सतुकाँत नवीन मात्रिक छन्दों के प्रयोगों का आग्रह करता है, वहां भाव भाषा के सम्बन्ध पर आधारित चित्रमय भाषा और शब्दों के रागात्मक तथा नादात्मक सौन्दर्य के सम्पूर्ण काव्योपयोग की बात उठाता है। शैली के क्षेत्र में वह अलंकृत शैली का पक्षपाती है परन्तु अलंकार समर्थ लाक्षणिक-व्यंजनाओं से युक्त हो और भावाभिव्यंजन के साधक हों। पिछले विवरण में हमने देखा है कि 'पल्लव' की कविताएं इस वहिर्पक्ष को बड़ी संवार के साथ हमारे सामने लाती हैं। वास्तव में पंत को बड़ी सजगता से वहिरंग का निर्माण करना पड़ा है। भावानुकुल नए छन्दों और नए नादात्मक-शब्द-गुंफों एवं लाक्षणिक प्रयोगों के क्षेत्र में पंत अग्रणी रहे हैं। उन्होंने ही द्विवेदी युग के इतिवृत्तात्मक काव्य में भावों का नया स्पंदन उठाया है और कला के नये-नये बंधान बांधे हैं। उनकी ही प्रतिभा ने खड़ी बोली को सुचिक्कण सुकोमल और गीतिप्राण बना कर उसे ब्रजभाषा की माधुरी और अवधी की भाव-गरिमा दी है।

पंत ने भाषा की अपभ्रंश-परम्परा का विरोध किया है और सैकड़ों संस्कृत शब्दों के तत्सम रूपों का पुनरुद्धार किया है। इससे हिन्दी कविता में नया मार्दव आया है और उसकी व्यंजना-शक्ति में वृद्धि हुई है। उन्होंने पर्यायवाची शब्दों में संगीत-भेद के आधार पर, भावों के विभिन्न-स्वरूपों की कल्पना की है, जैसे भ्रू से क्रोध की वक्रता, भृकुटि से कटाक्ष की चंचलता, भौंहों से स्वाभाविक प्रसन्नता। इसी प्रकार हिलोर, लहर, तरंग, बीचि और ऊर्म्मि उनके लिए विभिन्न भावों के द्योतक बन जाते हैं। यह सूक्ष्म अन्वेषण पंत के काव्य की सामर्थ्य बढ़ा देता है। वास्तव में पंत के काव्य में जिस चित्रभाषा का व्यापक प्रयोग है, उसका आधार उनकी शब्दों की यही सूक्ष्म परख है।

भाषा ही नहीं, छन्दों के क्षेत्र में भी पंत की कलात्मक रुचि तथा

उनके प्रातिभ-ज्ञान ने क्रांति की है। उन्होंने हिंदी की मात्रिक प्रवृत्ति को सबसे पहले पहचाना है और इसीलिए संस्कृत के वर्णिक-छन्दों तथा कवित्त सवैया जैसे अक्षर-मात्रिक, लयात्मक छन्द उन्हें अस्वीकृत हैं। वह पीयूष-वर्षण, हरिगीतिका, रूपमाला, सखी, प्लवंगम को करुण रस के उपयुक्त बतलाते हैं। रोला उन्हें आज प्रधान छन्द लगता है। उसे वे अंत्यानुप्रासहीन कविता के लिए विशेष उपयुक्त मानते हैं। सोलह मात्रा का अरिल्ल छन्द भी गतिशीलता के कारण क्षिप्र भावों के प्रकाशन में समर्थ है। इसी प्रकार राधिका छन्द में उन्हें ऐसा जान पड़ता है जैसे परियों की टोली परस्पर हाथ पकड़कर, चंचल नूपुर-नृत्य करती हुई, लहरों की तरह अंग-भंगियों में उठती-झुकती, कोमल कंठों से गा रही हो।' इस भूमिका में उन्होंने मुक्तक-काव्य की विशद विवेचना की है और यहां भी वह ह्रस्व-दीर्घ मात्रिक संगीत को ही आधार बनाते है, बंगला का अक्षर-मात्रिक मुक्त-छन्द उन्हें हिन्दी के उपयुक्त नहीं जान पड़ता। यही नहीं, उन्होंने एक ही छन्द के प्रयोग में विभिन्न चरण के भावानुकूल लघुत्व तथा प्रसार को भी सम्यक् बतलाया है और 'आंसू' शीर्षक काव्य में कहीं-कहीं यह काट-छांट इतनी अधिक हुई है कि मूल छन्द का रूप ही बदल गया है।

(४)

संक्षेप में, पंत के 'पल्लव' की यह भूमिका आधुनिक-हिन्दी-काव्य में एक बड़ी क्रांति की सूचना देती है। इसमें हम विषयि-प्रधान काव्य की रीति-नीति और व्यवहार से परिचित होते हैं और नए (छायावादी) काव्य का शास्त्र हमारे सामने आता है। अपने काव्य के पहले चरण में पंत इसी शास्त्र को अपने सामने रख कर आगे बढ़े हैं और उनके उत्तर काव्य में भी भाव-भूमि बदल जाने पर भी, बहुत दूर तक 'पल्लव' की कला का ही विस्तार मिलता है।' गुंजन-ग्राम्या' में पंत-काव्य का दूसरा चरण सुरक्षित है। इसमें कवि पहले अंतर्मुख हो गया है तथा उसने अपने भीतर डूब कर बहिर्जगत के वैषम्यों के समाधान की चेष्टा की है भीतर के बोध से बली हो कर उसने मानव-जीवन की ओर दृष्टिपात किया है और उसे अपूर्व पाया है। वह कह उठा है :

में प्रेम उच्चादर्शों का,
संसृति के हर्ष-विमर्षों का,
लगता अपूर्ण जीवन।

एक नये सौन्दर्य-बोध से प्रेरित हो कर उसने सब कहीं साम्य और

संतुलन के तत्वों को ढूंढने की चेष्टा की है। 'पल्लव' की भांति अबाध कल्पना-विलास 'गुंजन' में नहीं है। उसमें प्राकृतिक-सौन्दर्य जीवन के भाव-सत्य को उभारने के लिए ही सामने आता है। 'नौका-विहार' तथा 'एक तारा' जैसी सुन्दर-निसर्ग कविताओं के अन्त में भी कवि जीवन-सत्य हमें देता है। इस आग्रह से कहीं-कहीं कोरी उपदेशात्मकता भी आ गई है जो काव्यानुभूति में बाधक है। समीक्षकों ने कवि के इस परिवर्त्तन को सहृदयता नहीं दी है, परन्तु कवि अब कल्पना-प्रिय, भावुक-सौन्दर्य का सृष्टा कलाकार नहीं है, वह जीवनद्रष्टा है। वह जीवन की नई-नई ध्वनियों का आकलन करना चाहता है। उसकी चिंता और भावुकता का केन्द्र 'मानव' है। 'गुंजन' की 'मानव' कविता मानव की सब से बड़ी प्रशस्ति है। 'ज्योत्स्ना' में इसी मानव के वहिरंतर के विकास के लिए एक संपूर्ण जीवन-तंत्र की योजना है, परन्तु स्वतंत्र चिंतन की भूमि पर, 'वादों' की भूमि पर नहीं। यहां हमें जीवन के प्रति कवि का मंगलाशी भावुक रूप ही दृष्टव्य है। कवि अपने मनःकल्प द्वारा भू-स्वर्ग का अवतरण करता है। इस भू-स्वर्ग में :

सर्व देश, सर्व काल,
धर्म जाति वर्ण जाल,
हिलमिल सब हों विशाल
एक हृदय अगणित स्वर।

इस कल्पान्तर के सपने से भर कर कवि गा उठता है :

निर्भय हो, निर्भय मानव,
निर्भीक विचर पृथ्वी पर,
विचलित मत हो विघ्नों से,
निज आत्मा पर रह निर्भर।
है पूर्ण सत्य अविनश्वर,
है पूर्ण सत्य रे नश्वर,
है पूर्ण सत्य यह मानव,
हैं पूर्ण निखिल सचराचर।

'ज्योत्स्ना' में कवि ने अपने वक्तव्य को रंगमंचीय रूप देने का प्रयत्न किया है। परन्तु कल्पना-प्रधान होने के कारण वह काव्योपकरणों से पुष्टल तथा भाव-सुमनों से सुसज्जित है। वह पंत के परवर्ती काव्य से कहीं अधिक सहज सुन्दर और ग्राह्य है। यथार्थ में इसी रचना से पंत का उत्तर काव्य आरम्भ होता है। 'ज्योत्स्ना' में जो भाव-जड़ित है, वही उत्तर

काव्य में तर्कबद्ध, गद्यात्मक और विषयप्रधान बन गया है। नाटक में पंत आधुनिक संसार के लोकतंत्रीय और समाजतंत्रीय जीवन की विभिन्नताओं का निरूपण करते हैं तथा भौतिक एवं आध्यात्मिक मूल्यों के समीकरणों को भावी युगों के सत्य के रूप में उपस्थित करते हैं। 'युगांत', 'युगवाणी' और 'ग्राम्या' में 'ज्योत्स्ना' की भावधारा का ही व्याख्यान है। 'युगांत' में गाँधी-वाद की स्पष्ट छाप है और 'युगवाणी' तथा 'ग्राम्या' में समाजवाद को जीवन-सत्य के रूप में उपस्थित किया है, यद्यपि यह स्पष्ट है कि कवि न गांधीवाद से पूरा आश्वस्त है, न समाजवाद से। उसने दोनों तंत्रों को अपूर्ण माना है तथा दोनों के समीकरण से अपने तीसरे काव्य-चरण का आरम्भ किया है।

इन परवर्त्ती काव्य-संग्रहों का संसार 'पल्लव-गुंजन' के संसार से भिन्न है। उसमें रोमानी रंगों की चटुलता और गहराई नहीं है, और नहीं है नैराश्य की छाया। प्रकृति, मनुष्य, जीवन, लोकाचार, यहां तक कि काव्य के प्रति तक कवि का दृष्टिकोण ही बदल गया है। आलंकारिक भाषा-शैली का स्थान निरालंकृत गद्य ने ले लिया है। इन रचनाओं को स्वयं कवि ने 'गीत-गद्य' कहा है। एक कविता में वह वाणी को संबोधित करता हुआ कहता है :

तुम वहन कर सको जन-मन में मेरे विचार,
वाणी मेरी, चाहिये, तुम्हें क्या अलंकार।
भव-कर्म आज युग की स्थितियों से है पीड़ित,
जग का रूपांतर भी जनैक्य पर अवलंबित।
तुम रूप कर्म से मुक्त शब्द के पंख मार,
कर सको सुदूर मनोनभ में जन के विहार,
वाणी मेरी चाहिये तुम्हें क्या अलंकार॥

(१९४०)

यह गद्य-शैली जीवन की वास्तविकता को उभारने में सफल है, यद्यपि कवि की प्रवृत्तियों से अंत तक उसका मेल नहीं हो सका है। उसने बार-बार कल्पना के पंख फड़काये हैं और रूप-रंग का संसार उसे बार-बार वस्तु-सत्य से हटा कर भाव-सत्य की ओर ले गया है। नई काव्य-शैली प्रकृति-सम्बन्धी रचनाओं में अधिक स्पष्ट रूप से सामने आती है। सांध्यकालीन कलरव की पृष्ठभूमि में घर लौटते श्रमजीवियों का यह चित्र देखिये :

बाँसों का झुरमुट,
संध्या का झुटपुट, हैं चहक रहीं चिड़ियां।

टी-वी-टी—टुट्-टुट् ।
वे ढाल ढाल कर उर अपने
हैं बरसा रहीं मधुर सपने
श्रम-जर्जर विधुर चराचर पर,
गा गीत स्नेह-वेदना-सने ।
ये नाप रहे निज घर का मग,
कुछ श्रमजीव, धर डगमग डग,
भारी है जीवन, भारी है पग ।
आः, गा-गा शत-शत सहृदय खग ।।

(१९३५)

इसी तरह 'झंझा' में 'नीम' का चित्रण करता हुआ कवि चलित चल-दलों की नवीन मर्मर-ध्वनियों को जाग्रत करता है :

सरसर मर मर
रेशम के से स्वर भर,
घने नीम-दल
लंबे, पतले, चंचल, श्वसन-स्पर्श से
रोम हर्ष से
हिल हिल उठते प्रतिपल ।
वृक्ष-शिखर से भू पर
शत-शत मिश्रित ध्वनि कर
फूट पड़ा लो निर्झर,
मरुत, —कंप, अर——

(१९३८)

कहीं-कहीं वस्तु-चित्रण की यथार्थोन्मुखी प्रवृत्ति इतनी व्यापक बन जाती है कि चित्र उल्लेखों और विवरणों से भर जाता है जैसे 'ग्राम-श्री' में:

अब रजत स्वर्ण मंजरियों से
लद गई आम्र-तरु की डाली,
झर रहे ढाक, पीपल के दल,
हो उठी कोकिला मतवाली ।
महके कटहल, मुकुलित जामुन,
जंगल में झरबेरी झूली,
फूले आड़ू, नींबू, दाड़िम,

आलू, गोभी, बैंगन, मूली ।
पीले मीठे अमरूदों में
अब लाल लाल चित्तियां पड़ीं,
पक गये सुनहले मधुर बेर,
अंवली से तरु की डाल जड़ी ।

इस कोटि के चित्रण कविता के साथ न्याय नहीं करते । उनमें तथ्य-संग्रह की वैज्ञानिक दृष्टि ही सर्वोपरि हो जाती है । परन्तु पंत का स्वभावगत प्रकृति-प्रेम ऐसे स्थलों में अधिक नहीं रमता । वह अवचेतन के अज्ञात तलों से उभर कर कविता को जड़ तथ्यवाद से बचा देता है—जैसे 'गंगा' कविता में जन-गंगा के रूपक के ऊपर यह रहस्य-भाव ही छा जाता है :

अब आधा जल निश्चल, पीला,
आधा जल चंचल औ नीला,
गीले तन पर मृदु संध्यातप
सिमटा रेशम पट सा ढीला ।
+ + +
ऐसे सोने के साँझ-प्रात,
ऐसे चांदी के दिवस रात,
ले जाती बहा वहाँ गंगा
जीवन के युग-क्षण . . . किसे ज्ञात ।
(१९४०)

जहां कवि ने प्रकृति को अपने भाव-निकाय के साथ देखा है—जैसे 'याद' (१९३९) शीर्षक कविता में, वहां वह अब भी प्रकृति-काव्य में अपने नेतृत्व को सुरक्षित रख सका है ।

दूसरे चरण के इस काव्य में कवि मूलतः चिंतक है और मार्क्सवादी-गांधीवादी-दर्शन सामाजिक और राजनैतिक तंत्रों तथा समसामयिक जीवनस्थितियों के सम्बन्ध में उसने काफ़ी सोचा है । यहां सिद्धान्त प्रधान हैं, कविता गौण है । परन्तु फिर भी इन कविताओं में भाव तथा विचार का बड़ा सुन्दर गठबंधन हुआ है और उनकी गद्यात्मकता भी आकर्षक है । 'गांधी जी' तथा 'भारत-माता' पर लिखी कवि की रचनाएं इन कविताओं में भी अपूर्व भावोन्मेष-विजड़ित बन गई हैं । गांधी जी के सिद्धान्तों को कवि चाहे अपूर्ण कहे, परन्तु उनके प्रति उसका तीव्र संवेदनात्मक आकर्षण बराबर बना रहा है । गाँधी जी की मृत्यु पर लिखी उसकी अनेक कविताएं इसका

प्रमाण हैं। यहाँ गाँधी जी मानवता के सर्वश्रेष्ठ प्रतीक हैं, वह लोकोत्तर ज्योति हैं। उनमें पार्थिव कुछ भी नहीं हैं।

'ग्राम्या' में हमें कवि का ग्राम्य-जीवन के प्रति सहज आकर्षण भी मिलता है, यद्यपि वह बहुत कुछ बौद्धिक ही है। जिस 'नक्षत्र लोक' में रह कर उसने 'गुंजन' की कविताओं की रचना की थी, वह अभी उसके भाव-जगत को घेरे हुए है। फिर भी ग्राम्य-जगत के ये चित्र नए पुलक-हास से मृदुल बन गए हैं। 'ग्राम-युवती' का यह चित्र देखिये :

कानों में अड़हुल,
खोंस,— धवल
या कुंई, कनेर, लोध पाटल,
वह हरसिंगार से कच संवार,
मृदु मौलसिरी के गूंथ हार,
गउओं संग करती वन-विहार।
पिक-चातक के संग दे पुकार,—
वह कुंद काँस से
अमलतास से
आम्र-मौर, सहजन, पलाश से;
निर्जन में सज ऋतु-सिंगार
तन पर यौवन सुषमाशाली,
मुख पर श्रमकरण, रवि की लाली,
सिर पर धर स्वर्ण शस्य डाली,
वह मोड़ों पर आती-जाती,
उरु मटकाती
कटि लचकाती
चिर वर्षातप-हिम की पाली
धनि श्यामवरण,
अति क्षिप्र चरण,
अधरों पर धरे पकी बाली।

(१९४०)

अथवा धोबियों के नृत्य का यह रेखाचित्र :

उड़ रहा ढोल धाधिन, धातिन,
औ हुड़ुक घुड़ुकता ढिम-ढिम ढिन।

मंजीर खनकते खिन, खिन, खिन,
छन छन छन छन,
लो छन छन, छन छन,
थिरक गुजरिया हरती मन ।

(१९४०)

इन चित्रों में एक तटस्थता अवश्य है, परन्तु फिर भी जीवन का रस इनमें भरपूर है और कवि एक नई सामाजिकता के स्वप्न से पुलकाकुल होकर जीवन की नई मांस-पेशियाँ उभार रहा है। उसने कला और कल्पना के गौरीशंकर से नीचे उतरकर जन-गंगा की युग-पुराचीन धारा के सिकता-तट पर खड़े होकर नव-जीवन की प्रशस्ति गाई है और जन-जीवन की अनेकानेक भंगिमाओं और आसक्तियों को बड़े प्यार से देखा है। इस नवदृष्टि में नवीन कलादृष्टि का भी संभार है और हम कवि के साथ गा सकते हैं :

खुल गए छन्द के बंध
प्रास के रजत पाश,
अब गीत मुक्त
औ युगवाणी बहती अयास ।
बन गए कलात्मक भाव
जगत के नाम-रूप,
जीवन-संघर्षण देता सुख,
लगता ललाम ।

(१९३८)

: २१ :

महादेवी वर्मा का काव्य

श्रीमती महादेवी वर्मा के काव्य-क्षेत्र में उतरने से पहले ही आधुनिक हिन्दी-कविता की रहस्यात्मक-भूमि तैयार हो गई थी और पन्त, निराला और प्रसाद के काव्य में इस नई भूमि का रहस्योज्वल, स्वप्निल-विन्यास नए आकर्षण के साथ सामने आ चुका था। सच तो यह है कि रहस्यवादी भावना के उपकरण उन्नीसवीं शती के अन्त में रामकृष्ण परमहंस, रामतीर्थ और विवेकानन्द की वेदान्तीसाधना और विचारधारा और ब्रह्म समाज की निर्गुण भावना में पूर्ण रूप से संगठित हो गए थे। उपनिषदों का तत्त्व-ज्ञान और अद्वैत-साधना भारतीय-संस्कृति के अविच्छिन्न-अंग हैं और उनके बिना कदाचित् भारत की कल्पना ही नहीं की जा सकती। साम्प्रदायिक और सांस्कृतिक जड़ता से संतप्त युगों ने बार-बार इस शांति-स्रोत की ओर देखा है और नया जीवन-स्पन्दन प्राप्त किया है। १७वीं-१८वीं शताब्दियों की अनुर्वरा जीवन-भूमि पर उन्नीसवीं शती के अन्तिम वर्षों में वेदान्त-साधना एक नए रूप में पल्लवित हुई। इस नई चेतना का काव्य-समीकरण हमें रवीन्द्रनाथ ठाकुर की कविता में मिला। नैवेद्य, (१६००), खेया (१६०६), गीताँजलि (१६१०), गीतमाल्य (१६१२), और गीतालि १६१३ में उनके रहस्यवादी गीत नई भाषा-शैली और नए प्रतीकों के साथ सामने आए। वेदान्त का

यह नवीन गीत-संस्करण लोकप्रिय हुआ और अंग्रेजी गीतांजलि के सम्मान ने इस भाव-धारा की ओर हिन्दी का भी ध्यान खींचा। वास्तव में यह विचार-धारा हिन्दी-प्रदेश की उतनी ही अपनी थी, जितनी बंगाल की, कदाचित् कुछ अधिक ही। १९१३-१४ से १९३० तक हम खड़ा बोली काव्य में 'गीतांजलि' की अनेक प्रतिध्वनियां सुनते हैं और रहस्य-मिलन एवं वियोग की कथा नए विस्मय-भाव से मंडित होकर सामने आती हैं। परन्तु उसमें हृदय की पीर नहीं है, वह नैसर्गिकता नहीं है जो किसी भी काव्यात्मक-संवेदना को प्राण देती है। पंत में प्राकृतिक व्यापारों के प्रति विस्मय-भाव है तो प्रसाद में लाक्षणिक-विधानों पर आग्रह और प्रतीकों की नवीन योजना के साथ उस रहस्य-सत्ता के प्रति नया सौन्दर्य-बोध है। निराला का बुद्धिवादी वेदान्ती तर्कवाद को छोड़ कर भाव में डूबना नहीं जानता। यह स्पष्ट है कि इनमें से कोई भी कवि भाव की नैसर्गिक भूमि पर नहीं खड़ा हो सका है और उसकी कविता में उसका अपना आत्मदान मुखरित नहीं है जो रहस्यवादी काव्य की विशेषता है। महादेवी रहस्यवादी काव्य-क्षेत्र में यह विशेषता ले कर आईं। उनकी अपनी खोज थी और यद्यपि वह 'नीहार' (१९३०) और 'रश्मि' (१९३२) की लम्बी खोज के बाद रहस्यमिलन-वियोग की भाव-भूमि पर पहुंचीं, परन्तु वहाँ पहुंच कर उन्होंने जो ध्वनियां उठाईं जो राग छेड़े, वह अद्भुत और अपूर्व थे। उनकी अनुभूति वैयक्तिक जीवन की उपलब्धि थी या संकल्पात्मक थी यह कहना कठिन है, परन्तु उसमें नैसर्गिकता, आत्मनिष्ठा और सच्चाई की कमी नहीं थी। इसी से उनके प्रशंसकों को उनके काव्य में कबीर, मीरा और जायसी के स्वर सुनाई पड़े और उनमें उन्होंने वह पाया जो उन्हें रवीन्द्रनाथ के अतिप्रशंसित गीत-काव्य 'गीतांजलि' में भी नहीं मिला था। नई भाषा, नई शैली, नए प्रतीक और नारी-हृदय के कोमलतम स्पन्दन के साथ भाव-मिलन और संकल्पात्मक वियोग के चित्र।

जिन दो कविता-संग्रहों का हमने ऊपर उल्लेख किया है उनमें विषाद और अवसाद की छाया स्पष्ट है। उनमें कवियित्री जीवन-मरण, सुख-दुख, ससीम-असीम के सम्बन्ध में अपनी जिज्ञासा उपस्थित करती हैं और तर्क, चिन्तन एवं भावना के द्वारा समाधान चाहती हैं। एक स्थान पर वह कहती हैं:

यह जग है विस्मय से निर्मित,
मूक पथिक आते जाते नित,
नहीं प्राण प्राणों से परिचित।

जान पड़ता है, एक अति कोमल, अतिसंवेदित आत्मा संसार के बीच में आ पड़ी है और उससे अपना सामंजस्य नहीं बिठा पाती। उसे अपने चारों ओर नाश और निर्माण का एक निरर्थक चक्र चलता दिखलाई देता है और एक विस्मय भाव से भर कर वह पुकार उठती है :

कनक से दिन मोती सी रात,
सुनहली सांझ गुलाबी प्रात,
मिटाता रंगता बारंबार,
कौन जग का वह चित्राधार,

नाश और निर्माण के परदे के पीछे उन्हें किसी रहस्यमय की झलक दिखलाई देती है, परन्तु यह झलक कितनी देर ठहरती है। कवियित्री अपने आप को समझा लेती हैं कि यह रंगों का खेल जिस तरह क्षणिक है उसी तरह जीवन भी क्षणभंगुर है और इसे अस्थिर और क्षुद्र ही तो समझना है। 'जीवन' से संबोधित होकर ही वह कहती हैं :

तुम्हें ठुकरा जाता नैराश्य,
हँसा जाती है तुमको आश,
नचाता मायावी संसार,
लुभा जाता सपनों का हास।
मानते विष को संजीवन
मुग्ध मेरे भूले जीवन ॥
न रहता भौंरों का आह्वान,
नहीं रहता फूलों का राज्य,
कोकिला होती अंतर्धान,
चला जाता प्यारा ऋतुराज।
असंभव है चिर सम्मेलन,
न भूलो क्षणभंगुर जीवन ॥

जीवन की इस अनित्यता और अस्थिरता एवं आत्मा के नितांत अकेलेपन की अनुभूति के साथ कदाचित् इस प्रारंभिक काल में ही दुःख और पीड़ा का भी व्यक्तिगत और सामूहिक अनुभव उन्हें हुआ। 'दिया क्यों जीवन का वरदान' शीर्षक कविता में कदाचित् कोई व्यक्तिगत अनुभूति ही व्यापक चेतना बन कर मुखरित हो उठी है :

इसमें है स्मृतियों की कंपन,
सुप्त व्यथाओं का उन्मीलन।

ये पंक्तियां रहस्यभूमि पर जो बात कह रही हैं उसके पीछे यदि कवियित्री के वैयक्तिक जीवन का स्पंदन नहीं होता तो वह अपनी बात को इतनी शक्ति के साथ कैसे कह पाती। यह भी अवश्य है कि महादेवी प्रारम्भ से ही संकोची हैं और उन्होंने पीड़ा को बहुत बार होठों में ही छिपा लिया है। यही नहीं, उन्होंने वैयक्तिक दुःख और पीड़ा की बात को अस्वीकार भी करना चाहा है। उन्होंने लिखा है : 'संसार साधारणतया जिसे दुःख और अभाव के नाम से जानता है वह मेरे पास नहीं है। जीवन में मुझे बहुत दुलार, बहुत आदर और बहुत मात्रा में सब कुछ मिला है। उस पर पार्थिव दुःख की छाया नहीं पड़ी। कदाचित् यह उसी की प्रतिक्रिया है कि वेदना मुझे इतनी मधुर लगने लगी है।' ('रश्मि' की भूमिका से) परन्तु ऐसी पंक्तियाँ कम नहीं हैं जो पुकार-पुकार कर कहती हैं कि बात चाहे रूपक में छिपा दी गई हो, यह कोई अपनी ही कहानी कह रहा है। प्राणों का दीप जला कर दीवाली करते जाने का साहस साधारण साहस नहीं है। उसमें टूटे हुए सपनों की चीत्कार साफ़ सुनाई पड़ती है। व्यक्तिगत दुःखानुभूति को महादेवी ने ऊर्ध्वोन्मुख कर रहस्य-मिलन-वियोग का रूप दे दिया है, परन्तु चारों ओर उमड़ती हुइ पीड़ा को उन्होंने 'अतीत के चलचित्र' की रेखाओं में बाँध दिया है। 'कह दे माँ क्या अब देखूँ' शीर्षक कविता इस दृष्टि से विशेष ध्यान देने योग्य है। एक ओर हैं अपार वैभव, विलास, ऐश्वर्य, सुख : दूसरी ओर है दरिद्रता, संताप, अश्रु और क्रन्दन। कवियित्री की संवेदना किस तरफ है यह स्पष्ट है। वह कहती है :

देखूँ हिम-हीरक हँसते
हिलते नीले कमलों पर,
या मुरझाई पलकों पर
झरते आँसू-कन देखूं।
मकरंद-पगी केसर पर
जीती मधु-परियाँ ढूँढूँ,
या उर-पंजर में कण को
तरसे जीवन-शुक देखूं॥

परन्तु संभवतः अपने संकोची स्वभाव के कारण महादेवी सामाजिक और राष्ट्रीय जीवन की विडंबनाओं को काव्य का रूप नहीं दे सकी। उनकी अनुभूति ने अभावों एवं दुःखों की अभिव्यक्ति का कोमल मार्ग पकड़ा और ये अभाव और दुःख उन्होंने अपने भीतर की अपूर्णता के साथ एक

सूत्र कर दिए। फलतः उनके काव्य में हमें न व्यक्तिगत सुख-दुख मिलते हैं, न समाज के सुख-दुख । जीव-ब्रह्म की रहस्य-मिलन-वियोग की परम्परागत संकेत-भूमि पर ही उनका काव्य हमें इनका आभास देता है, परन्तु इस संकेत के पीछे एक स्पन्दनशील, भावनामय नारी-हृदय है और उसके अभाव हैं, सपने हैं। इसी से महादेवी का रहस्यवादी काव्य साम्प्रदायिक और रूढ़िवादी नहीं बन सका है और वह आज भी बड़ा प्रभावोत्पादक है।

'नीरजा' (१९३५) से महादेवी के काव्य का नया चरण शुरू होता है। वास्तव में १९३२ से ही उनके काव्य में गीतात्मकता की प्रधानता हो गई है तथा खोज एवं समाधान से ऊपर उठ कर वह एकान्त भाव से रहस्यानुभूति में डूब गई हैं। 'रश्मि' में जो स्वर विवादी के रूप में लगता है, वह अब सम्बादी बन गया है और एक तरह से वही सब कुछ हो गया है। 'नीरजा' (१९३५), 'सांध्यगीत' (१९३६) तथा दीपशिखा' (१९४२) में एक ही भावना, एक ही साधना, गीतों-छन्दों और भाषा-शैली की एक ही धारा प्रवाहित है। इन तीन संग्रहों का काव्य एक सम्पूर्ण इकाई बन गया है।

महादेवी के काव्य को हम उनकी आत्मा की करुण पुकार कह सकते हैं। वह स्वयं निवेदिता हैं। साध्य, साधन-पथ, साधना और साधिका के चार पक्षों को लेकर उनका काव्य हमारे सामने आता है। साध्य या लक्ष्य की अनुपमेयता और अलौकिकता केवल व्यंजित की जा सकती है। महादेवी निर्गुण की उपासिका हैं, मीरा की भांति वह अपने इष्ट देव के सगुण रूप की छवि नहीं आँक सकतीं। परन्तु इस निर्गुण परोक्ष को उन्होंने प्रकृति के अनेक रंगों-रूपों हास-विलासों और इङ्गितों में साक्षात किया है। यह सारी प्रकृति ही उन्हें प्रिय के मधुर हास का प्रतिविम्ब जान पड़ती है। साध्य की यह व्यापकता और अलौकिकता रहस्य की सृष्टि करती है। यही प्रकृति जब उन्हें किसी परोक्ष के लिए आकुल दिखलाई पड़ती है तब वह उनके लिए मार्मिक संवेदना ओर खोज का विषय बन जाती है। प्राकृतिक कार्य-व्यापारों के भीतर से ही वह अपना साधना-पथ ढूँढ लेती है। उन्हें अपनी सहानुभूति को निरन्तर सूक्ष्म और संवेदनाशील बनाना है जिससे वह प्रकृति के राग-रंग, सुख-दुःख में डूब कर उस अनन्त के मिलन-वियोग की अनुभूति अपने भीतर जगा सकें। यह भाव-साधना सहज साधना नहीं है। यह 'तलवार की धार पै धावनो' है। कवियित्री ने अपनी रचनाओं में इस साधना-पथ का बड़ा मार्मिक और विस्तृत चित्रण किया है। कभी-कभी तो यह साधना ही उनका साध्य भी

बन जाती है। साधना-पथ की कठिनता, जागरूकता और उसके आकर्षण को उन्होंने अनेक प्रतीकों द्वारा प्रकाशित किया है।

महादेवी की साधना विरह की साधना है। वह मिलन में चिरमौन है। मिलन की संकल्पात्मक अनुभूति साधक में उतने राग-विराग नहीं जगाती, उसके हृदय के तारों को उतना नहीं छूती, जितनी विरह की अनुभूति। इस विरह-साधना का हम महादेवी के काव्य में बड़ा विस्तार पाते हैं और इसके बीच में हमें साधिका की अश्रु-विजड़ित, मौन-मुखरित, दीप-शिखा सी निरन्तर सजग तपः-मूर्ति प्रतिष्ठित दिखलाई देती है। सच तो यह है कि महादेवी की अनुभूति और उनके काव्य में साध्य, पथ, साधना और स्वयं साधिका के व्यक्तित्व का एकाकार हो गया है। इसी से उनकी कविता में विषय का विस्तार अधिक नहीं है। छायावाद के अन्य कवियों की भांति वह अपने बाहर किंचित भी नहीं देखतीं। केवलमात्र रहस्यात्मक अनुभूति और साधना का ही प्रकाशन उनके काव्य में हुआ है। परन्तु साधिका की अनुभूतिजन्य तीव्रता और भावों की गहराई के कारण विषय के नए-नए पक्ष सामने आते हैं और पुनरावृत्ति भी बुरी नहीं जान पड़ती। प्रकृति की विषद चित्रपटी और नए-नए रूपकों एवं प्रतीकों के प्रयोग के कारण उसकी काव्य-भूमि अलंकृति से आकर्षक और भाव-चित्रों से सचित्र बन गई है। उसमें संचारी भावों का इतना विविध, व्यापक और सूक्ष्म आलेखन है और अनुभवों का इतना वैपुल्य है कि उनका काव्य उनकी छोटी-सी चित्रपट पर भी विराट् की अनुभूति देने में समर्थ है। उसके उपकरण नए होने पर भी एतद्देशीय हैं और उनको भारतीय साधना-परम्परा का अनुमोदन प्राप्त है। एक तरह से वह हमारे मध्ययुगीन रहस्य-साधना की टूटी हुई कड़ी को फिर जोड़ती हैं और नए युग की भाषा में, नए रूपकों प्रतीकों में वही अतीन्द्रिय झंकारें उठाती हैं जो कबीर को तेज, जायसी को भाव-विदग्धता और मीरा को माधुरी देती हैं। इन साधकों की भांति उन्होंने विरागी जीवन नहीं अपनाया है, परन्तु उनके मन के जिस खण्ड में विराग संचित है, वह दर्पण की भांति निर्मल है तथा उनमें आध्यात्मिक तेज, भाव-विदग्धता और माधुर्य का हम एक ही साथ स्फुरण पाते हैं। उनकी कविता में सन्तों तथा भक्तों का आवेदन नई महिमा से मण्डित और कल्पना तथा कला के नए तत्वों से अलंकृत हो उठा है। हाथी-दांत के से छोटे चित्रफलक पर उन्होंने रूप-रंग का एक बड़ा समुद्र और ऐश्वर्यशाली संसार उभारा है तथा उनकी भाव-विपुल रेखाएं स्वयं अपना अतिक्रमण कर रूप-रेखा से हीन, अलंकृति के पार से झांकने वाले भाव-संवेदन

पूर्ण सूक्ष्म संसार का आलेखन बन गई हैं। उन्होंने रूप से अरूप तथा सीमा से असीम का सम्बन्ध जोड़ा है और इसी से उनका काव्य देश-काल निरपेक्ष भाव-सत्य का पुंजीकृत कलारूप बन सका है।

यहाँ हमें पहले यह स्पष्ट कर देना होगा कि रहस्यवाद से हमारा क्या तात्पर्य है :

१—रहस्यवाद का मूल भाव है परोक्ष अनुभूति और तज्जनित एकात्म भाव। रहस्यवादी दृष्टि दृश्यमान जगत की प्रत्येक वस्तु को सूक्ष्म आध्यात्मिक सौन्दर्य से समन्वित कर देती है और त्रिविधता एवं अनेकरूपता नष्ट होकर एकत्त्व में परिणित हो जाती हैं।

२—फलस्वरूप रहस्यवादी व्यक्त सौंदर्य में आध्यात्मिक छाया का आभास पाता है और उसमें समष्टिगत सौन्दर्यदृष्टि का जन्म होता है। यह अत्यन्त उच्च भावानुभूति है। तथा इसकी उपलब्धि के बाद 'अहम्' और 'इदम्' में कोई अन्तर नहीं रह जाता और कुरूपता और असामंजस्य का परिहार हो जाता है।

३—इसके साथ ही रहस्यवादी अपनी अनुभूति के 'स्व'-पक्ष को भी विकसित करता है। वह अपने ससीम व्यक्तित्व को किसी विराट असीम में डुबो देना चाहता है। वह विराट शक्ति-पुञ्ज के रूप में अपने व्यक्तित्व की अनुभूति जाग्रत करता है और इस ऊर्ज्वस्वित आत्मवाद के सहारे चेतना के निम्न स्तरों से ऊपर उठ कर इन्द्रियातीत सूक्ष्म भावलोक में विचरण करने लगता है।

४—वह एकत्व की भूमि पर पहुंच कर द्वन्दों को नीचे छोड़ देता है। सुख-दुःख, पाप-पुण्य, हर्ष-विषाद अपनी विरोधी रूप रेखाओं को खो कर समरस बन जाते हैं और सब कुछ उस विराट् आनन्द की अभिव्यक्ति बन जाता है। यह दार्शनिक तटस्थता की कोटि की वस्तु नहीं है। यह उच्चतर भाव-भूमि पर आत्मा का अबाध संचरण है। सर्वात्म-भाव की आनन्द-भूमि पर विरोधी धर्मों का समाहार हो जाता है और साधक द्वन्दातीत बन कर जीवनमुक्त की दशा को प्राप्त होता है।

५ रहस्यवादी की आध्यात्मिक दार्शनिकता की अभिव्यक्ति कई भाव-भूमियाँ ग्रहण कर लेती हैं। सब से ऊंची भाव-भूमि वह है, जब वह उस अखण्ड, अव्यय, जीवन-तत्त्व में डूब जाता है जो संपूर्ण दृश्यमान जगत में सर्वात्मिन् रूप में व्याप्त है और स्वयं उसके भीतर अंतर्यामिन् रूप में प्रतिष्ठित है। वह उस परोक्ष सत्ता की अनुभूति 'परिपूर्ण-आह्लाद', 'परिपूर्ण

प्रेम' एवं 'परिपूर्ण आनन्द' के रूप में करता है। वह निर्गुण निराकार के उपासक के रूप में सामने आता है और अपने को उस अखण्ड, अविच्छिन्न चेतन-तत्त्व से अभिन्न समझकर लाकोत्तर रस (ब्रह्मानन्द) में डूब जाता है। यहां अबाध मिलन है, निरंतर संक्रमण है, फलतः विरह का भाव ही नहीं है। वेदांती साधकों की अनुभूति इसी कोटि की अनुभूति है और हमारे अपने युग में स्वामी रामतीर्थ की रचनाओं में इसी आत्यंतिक अनुभूति का प्रकाश है।

इससे कुछ नीची कोटि की अनुभूति सूफियों की है, जो निराकार में गुणों की कल्पना कर लेते हैं। वह परोक्ष सत्ता अखण्ड, अव्यय-चेतन-तत्त्व होने पर भी प्रेमस्वरूपिणी है और उस प्रेममय व्यक्तित्व के प्रति पूर्ण आत्म-विसर्जन साधक की सब से बड़ी साध है। इस प्रकार निराकार में गुणों का आरोप और माधुर्य की कल्पना उस परोक्ष को रहस्य से मंडित कर देती है। सूफियों ने अपने भाव को साकार रूप देने के लिये अनेक प्रेम-प्रतीकों का उपयोग किया है तथा आख्यानक काव्य की सृष्टि कर इस प्रेम-मार्गीय साधना की कठिनता और प्रेमपात्र की दुष्प्राप्ति का आलेखन किया है। इसमें संदेह नहीं कि वेदांती भावस्थिति, जो अखण्ड मिलन, तृप्त और आनन्द की अनुभूति जगाती है और कदाचित् वह उससे अधिक मधुर तथा आकर्षक भी है। इसमें विरह-भाव अथवा 'प्रेम की पीर' की योजना अत्यंत मार्मिक रूप से हो जाती है। रहस्यकाव्य का एक बहुत सुन्दर पुराना रूप इस 'प्रेम की पीर' का प्रकाशन है। यहां आत्मा निवेदिता के रूप में उपस्थित होती है अर उसका प्रियतम माधुर्य का केन्द्र बन कर और भी आकर्षक बन जाता है। इस सगुण निराकार भावना का एक और पक्ष भी है। साधक मानव तथा प्रकृति में व्यक्त सौन्दर्य को उस अव्यक्त परन्तु माधुर्यपूर्ण प्रेयमय व्यक्तित्व का ही प्रसार मानता है। इसीलिए समस्त निसर्ग उस परोक्ष के माधुर्य का दर्पण बन जाता है। सूफियों ने निसर्ग को आत्यंतिक प्रेम, आलोकन सौन्दर्य और दिव्य मिलन के भाव में डुबा कर देखा है और कदाचित् इसीलिए उनके काव्य में प्रकृति का बड़ा भावोन्मेष-पूर्ण, रहस्य-इंगित प्रभाव, सौन्दर्य-तल्लीनतापूर्ण विवरण मिलता है। प्राकृतिक व्यापार उनके भाव-जगत में अलौकिक मिलन-विरह के प्रतीक-मात्र बन जाते हैं। वह निःसीम सौन्दर्य-सत्ता सीमाओं की रंजित रूपरेखाओं में बंध कर और भी आकर्षक, और भी रहस्ममय हो उठती हैं।

सगुण साकार के प्रति भी एक प्रकार का रहस्य-भाव

संभव है। सूर, तुलसी और मीरा के काव्य में उनके इष्टदेवों का मधुरतम व्यक्तित्व अलौकिकता से मण्डित होकर हमारे सामने आता है और उनकी लीलाएं प्रतीक योजनाओं के सहारे अलौकिक बना दी जाती है। परन्तु अधिकतः लीलागान की स्थूलता ही सगुण भक्तों के हाथ-पल्ले पड़ती है। जहां इन साधक कवियों ने चारित्रिक भूमि को छोड़कर भावप्रवण आत्म-निवेदन प्रधान समर्पण-भूमि अपनाई है, वहां वे अवश्य मूर्त चित्रण में अमूर्त तत्त्व का समावेश कर सके हैं और काव्य रहस्य की उच्च भूमि को प्राप्त कर सका है। परन्तु इस रहस्य-भूमि पर बहुत काल तक टिकना असम्भव बात है। फिर भी 'रास' तथा 'गोपी-विरह' के प्रसंगों में कुछ अलौकिकता अवश्य आगई है और विशुद्ध भाव-भूमि पर चित्रित होने के कारण ये प्रसंग अलौकिक विरह-भाव की व्यंजना में समर्थ हैं।

महादेवी के काव्य में हम इन तीनों दृष्टिकोणों का समन्वय पाते हैं यद्यपि प्रधानता हमें सूफियों के प्रेमपरक दृष्टिकोण की ही दिखलाई पड़ती है। यह अवश्य है कि वह सूफियों की भाँति साद्यांत रूपक बांध कर नहीं चलतीं न आख्यान का ही सहारा लेती हैं, परन्तु भाव-भूमि और दृष्टिकोण बहुत कुछ वही है। वह शुष्क दार्शनिक समाधान में विश्वास नहीं करतीं। उनका कहना है कि 'मानवीय सम्बन्धों में जब तक अनुराग-जनित आत्म-विसर्जन का नाम नहीं घुल जाता तब तक वे सरस नहीं हो पाते और जब तक यह मधुरता सीमातीत नहीं हो जाती तब तक हृदय का अभाव दूर नहीं होता।' इसीलिए वह अनेकरूपता के कारण (परोक्ष) पर एक मधुरतम व्यक्तित्व का आरोपण कर उसके निकट आत्म-निवेदन करना आवश्यक समझती हैं। अन्तर केवल इतना ही है कि सूफियों की भाँति उनका आत्मनिवेदन कथा के पात्रों के माध्यम से सामने नहीं आता। वह स्वयं मीरा की भांति एकांतिक प्रेमानुभूति का प्रकाशन करती हैं। यह आत्मनिवेदन भक्त कवियों के विनय-पदों की तरह साम्प्रदायिक और तथ्य-प्रधान नहीं बन पाया है। उसके पीछे कवियित्री के हृदय का सूक्ष्म-स्पन्दन है और यद्यपि उसमें आत्मविभोरता उतनी नहीं है, फिर भी वह सम्वेदनाप्रधान होने के कारण आकर्षक बन पड़ा है। उसकी भाषा-शैली तथा उसकी भंगिमा आधुनिक मनोवैज्ञानिक युग के अनुकूल ही है।

महादेवी की यह विशेषता है कि वह प्राकृतिक प्रतीकों के माध्यम से अपनी बात कहती हैं। प्रकृति के स्वतन्त्र, आलम्बन रूप में चित्रण उनमें नहीं मिलते। वह उसे अपने प्रियतम से अलग देख ही नहीं पातीं। सायं-

प्रातः के अश्रु-हास, नक्षत्रों के नीरव संकेत और वर्षा-शरद के अपार वैभव में वह उस अनन्त का आह्वान पढ़ती हैं : कभी वह कहती हैं :

प्राणों के अन्तिम पाहुन ।
चांदनी-धुला अञ्जन सा, विद्युत् मुस्कान बिछाता,
सुरभित समीर-पँखों से उड़ जो नभ में घिर आता,
वह वारिद तुम आना बन ।

कभी वह शरद-ज्योत्सना में उस प्रियतम से आंखमिचौनी खेलती हैं :

वे आभा बन खो जाते, शशि-किरणों की उलझन में,
जिसमें उनको कण-कण में ढूँढूँ, पहचान न पाऊं ।

सकुचती आने वाली बसंत-रजनी में वह प्रिय की पद-चाप सुनती हैं ।

सिहर सिहर उठता सरिता-उर,
खुल खुल पड़ते सुमन सुधा भर,
मचल-मचल आते पल फिर-फिर,
सुन प्रिय की पदचाप हो गई
पुलकित यह अवनी ।
सिहरती आ वसन्त-रजनी ।

कभी प्रकृति के उल्लास-हास को लक्षित कर उनके मन की कोयल पूछ उठती है :

मुस्काता संकेत-भरा नभ,
अलि, क्या प्रिय आने वाले हैं ।

और कभी गरजते हुए मेघों के प्रति उनकी जिज्ञासा उन्मुख हो जाती है, और वह प्रश्न कर बैठती हैं :

लाये कौन संदेश नये घन ।

वास्तव में रहस्यवादी जग के कण-कण में उसी विराट् का हास-विलास देखता है और यह कल्पना करता है कि इस प्रकार लुकछिप कर वह अनन्त, उसके साथ आंखमिचौनी खेल रहा है । दुःख उसे यही है कि वह क्षण भर उसका भी हो पाता । महादेवी के ही शब्दों में :

सस्मित पुलकित नित परिमलमय,
इन्द्रधनुष सा नव रंगोंमय,
अग जग उनका कण-कण उनका,
पल भर वे निर्मम मेरे हों ।

इस प्रकार प्रकृति ही साधिका के लिए उस प्रियतम की दूती बन

जाती है। महादेवी जायसी की भांति प्रकृति को तपःनिष्ठ मानती हैं और बहुधा भावना में भर कर अपने सुख-दुख का आरोपण उस पर करती हैं। प्रकृति के वे ही रूप उन्हें प्रिय हैं जो उनके मन में साधना की अनुभूति जाग्रत करते हैं। 'प्रिय सांध्य गगन मेरा जीवन' और 'मैं नीर भरी दुःख की बदली' गीतों में उन्होंने सांगरूपकों के द्वारा प्रकृति की तपः साधना के साथ अपना तादात्म्य स्थापित किया है।

हम पहले कह चुके हैं कि महादेवी का रहस्यवादी काव्य साध्य, पथ, साधना और साधिका के चार पक्षों को लेकर चलता है। उनके काव्य में साध्य (परोक्ष) का केवल सांकेतिक चित्र ही उभरता है तथा प्रतीकों का प्रयोग इसी सन्दर्भ से हुआ है। निर्गुण-निराकार का रूपचित्रण सम्भव ही नहीं है। अरूप रूपरेखाओं में नहीं बंध पाता। परन्तु पथ और साधना का बड़ा सुन्दर तथा विस्तृत चित्रण महादेवी के काव्य में मिलता है। इन्हीं दो पक्षों के भीतर उनका अपना साधिका-रूप भी सुरक्षित है। यह साधना विरह की साधना है। इसी साधना के द्वारा उन्हें अपने व्यक्तित्व को आराध्यमय बना लेना है :

मैं सजग चिर-साधना ले
सजग प्रहरी से निरन्तर,
जागते अलि रोम निर्भर,
निमिष के बुद्बुद् मिटा कर
एकरस है समय-सागर।
हो गई आराध्यमय मै
विरह की आराधना ले।

वह कभी अपने को मन्दिर के एकान्त कक्ष में नीरव जलने वाले दीप के रूप में उपस्थित करती हैं :

यह मन्दिर का दीप इसे नीरव जलने दो।

कभी साधना-पथ के चिर अक्लांत पथिक के रूप में वह सामने आती हैं, जिसे पथ पर चलते हुए युग बीत गए और अब पथ ही जिसके लिए मञ्जिल बन गया है। वह गा उठती है :

पथ मेरा निर्वाण बन गया।
प्रति पग शत वरदान बन गया॥

अथवा—

हुए शूल अक्षत, मुझे धूलि चन्दन।

अगरु-धूम सी सांस सुधि-गंध-सुरभित,
बनी स्नेह-लौ आरती चिर अकम्पित,
हुआ नयन का नीर अभिषेक-जलकण।
सुनहले सजीले रंगीले धवीले,
हसित कण्टकित अश्रु मकरन्द गीले,
बिखरते रहे स्वप्न के फूल अनगिन।

इन्हीं स्वप्न के बिखरते हुए फूलों को छितराते हुए विरह-पथ के पन्थी ने अपनी यात्रा को ही साध्य मान लिया है। भीतर की ज्वाला ही उसका एकमात्र पाथेय है। उसे अपने ऊपर अपार आस्था है। उसकी यह एकान्त साधना यह अनन्य तपनिष्ठा व्यर्थ जा ही नहीं सकती। मर्म पथ के पथिक के लिए महादेवी का यह आश्वासन बहुत बड़ा संबल रहेगा :

पूछता क्यों शेष कितनी रात।
अमर सम्पुट में ढला तू,
तू नखों की कांति चिर
संकेत पर जिनके जला तू,
स्निग्ध सुधि जिनकी लिए
कज्जल-दिशा में धँस चला तू।
परिधि बन घेरे तुझे वे उँगलियाँ अवदात।।

अन्त में वह गर्व में भर कर कहती हैं :

आज हो उत्तर सभी का ज्वनलवाही श्वास तेरा।
छीजता है इधर तू उस ओर बढ़ता प्रात।।

जो पथिक प्रियतम की पदचाप प्रत्येक बढ़ते पग पर सुन रहा हो, जो उसकी अनन्त करुणा से घिरा हुआ आगे बढ़ रहा हो, उसे मन्जिल की परवाह नहीं हो तो आश्चर्य ही क्या है। यह तो भाव की भूमि है। यहाँ साधना ही सब कुछ बन जाती है। इसी भाव-भूमि पर से भक्तों ने भक्ति को मुक्ति से बड़ी उपलब्धि माना है। महादेवी के काव्य में पथ और पथिक का यह रूपक अपनी सारी सार्थकता और उनके भावुक-हृदय के समस्त भावोन्मेष के साथ कई बार आलेखित है।

अब कुछ महादेवी के काव्य के साहित्यिक मूल्यांकन के सम्बन्ध में भी।

महादेवी का काव्य कल्पना, अलंकृति और संगीत के तीन तत्त्वों से महान बना है। ये तीनों तत्त्व बहुत कुछ आयास-सिद्ध हैं। उनमें वाणी का सहज नैसर्गिक भावोन्मेष नहीं है। संगीत मीरा में भी है, परन्तु वह लोक

गीतों के ढंग का भाव-प्राण। उसमें कला-विदग्ता नहीं है। छन्दों का कोई भी विन्यास हमें मीरा में नहीं मिलता। मीरा ही क्यों, सूर जैसे श्रेष्ठ गायक भी भावुक-कवि पहले हैं। फलतः उनका संगीत निसर्ग-प्राप्त है। महादेवी के काव्य में हम उन्मुक्ति (सेल्फ-एबेन्डन) की दशा नहीं पाते। वह चित्रकर्ती की भांति ही कुशल और सजग कलाकार जान पड़ती हैं। कदाचित् इसीलिए समीक्षकों का एक वर्ग उनकी अनुभूति की ईमानदारी और नैसर्गिकता पर अविश्वास करता है। इसमें संदेह नहीं कि महादेवी की अनुभूति उस कोटि की आध्यात्मिक अनुभूति नहीं जिस कोटि की अनुभूति हम कबीर, जायसी, मीरा और सूरदास में पाते हैं। वह न तो वैराग्य की भूमि को स्वीकार करती हैं न एकांत रूप से आध्यात्मिक उपलब्धि को अपना ध्येय बनाती हैं। परन्तु फिर भी यह नहीं कहा जा सकता कि उनके काव्य के पीछे उनकी अपनी अनुभूति नहीं है, या वह परम्परागत अनुभूतियों और जीवन-मूल्यों के आधार पर चलती हैं। जो हो, यह निश्चित है कि उनके काव्य में साहित्यिक उपकरण भक्तों-संतों के काव्य से कहीं अधिक पुष्ट और विस्तृत हैं और कदाचित् ये तत्त्व उनके रहस्यवादी काव्य को एक नई विशिष्टता दे देते हैं।

'नीहार' की पहली रचना में कवियित्री की कल्पनाशीलता पहली ही पंक्तियों में झलक जाती है जब वह चन्द्रमा से निशा की अलकें खुलवाती हुई कहती हैं :

निशा को धो देता राकेश
चांदनी में जब अलकें खोल,
कली से कहता था मधुमास
'बता दो मधु-मदिरा का मोल।'

परन्तु आरम्भ में भाषा की अपरिपक्वता के साथ कल्पनातिरेक के कारण मूर्त्त चित्रों में कुछ अस्पष्टता भी आ गई है। वास्तव में इसी कल्पनातिरेक तथा अस्पष्टता के कारण छायावादी काव्य प्रारम्भ में लांछित रहा, जैसे :

काल-सीमा के संगम पर
मोम सी पीड़ा उज्ज्वल कर,
उसे पहनाई अवगुंठन,
हास औ रोदन से बुन-बुन।

जैसी पंक्तियों में भावना का कोई स्पष्ट मूर्त्त चित्र सामने न आने के कारण एक प्रकार की गूढ़ता आ जाती थी। परन्तु बाद की रचनाओं में

कल्पना की चित्रपटी अधिक प्रांजल और सुबोध है : कभी-कभी ये कल्पना-चित्र विराट् के स्पंदन को बड़ी सावधानी से पकड़ लेते हैं और पाठक का मानस-क्षितिज किसी भी सीमा में बँध नहीं पाता। एक चित्र देखिए :

अवनि-अम्बर की रुपहली सीप में
तरल मोती सा जलधि जब कांपता,
तँरते घन मृदुल हिम के पुंज से
ज्योत्स्ना के रजत-पारावार में।

यहां कवियित्री ससीम में असीम की अनुभूति जाग्रत करना चाहती हैं। फलस्वरूप वह पृथ्वी-आकाश को सीप-संपुट के रूप में कल्पित करती हैं और फैनालोड़ित समुद्र को तरल-द्युत मोती के रूप में देखती हैं। सीपी की रजत-आभा के समान ही ज्योत्स्ना विच्छुरित है तथा बीच में हिम-पुंज जैसे मेघ। एक सम्पुर्ण चित्र सामने आता है। इसी प्रकार बसंत-रजनी का चित्रण करते हुए वह कहती हैं :

धीरे धीरे उतर क्षितिज से
आ बसंत-रजनी।
तारकमय नव वेणी-बंधन,
शीश-फूल कर शशि का नूतन,
रश्मि-वलय सित घन अवगुंठन,
मुक्ताहल अभिराम बिछादे
चितवन से अपनी॥

और अन्त में 'अलि-गुंजन पद्मों की किंकिणि' को भी नहीं भूलतीं। गतिशील रूपचित्रण के काफी प्रसंग आते हैं, विशेषत: अभिसारिणी के रूप में प्रकृति का चित्रण उपस्थित करते समय। सच तो यह है कि महादेवी के वक्तव्य में चटकीले रंगों की वर्णच्छटा और मादक सुगंधों का पूरा ऐश्वर्य है। प्रकृति के विराट चित्र उन्होंने बड़ी सूक्ष्मता से अंकित किए हैं, जैसे रात का यह चित्र :

मृदुल अंक धर दर्पण सा सर,
आज रही दृग निशि इन्दीवर।

वह जायसी की भांति ही प्रकृति को अलौकिक रूप-रंगों से मण्डित कर उसमें परोक्ष का संकेत स्थापित करती हैं। उनके लिए दिन-रात रजत-कंचन से आकाश का आँगन लीपते हैं और विकसित पद्मराग-कलियों पर नीलम के अलि गुंजित करते हैं। कल्पना की यह उड़ान किसी भी आधुनिक कवि में नहीं

मिलती। परन्तु यह उड़ान सोद्देश्य हैं। कवियित्री 'चन्दन-चांदनी के देश' की स्मृति उभारना चाहती हैं और उनके लिए सौन्दर्य का प्रत्येक स्पन्दन एक अलौकिक अतीन्द्रिय आभा से मण्डित है। परन्तु यह बात नहीं कि वह निरालंकृत चित्र दे ही नहीं सकें। साधक का यह चित्र कैसा भावमय है :

चिर सजग आँखें उनींदी आज कैसा व्यस्त बाना।
जाग तुझको दूर जाना ॥
अचल हिमगिरि के हृदय में आज चाहे कम्प हो ले,
या प्रलय के आंसुओं में मौन अलसित व्योम रो ले,
आज पी आलोक को डोले तिमिर की घोर छाया,
जाग या विद्युत-शिखाओं में निठुर तूफान बोले।
पर तुझे नाश-पथ पर चिन्ह अपने छोड़ जाना ॥

इसमें रूप का स्थान भाव ने ले लिया है। अनुभूति का बड़ा उज्ज्वल रूप यहां मिलता है। इसी प्रकार 'क्या पूजा क्या अर्चन रे' गीत में कवियित्री मीरा जैसी सरल पंक्तियों में अपनी भाव-संवेदना को रूप देने में सफल हुई हैं।

महादेवी के गीतिकाव्य में अनेक प्रकार की और अनेक कोटि की भावानुभूतियों का संचय है। सभी कहीं ये भावपुंज रसपरकता को प्राप्त नहीं कर सके हैं, परन्तु रस के विभिन्न अंगों में कदाचित अनुभावों तथा संचारियों का विशद उपयोग उनके काव्य में हुआ है। विरहिणी और अभिसारिका के रूप में वह बार-बार हमारे सामने आती है और विप्रलम्भ एवं अभिसार के सूक्ष्म भावों का संकलन हमें प्रचुर मात्रा में मिलता है। कभी यह बहिर्मुखी होकर सखी से निवेदित होती है :

रंजित कर दे यह शिथिल चरण,
ले नव अशोक का अरुण राग,
मेरे मण्डन को आज मधुर
ला रजनीगंधा का पराग,
यूथी की मीलित कलियों से
अलि, दे मेरी कवरी सँवार।
लहराती आती मधु-बयार ॥

और कभी स्वयं अन्तर्मुख होकर अपनी अनुभूतियों में डूब जाती हैं :

शशि के दर्पण में देख-देख
मैंने सुलझाए तिमिर-केश,

गूंथे चुन तारक-पारिजात,
अवगुण्ठन कर किरणें अशेष।
क्यों आज रिझा पाया उसको
मेरा अभिनव शृंगार नहीं ।।

परन्तु रहस्यवादी साधक के लिए विरह की अनुभूति मिलन की अनुभूति से कहीं अधिक सार्थक और मार्मिक है। 'प्रेम की पीर' में डूब कर साधक का व्यक्तित्व निर्मलता की प्राप्ति करता है। ऐसे भाव-विदग्ध प्रसंगों में महादेवी का नारी-हृदय और भी उत्तम कोटि की काव्य-वस्तु का संयोजन कर सका है। उनके काव्य में विरह-पक्ष की अनुभूतियों का बड़ा ही विस्तार है और कभी स्वतन्त्र रूप से, कभी प्रकृति की भूमिका पर से उनकी विरहानुभूति बड़े मार्मिक रूप से सामने आई है। एक उदाहरण देखिए :

पुलक पुलक उर, सिहर सिहर तन,
आज नयन आते क्यों भर भर।
सकुच सलज खिलती शेफाली,
अलस मौलश्री डाली डाली,
बुनते नव प्रवाल कुंजों में
रजत-श्याम तारों से जाली।
शिथिल मधु-पवन गिन-गिन मधुकरण,
हरसिंगार झरते हैं झर-झर ।।
आज नयन क्यों आते भर भर।

इस ज्योत्स्ना-धौत वासन्ती निशा की मादक भूमि पर साधिका की मनोव्यथा आँसुओं में उमड़ पड़ी है। ऐसे स्थल विशुद्ध काव्यानुभूति को आध्यात्मिक उच्चस्तर तक पहुंचा देते हैं। महादेवी के काव्य का यह पक्ष बड़ा प्रौढ़ और सुन्दर है। इस सन्दर्भ में उन्होंने प्राकृतिक सुषमा और प्राकृतिक प्रतीकों का बड़ा व्यापक और सुन्दर उपयोग किया है। प्राकृतिक सौन्दर्य के प्रति महादेवी का आकर्षण अध्यात्म-गर्भित और कल्पनोन्मुख है। वह आलम्बन के रूप में प्रकृति को सामने नहीं लातीं। विरह-मिलन के आध्यात्मिक रूपक के सन्दर्भ में ही उन्होंने प्राकृतिक रूप व्यापार का उपयोग किया है। भावना की अतिशयता में डूबकर प्रकृति को देखने के कारण उनके चित्रों में कल्पनाशीलता की प्रधानता हो गई है और प्रकृति के प्रत्यक्ष मूर्त चित्र उनके काव्य में अधिक नहीं मिलते। प्रतीक भावना एवं आरोप के कारण कहीं-कहीं वह प्रकृति के कार्य-व्यापारों को ऐसे अपूर्व एवं अप्रत्याशित रूप में रखती हैं कि सारा चित्र

अस्पष्ट और रहस्यमय हो जाता है। कहीं-कहीं प्रतीक प्रयोगों का यह बाहुल्य और मूर्त चित्र में अमूर्त की भावना उनके प्रकृति-चित्रों को अस्वाभाविक और कल्पना-क्लिष्ट भी बना देते हैं। प्रारम्भिक काव्य में यह क्लिष्टता कुछ अधिक है। उजियाली के रोने और निश्वासों के नीड़ बनाने की कल्पना रस-बोध में बाधक होती है और पाठक प्रतीकों में ही खो जाता है। परन्तु फिर भी महादेवी के काव्य में प्रकृति के प्रत्यक्ष स्पन्दनों, ध्वनियों और संकेतों की विविध और संश्लिष्ट योजना यथेष्ट मात्रा में मिलती है और इस योजना के द्वारा वह अपरोक्ष के भीतर से परोक्ष का संकेत देने में पूर्णतया सफल हैं।

प्राचीन आध्यात्मिक कवियों के विपरीत महादेवी का काव्य अलंकरण-प्रधान और कलानिष्ठ है। वह अपने चित्रों को पर्याप्त सज्जा देती हैं और नए-नए छन्दों-लयों की योजना के सम्बन्ध में पूर्णरूप से जागरूक हैं। इसमें सन्देह नहीं कि उनके काव्य का कला-पक्ष उनकी सुरुचि और कलामर्मज्ञता की सूचना देता है। उन्होंने लोकगीतों की माधुरी और नारी-कण्ठ की सरसता को अपने गीतों के कला-सूत्रों में गुम्फित कर दिया है। फलतः उनके गीत आधुनिक हिन्दी काव्य की एक अपूर्व सौन्दर्य-सृष्टि बन गए हैं।

: २२ :

श्री माखनलाल चतुर्वेदी और उनका काव्य

आधुनिक हिन्दी काव्य को गद्यात्मक एवं सुधारवाद की भूमि से ऊपर उठा कर जिन कवियों ने उसमें काव्य-सुषमा और काव्य-शैली का नया विन्यास भरा, उनमें श्री माखलाल चतुर्वेदी (भारतीय आत्मा) प्रमुख हैं। वे द्विवेदी युग के होकर भी द्विवेदी युग के नहीं हैं। छायावाद की चतुष्टयी (प्रसाद, निराला पंत, महादेवी) के बहुत पास होकर भी वे उनसे कुछ बिभिन्न हैं। एक तरह से उनका अपना काव्य-व्यक्तित्व है जिसने अनेक उगते कवियों को प्रभावित किया है और जिसका प्रसार हमें नवीन, दिनकर, भगवतीचरण वर्मा और अंचल के काव्य में मिलता है। इस व्यक्तित्व के निर्माण-तत्वों को जान कर ही हम उसकी देन का मूल्यांकन कर सकेंगे।

१६०६-७ के आसपास जब खड़ी बोली अपनी वाणी खोज रही थी, माखनलाल जी ने कविताएं लिखना आरम्भ किया। उस समय तक खड़ी बोली की काव्य-भाषा का कोई निश्चित रूप प्रतिष्ठित नहीं हो सका था, परन्तु आचार्य महाबीरप्रसाद द्विवेदी के नेतृत्व में कवियों का एक वर्ग

पौराणिक आख्यानों और सुधारवादी धारणाओं के सहारे नई काव्य-भूमि का निर्माण करने में प्रयत्नशील था। मैथिलीशरण गुप्त इस वर्ग के प्रतिनिधि कवि थे और आज वे द्विवेदी युग के सबसे बड़े कवि भी हैं। प्रसाद और माखनलाल ने एक ही समय से लिखना शुरू किया और १९२० तक का समय दोनों के काव्य में योगकाल ही माना जा सकता है। १९२६ ई० में प्रसाद की पहली प्रौढ़ कृति 'आँसू' सामने आई, परन्तु इस समय तक माखन लाल जी भी अनेक राष्ट्रीय कविताएं लिखकर 'एक भारतीय आत्मा' के नाम से प्रसिद्ध हो गए थे। यही नहीं, वे एक स्कूल की स्थापना भी कर चुके थे। वास्तव में १९१५ ई० में गांधी जी के राजनैतिक क्षेत्र में पदार्पण के बाद भारतीय राजनीति का सारा ढाँचा ही बदल गया और एक अप्रत्याशित बवण्डर के रूप में गाँधी जी भारत के राजनैतिक आकाश पर छा गए। माखनलाल जी प्रारम्भ से ही राजनीति के क्षेत्र में पत्रकार एवं कार्यकर्ता के रूप में क्रियाशील थे। गांधी जी के अवतरण से पहले वे तिलक के अनुयायी थे और लोकमान्य तिलक तथा माधवप्रसाद सप्रे पर लिखी उनकी कविताएं इस विषय के प्रमाण हैं। उन्होंने गांधी जी की आध्यात्मिक राजनीति में अपनी भक्तिभाव, प्रेमपरक, रहस्यमयी काव्यधारा का पूर्णोन्मेष देखा और वे शीघ्र ही गांधी जी के अहिंसावाद के व्याख्याता-कवि और राष्ट्रीय-संग्राम के चारण बन गए। काव्यात्मक निबन्ध, गद्य-गीत, कविता और पत्रकारिता के द्वारा उन्होंने तीन दशकों तक देश के बलि-पन्थियों का नेतृत्व किया और अपने काव्य में सांस और सूझ के जीवन-तन्तुओं को लेकर नए-नए ताने-बाने बुने। उनके काव्य में हमें इन तीन दशकों की सम्पूर्ण राजनैतिक गतिविधि का आलेखन मिल जाता है और साथ ही हम देश को हिलाने वाली घटनाओं के प्रति भावुक कवि की क्रिया-प्रतिक्रिया से भी परिचित होते हैं।

परन्तु राजनीति चतुर्वेदी जी के काव्य का एक ही पक्ष है। उसका दूसरा पक्ष भी है जो कवि के अन्तर्मन से सम्बन्ध रखता है। इस अन्तर्जगत में लौकिक प्रेम-विरह, भक्ति, अध्यात्म, रहस्यभाव, अद्वैत-दर्शन कुछ इस प्रकार संयोजित हो गए हैं कि उन्हें हम एक इकाई के रूप में ही देखते हैं। १९१४ में कवि-पत्नी का देहान्त हो गया और उसके बाद कवि बराबर उसकी पवित्र स्मृति को सुरक्षित रखते हुए भाव-सम्मिलन और उपालम्भ की सृष्टि करता रहा। अपनी लौकिक प्रेम-संवेदना के प्रति वह विशेष ईमानदार नहीं जान पड़ता, वह उसे बराबर अध्यात्मोन्मुख बनाता रहा है। फलतः उसके प्रेम-काव्य में आत्मगोपन की प्रवृत्ति के कारण अस्पष्टता आ गई है और आलम्बन

का स्वरूप स्पष्ट न होने के कारण काव्य विषय स्पष्ट नहीं हो पाता। प्रारम्भिक काव्य में निर्गुण-सगुण भक्तिभाव की भी छाया है, यद्यपि राम को कवि कहीं राष्ट्र जागरण के लिए आहूत करता है और कहीं कृष्ण के गौचारण को सांकेतिक अर्थों में ग्रहण करता है। नए युग के लिए मध्ययुगीन काव्य-प्रतीकों का ग्रहण करना कठिन हो रहा था। फलस्वरूप खड़ी बोली में भक्ति-भाव की रेखाएं धुंधली होती गईं और अन्त में पूर्व की ओर बंगाल से आए रवि ठाकुर के 'गीतांजलि' (१९१३) के प्रभाव ने नए प्रतीकों, नए जीवन-दर्शन, नई काव्यात्मक व्यंजना के साथ उसका स्थान ले लिया। भक्ति-युग के साकार-सगुण राम-कृष्ण-प्रिय, प्रियतम, राजा पाहुन, असीम, विराट, प्राण आदि बन गए। यह नया रहस्यवादी काव्य भक्ति के स्वरों से संनिष्ट था और उसमें मध्ययुगीन सन्त-साहित्य के बैराग्य के विपरीत राग की प्रतिष्ठा थी। फलतः प्रकृति को ही उस परोक्ष सत्ता का प्रतिबिंब या प्रसार मानकर प्रकृतिगृहीत प्रतीकों द्वारा रहस्य-संवेदना के प्रकाशन की एक प्रथा चल पड़ी। १९२० तक प्रसाद के प्रारम्भिक काव्य, 'वीणा' (पन्त), 'साधना' (रायकृष्ण दास) और कुछ अन्य रचनाओं द्वारा हिन्दी काव्य के क्षेत्र में 'गीतांजलि' की रहस्यभूमि दृढ़ हो चली थी। चतुर्वेदी जी के काव्य में हम हिन्दी के भक्ति-काव्य को नवीन बौद्धिक उत्कर्ष एवं संकल्पनात्मक रहस्यभूमि की ओर स्पष्ट रूप से मुड़ते देखते हैं। १९१३-१४ से लेकर १९४७ तक की कविताओं में अध्यात्मपरक राष्ट्रभाव के साथ इस रहस्यभाव की भी चिरव्याप्ति है। वास्तव में अध्यात्मवादी राष्ट्रीयता और अद्वैतनिष्ठ रहस्य-मिलन-वियोग की भावात्मक अनुभूति, यही दो उनके काव्य के प्रमुख सुर हैं। अन्य सुर संवादी या विवादी रूप में ही आए हैं।

'हिमकिरीटिनी' की 'प्रस्तावना' में कवि ने अपने काव्य के इस ताने-बाने की बड़ी सुन्दर व्याख्या की है। वे कहते हैं: 'दृष्टि का काम बाहर को देखना भी है और भीतर को भी। जब वह बाहर को देखती है, तब रचनाओं पर समय के पैरों के निशान पड़े बिना नहीं रहते। जब वह भीतर को देखती है, तब मनोभावनाओं के ऐसे चित्रण कलम पर आ जाते हैं, जिन्हें समय के द्वारा शीघ्र पोंछा नहीं जा सकता—यदि मनोभावनाओं की सतह ऐसी हो जिसमें अगणितों का उल्लास और उनकी भावना प्रतिबिंबित हो उठी हो, और जिनकी कहानी, अपने अवतरण में, दुरदुराहट के दाग से बची रह सकी हो...युग का लेखक, न तो खुली आंखों से देख कर, उलट-पुलट होते जग पर अपना रक्तदान देने से चूक सकता, न मुंदी आँखों की दुनिया में महामहिम

मानव की कोमलतर और प्रखरतर मनोभावनाओं की पहुँच तक जाने से ही रुक सकता है।' यह स्पष्ट है कि कवि का संकेत अपने काव्य के बहिर्जगत (राष्ट्रीय भाव और राजनैतिक आर्थिक चेतना) और अन्तर्जगत (प्रेम-रहस्यजन्य मनोव्यथा) की ओर है। इन्हें ही उसने 'सांस' (प्रेरणा-तत्त्व) और 'सूझ' (अन्तरालवर्त्तिनी अनुभूति) कहा है। वह अपने काव्य-व्यक्तित्व के इन दो पक्षों को विरोधी नहीं मानता। उसके अनुसार : 'सांस और सूझ जिस तरह एक-दूसरे के विरोधी नहीं उसी तरह एक तरफ विश्व के प्रलयंकर और कोमल परिवर्तन तथा युग का निर्माण तथा दूसरी तरफ हृदयोन्मेष तथा विश्व के विकास के वैभवशील कौशल, – दोनों में कहीं विद्रोह नहीं दीख पड़ता। क्योंकि एक कवि के रक्त की पहचान और सिर का दान मांगती है, और दूसरी वस्तु में समा सकने के कोमलतर क्षणों के उच्चतर समर्पण का सबूत चाहती है। इनमें विषमता कहां।' (साहित्य-देवता पृ० १-४) इस वक्तव्य से यह प्रमाणित है कि कवि की काव्य-प्रक्रिया में राष्ट्रीयता अध्यात्म-रहस्य-मण्डित हो गई है और रहस्य एवं अध्यात्म देश-प्रेम की प्राण-संवेदना में घुलमिल गया है। कवि के बहिरन्तर में हमें कोई विरोध नहीं दिखलाई देता। वह भीतर-बाहर एक ही व्यक्तित्व के दो फलक बन जाते हैं।

इन दो प्रधान संवेदना-निकायों के साथ ही अन्य संवेदनाएं भी गौण रूप से मिलती हैं— जैसे प्रकृति-प्रेम, आत्मोद्‌बोधन, काव्यचिन्तन एवं काव्य-चेतना, द्वन्दात्मक भाव एवं विचार। प्रकृति-सम्बन्धी रचनाएं अधिक नहीं हैं। सबसे महत्त्वपूर्ण वे कविताएं हैं जो कवि के जीवन एवं भाव-संवेदन के द्वन्दों का आभास देती हैं। प्रेम और बलिदान, राष्ट्रभाषा और लोक-व्यवहार, पाप-पुण्य, धर्म और प्रेम, आस्था-अनास्था, जय-पराजय, इन द्वन्दों के भीतर कवि गुजरा है। १९२०-३२ का समय उसके लिए बड़ा संघर्षप्राण रहा है। इस प्रकार की कविताएं इसी समय की हैं। 'अंधकार' (१९३२) शीर्षक अपनी एक कविता में तो कवि ने इन द्वन्दों के महत्व को ले कर कुछ दार्शनिक ऊहापोह भी किया है। आत्मोद्‌बोध सम्बन्धी कविताएं इन द्वन्दों की ही परिणति हैं। कवि ने जहां बाहर औरों को ललकारा है, वहां जीवन के दुर्बल क्षणों में उसे अपने को भी ललकारना पड़ा है। काव्य-चिन्तन और काव्य-दर्शन सम्बन्धी कविताएं कवि की काव्य-प्रक्रिया और उसकी काव्य-चेतना का ही उदात्तीकरण हैं।

जो हो, यह स्पष्ट है कि श्री माखनलाल चतुर्वेदी के काव्य में विषय की भूमि को अधिक विस्तार नहीं मिल सका है और कहीं-कहीं यह एकतानता

पाठक को उनके प्रति असहनशील बना देती है। परन्तु अपनी भावभूमि के प्रति कवि पूर्ण रूप से जागरूक है और विषय की सीमाओं के भीतर उसने उसे खूब निभाया है। बात को सुन्दर और प्रभावशाली बना कर उसने विषय-विस्तार की बहुत कुछ पूर्त्ति की है। उसकी कविता में अनुभूति की प्रधानता है और गढ़े-अनगढ़े, कोमल-कठोर, परिचित-अपरिचित शब्दों, अप्रस्तुत विधानों एवं छन्दों में कवि बड़े ओज से, कौशल से अपनी बात पाठक तक पहुंचा सका है। उसकी कविता का अनगढ़ रूप-विन्यास भी आकर्षक बन गया है। अनुभूतिमय होने के कारण इस कवि ने काव्य के वहिरंग पर अधिक ध्यान नहीं दिया है। इसी से उसके काव्य में न प्रसाद का अभिजात्य और उनकी कल्पना की सूक्ष्मता है, न पंत का भाषा-सौष्ठव, न महादेवी की गीति-माधुरी। छायावाद की चतुष्टयी में उनका काव्य-व्यक्तित्व निराला के ही समकक्ष रखा जा सकता है और सम्भवतः इसी सूक्ष्म समानता के कारण कवि 'निराला' पर एक सुन्दर कविता देने में समर्थ हुआ है। दोनों कवियों में अनुभूति की मार्मिकता और काव्यानुशासनों के प्रति विद्रोह पूर्ण रूप से प्रतिभासित है। अन्तर इतना ही है कि निराला की काव्यभूमि अधिक व्यापक है और वे रवीन्द्र की काव्यकला से बहुत कुछ सुन्दर और कलात्मक ढंग से ग्रहण कर सके हैं। वे कवि के साथ कलाकार भी हैं। उनका रहस्यवाद अधिक बौद्धिक, अतः अधिक स्पष्ट है और प्रकृति को आलम्बन रूप में ग्रहण कर उन्होंने बड़ी सुन्दर कविताएं हिन्दी को दी हैं। छन्दों के क्षेत्र में वे सजग कलाकार हैं, प्रयोगकर्त्ता हैं। वे 'भारतीय आत्मा' की तरह कोरी अनुभूति का संबल लेकर नहीं चलते। उन्होंने पूर्व-पश्चिम के काव्य-साहित्य को नई भाषा-शैली में उतारा है।

श्री माखनलाल चतुर्वेदी के राष्ट्रीय काव्य के प्रमुख विषय हैं—गाँधी जी, राष्ट्रभाव, राजनीति और बलिदान। उनका काव्य युग की राष्ट्रीय भावना का पूर्ण प्रतिबिंब है। अपनी प्रारम्भिक कविताओं में ही कवि ने गांधी जी के प्रति अपनी पूज्य भावना का प्रकाशन किया है और उनके अहिंसा पथ की व्याख्या की है। गांधी जी की आध्यात्मिक राष्ट्रीयता का भावनापरक रूप हमें इस कवि के काव्य में ही व्यापक रूप से मिलता है। 'निःशस्त्र सेनानी' (१९१३) 'वीर-पूजा' (१९१६) 'नवभारत' (१९१८) 'जीवित जोश' (१९१९) 'बलिपंथी से' (१९२१) 'वह संकट पर झूल रहा' (१९२६) कविताओं में कवि ने बापू को ही राष्ट्रीयता का जीवित प्रतीक माना है और गीतों-छन्दों में उन्हीं की अभ्यर्थना की है :

आहा, पन्द्रह कोटि हार ले आये आली,
जगमग जगमग हुईं कोटि पन्द्रह ये थाली।
अर्घ्यदान के लिए हिमालय आगे आए,
रत्नाकर ये खड़े, धुलें श्री चरण सुहाए।

(वीरपूजा)

गांधी जी पर लिखी कवि की पहली कविता 'निःशस्त्र सेनानी' (१९१३) महात्मा गांधी के दक्षिणी अफ्रीका के सत्याग्रह को अपना विषय बनाती है। इस नवीन युद्ध-प्रणाली ने उन दिनों भारत के मन में बड़ी आशाएं भरी थीं। १९१५ ई० में गांधी जी के भारतागमन पर ये आशाएं कुछ पल्लवित हुईं परन्तु १९२१ के महाविस्फोट तक गांधी जी की आध्यात्मिक राष्ट्रनीति और उनके अहिंसक संग्राम का कोई क्रियाशील रूप जनता के सामने नहीं आया था। इस अंतरिम काल में 'भारतीय आत्मा' ने गांधी-दर्शन को जनता का काव्य बनाया। १९३१ राष्ट्रीयता का महापर्व है और इसी वर्ष कवि ने राष्ट्रीय भावना, विदेशी चुनौती, जेल और बलिदान की महागाथाएं लेखनी की नोक पर बड़ी भावुकता से उतारी हैं। उसने 'बन्धन-सुख' (१९१७) 'सिपाही' (१९२४) 'सिपाहिनी' (१९३४) 'राष्ट्रीय झण्डे की भेंट' (१९२३), 'अदालत में सत्याग्रही कैदी के नाते बयान' (१९२१) 'राष्ट्रवीणा' 'कोमलतम' 'बंदीखाना' 'मुक्ति' (१९२२) 'अमरते! कहां से' (१९२७) जैसी कविताओं में हमें अहिंसा-दर्शन दिया है। राष्ट्रीय हृदय की बड़ी मार्मिक झांकी इन कविताओं में मिलती है। गांधी जी के अहिंसक सत्याग्रह संग्राम ने हमें एक नए प्रकार का वीर नायक दिया जो परम्परागत वीर-काव्य के नायक से भिन्न था। जन-शक्ति के प्रति अडिग आस्था ही उसका सबसे बड़ा संबल था तथा कष्ट-सहन, त्याग एवं बलिदान ही उसके अस्त्र थे। इस नए वीर-नायक के चारों ओर जिस नए वीर-काव्य का निर्माण हुआ, उसमें डिंगल और ब्रज के वीर-काव्य के विपरीत-भयानक, रौद्र और वीभत्स रसों की योजना नहीं है। उसके काव्योपकरण नए युग की स्वस्थ नैतिक अवमानना और परिमार्जित सौन्दर्यदृष्टि को प्रताड़ित नहीं करते। फिर भी यह काव्य वीरोन्मेष से परिपूर्ण है और उसका उदात्त स्वर हमारे काव्य में एक नई कड़ी जोड़ता है।

परन्तु हमारा कवि गांधीवाद का अन्धा भक्त नहीं है। उसकी राष्ट्रीयता सदैव तेजस्वी और सक्रिय रही है। वह 'समझौतों' का विरोधी रहा है और १९२८ तथा १९३८ उसके लिए परीक्षा के वर्ष रहे हैं। जब उसने

सुविधाओं और समझौतों का दृढ़ता से विरोध किया है तथा बलिदान की ललकार उठाई है। तिलक (१९२०), मरण-त्यौहार (१९२७), अमर-राष्ट्र (१९३८) जैसी कविताओं में हमें राजनीति की कड़ी आलोचना मिल जाती है। कुछ कविताओं में य् आलोचना व्यंग का रूप धारण कर और भी सतेज हो उठी है। 'श्रेय बन्धन' (१९१७) और 'व्याकुल' (१९१९) इसी प्रकार के व्यंग हैं। १९४७ ई० की स्वाधीनता प्राप्ति के बाद तो उसकी तेजोमय वाणी राष्ट्रीय नेताओं और सरकार की सबसे बड़ी आलोचक बन गई है।

श्री माखनलाल चतुर्वेदी के काव्य का एक दूसरा पक्ष उनका सूक्ष्म अध्यात्मवाद है: उनके प्रारम्भिक काव्य में मध्ययुगीन भक्तों का सुर स्पष्ट ही सुनाई पड़ता है। उनकी प्राथमिक आध्यात्मिक भावना १९१० की उनकी एक कविता (हिमतरंगिणी, ५४) में देखी जा सकती है। १९१३ की उनकी लिखी एक रचना 'मेरा उपास्य' है। धीरे-धीरे भक्ति-भावना रहस्य-भावना में पर्यवसित होती गई है और बाद में रहस्यवाद कवि की स्थाई वृत्ति बन गया है। इस सम्बन्ध में 'खोज' (१९२७), 'खीज-भरी मनुहार' (१९३१), 'पूरी नहीं सुनोगे तान' (१९२१), 'विदा' (१९२६), और 'गर्वीले हृदय-बन्दी से' (१९३३) शीर्षक कविताएं दृष्टव्य हैं। इन रहस्यमयी कविताओं में निर्गुण-सगुण भावना का मिश्रण है और कहीं-कहीं गीतांजलि का प्रभाव भी गोचर है। प्रारम्भिक काव्य में कवि भक्ति-युग के प्रतीकों (राम-कृष्ण) का उपयोग करता है परन्तु बाद में वह अपने युग की अध्यात्म-चेतना के अनुसार नए प्रतीक खोज लेता है। उसका रहस्यवादी काव्य अद्वैत-भूमि पर ही आधारित है, परन्तु वाग्वैदग्ध्य और आत्मगोपन की प्रवृत्ति के कारण रहस्यमयी अनुभूति पूर्णतया स्पष्ट नहीं हो पाई है। एक कविता (हिमतरंगिणी, १९) में कवि यह कल्पना करता है कि उसके प्रियतम ने उसकी 'हारों' की माला ही अपने गले में धारण की है और अन्त में जब उसका अहं भाव नष्ट हो गया तो वह स्वयं अपने को प्रकट कर उससे सूखी माला पहनाने का प्रार्थी होता है:

जी की माल, सुगन्ध नेह की
सूख गई, उड़ गई, कि तब तू
दूल्हा बना, दौड़ कर बोला:
'पहना दो सूखी वनमाला।'

अगली (वही, २०) कविता में उषाकाल में 'मित्र' (सूर्य)-पंकज के प्रेमालिंगन

को देखकर प्रेम-भाव में दूरी की अवास्तविकता की घोषणा करता हुआ कहता है :

प्रातः आंसू ढुलका कर भी
खिली पँखुड़ियां, पंकज किलके,
मैं साँवरिया खेल न जानी
अपने साजन से हिल-मिल के

वह यह मानता है कि प्रकृति-रूपी दर्पण में उसी प्रियतम की छाया प्रतिबिम्बित है, परन्तु इसी प्रतिम्बिब में तो उसका अपना चित्र भी उतर आया है। अनेक प्रकार की रीझ-खीझ कवि के रहस्यवादी काव्य का आकर्षण है, परन्तु बहुधा अनुभूति का तत्व अधिक प्रसार नहीं पाता। फलतः रहस्यमयी उक्तियाँ बौद्धिक ही रह जाती हैं। जहां कवि पूर्व परम्परा से एकदम हट कर नई बौद्धिक प्रतीक-भाषा का उपयोग करता है, वहां रहस्यभाव की व्यंजना न होकर हास्य की तरलता ही है। एक एक कविता में वह रहस्यवादी के प्रणत भाव की व्यंजना इस प्रकार करता है।

तेरी बाट देखूं,
चने तो चुगा जा,
हैं फँने हुए पर,
उन्हें कर लगा जा।
मैं तेरा ही हूं
इसकी साखी दिला जा।
ज़रा चुह चुहाहट
तो सुनने को आ जा।

यह "कुलन्दरी" है अध्यात्म-साधना नहीं। इस प्रकार की उक्तियां कवि के मनोजगत को अस्पष्ट और भ्रामक बना देती हैं और उसकी अनुभूति की सच्चाई और उसके रहस्य-दर्शन पर से पाठक का विश्वास उठ जाता है। इसमें सन्देह नहीं कि अद्वैत भूमि पर प्रतिष्ठापित होकर हमारा अधिकांश रहस्यवादी काव्य संकल्पात्मक अनुभूति के कारण ही नए प्रतीकों में हृदयग्राह्य बन सका है रहस्यात्मक मिलन-वियोग महादेवी के काव्य में नई चित्रबेला के साथ सामने आता है। पंत में वह विस्मयभाव ही रह गया है। प्रसाद ने उसे शैवाद्वैत के रूपकों में बांधा है और उसके आधार पर एक नए आनन्दवादी दर्शन की सृष्टि करनी चाही है। निराला विशुद्ध अद्वैत को लेकर चलते हैं परन्तु "शैफाली", "जुही की कली", "अधिवास", "मैं और तुम" प्रभृति

कविताओं और अनेकानेक गीतों में वे नई समर्थ प्रतीकभाषा खोज सके हैं। रहस्यानुभव लोकोत्तर अनुभव हैं। उसके प्रकाशन के वाग्वैदग्ध्य कदाचित बहुत सुन्दर माध्यम नहीं है। इसीलिए माखनलाल जी की रहस्यानुभूति हमारे भीतरी स्पन्दनों को नहीं छूती। वह वाक्‌भंगिमाओं और नए परंपराशून्य प्रतीकों में उलझकर कबीर की "उलटबांसी" बन जाती है। छायावादी युग के प्रारम्भिक दिनों में इसी प्रकार की रचनाओं ने रहस्यवाद को बदनाम कर दिया था। अस्पष्टता किसी भी प्रकार काव्य का गुण नहीं हो सकता, परीक्षा के प्रति कवि की संवेदना वहन करने वाले काव्य का तो और भी नहीं। इसीलिए हिन्दी के पाठक रहस्यवाद के लिए महादेवी का पल्ला पकड़ कर चले और माखनलाल जी केवल "एक भारतीय आत्मा" 'राष्ट्रीय कवि' ही बन सके। उनके काव्य का एक बहुत बड़ा अंश अपनी संवेदना खोकर निरर्थक ही रह गया है।

श्री माखनलाल चतुर्वेदी के काव्य में हमें विशुद्ध प्रकृति-चेतना नहीं मिलती। इस दृष्टि से उनका काव्य बहुत कुछ महादेवी वर्मा के काव्य के समानान्तर है। वे मूलतः राष्ट्रीयता और रहस्यभाव के कवि हैं। फिर भी वे मध्यप्रदेश और विन्ध्य की प्राकृतिक सुषमा के बीच में रह कर प्रकृति के जीवित स्पन्दनों की एकदम उपेक्षा नहीं कर सके हैं। 'गिरि चढ़ते धीरे-धीरे' (१६२२) 'कुंज कुटीरे यमुना तीरे' (१६२४), 'झरना' (१६३०), 'कैदी और कोकिल' (१६३०) और 'कलिका से' 'कलिका की ओर से' (१६३४) उनकी ऐसी रचनाएं हैं जिनमें प्राकृतिक सवेदन अन्य भावों से संश्लिष्ठ होकर भी प्रमुख है। प्रकृति का आलंबनगत चित्रण केवल एक कविता में है :

चल पड़ी चुपचाप सनसनसन हवा,
डालियों को यों चितने भी लगी :
आंख की कलियाँ, अरी, खोलो ज़रा,
हिल स्वपत्तियों को जगाने सी लगी ।।
पत्तियों की चुटकियाँ झट दीं बजा,
डालियाँ कुछ ढुलमुलाने सी लगी ।।
किस परम आनन्दनिधि के चरण पर,
विश्व-सासें गीत गाने सी लगी ।।

(१६२३)

अधिकांश प्रकृति-कविताएं प्रेम अथवा अध्यात्म की पृष्ठभूमि बन जाती हैं, जैसे "उड़ने दे घनश्याम गगन में" '१६१४'। एक दो पंक्तियों के बाद ही

कवि प्रकृति से अपनी दृष्टि हटा कर उसे अपने अन्तरतम में केन्द्रित कर देता है। अधिकांश प्रकृति-कविताएं १६३० के आसपास जबलपुर सेन्ट्रल जेल में लिखी गई हैं। इसलिए कवि की अनुभूति प्रत्यक्षानुभूति न होकर स्मृत्यानुभूति है। फिर कवि में विशुद्ध प्रकृति-दृष्टि का सर्वथा अभाव है और उसके चित्र अन्य भावनाओं से संश्लिष्ठ होकर अस्पष्ट हो गए हैं। यह भावसंश्लिष्टि कवि की विशेषता है। 'कुंज कुटीरे यमुना तीरे' (१६२४) कविता को हम निराला की 'यमुना' कविता के समकक्ष रखें तो दोनों कवियों की सम्वेदनाओं और काव्यप्रक्रियाओं में महान अन्तर दिखलाई पड़ता है। जहां निराला की 'यमुना' में ब्रजमाधुरी और कृष्णकथा का सारा पौराणिक वैभव उभर आया है, वहां माखनलाल जयदेव की 'कुंज कुटीरे यमुना तीरे' में निर्गुण-सगुण का ऊहापोह देखते हैं और प्रकृति के परतन्त्र-स्वतन्त्र कार्य-व्यापार के सम्बन्ध में तर्क-वितर्क करते हैं। वे यमुना को अपने व्यक्तित्व पर ही आरोपित करते हुए कहते हैं :

काले अन्तस्तल से छूटी
कालिन्दी की धार,
पुतली की नौका पर लाई
मैं दिलदार उतार।
बादबान तानी पलकों ने
हा, यह क्या व्यापार।
कैसे ढूँढूँ हृदय-सिन्धु में
छूट पड़ी पतवार।

इसी प्रकार 'गिरिपर चढ़ते धीरे-धीरे' (१६२२) में जहां कवि पाषाणों पर पंखे झलती छाया में, बूढ़े शिखरों के बाल तृणों में छिपकर झरनों की धुन पर चुपके-चुपके गाना चाहता है, वहाँ उसके बन में कारागृह उभर आता है और वह उस प्राकृतिक आनन्द से तादात्म्य स्थापित नहीं कर पाता :

तरुलता सीखचे, शिलाखण्ड दीवार,
गहरी सरिता है बन्द यहां का द्वार,
बोले मयूर, जंजीर उठी झंकार,
चीते की बोली, हिरे का "हुशियार"।
मैं आज कहाँ हूं, जान रहा हूं,
बैठ यहाँ, धीरे-धीरे।

जहाँ इस प्रकार का भावारोप है, भावना की ऐसी एकांतिकता है, वहाँ स्वतन्त्र

प्रकृति-चित्रण की कल्पना ही भ्रामक है। "कलिका से" कविता में कवि जहाँ इस प्रकार की उठान से शुरू करता है :

क्यों मुसका दीं, बोलो आली।
जाड़ा है, रात अन्धेरी है,
सन्नाटा है, जग सोया है,
फिर यह काँटों की टहनी है,
कैसे मुसका उठीं आली ॥

वहाँ अन्त इस प्रकार है कि कलिका कहती है :

मैं बलि का गान सुनाती हूँ,
प्रभु के पथ की बन कर फकीर,
माँ पर हँस-हँस बलि होने में
खिच रही, रहे मेरी लकीर।

संक्षेप में, कवि के लिए राष्ट्र और रहस्य (परोक्ष) ही दो प्रमुख काव्यविषय हैं। प्रकृति की सौन्दर्य राशि से परिचित होते हुए भी कवि ने उसका पर्यवसान इन्हीं अन्यतम संवेदनाओं में किया है। यह उसकी काव्य की सीमा है।

प्रेम भी कवि की एक प्रधान प्रवृत्ति रही है। १९१४ में कवि की पत्नी की मृत्यु हुई और उसकी मृत्यु पर उसने एक बड़ी सुन्दर कविता लिखी। पत्नी के प्रति लिखी स्मृतिमूलक कविताओं में १९२९ और १९३८ के श्राद्ध अवसर पर लिखी कविताएं प्रमुख हैं। परन्तु ऐसी भी अनेक कविताएं हैं जिनमें आत्मगोपन की प्रवृत्ति स्पष्ट है, आलम्बन का स्पष्ट रूप सामने नहीं आता और जिन्हें हम देश अथवा रहस्यमयी परोक्ष सत्ता के प्रति संवेदित मान सकते हैं। आलम्बन की यह अस्पष्टता इन कविताओं के काव्य-संवेदन को रहस्यगर्भी बना देती है। कुछ कविताओं में प्रेम और बलिदान का द्वन्द स्पष्ट है। परन्तु अधिकांश प्रेमकविताओं पर उर्दू गज़ल शैली का प्रभाव है जिसमें प्रेमिका को निष्ठुरकर्मा और कठोर कहा गया है। 'प्रसाद' के आरम्भिक काव्य में भी इसी शैली का उपयोग हुआ है। अन्तर केवल इतना है कि 'प्रसाद' सौन्दर्यान्विषी कवि हैं और वे शीघ्र ही चमत्कृति को छोड़ कर रसात्मक प्रेमकाव्य की प्रकृत भूमि पर आ गए हैं परन्तु चतुर्वेदी जी अभिव्यंजना की धार ही पैनी करते रह गये हैं।

फिर भी यह कहा जा सकता है कि भाव और भाषा दोनों क्षेत्रों में हमें इस कवि का योगदान भरपूर प्राप्त हुआ है और छायावाद के अग्रगण्य

कवियों और शैलीकार में उसका स्थान अप्रतिम है। कवि ने अपने प्रगीतों में इतनी साधना उंड़ेली है कि उन्हें वह अपने व्यक्तित्व के साथ लगा कर ही देख पाता है। उसका कहना है कि कवि के व्यक्तित्व की सार्थकता तो उसके गीत ही हैं :

जो न बन पाई तुम्हारे गीत की कोमल कड़ी,
तो मधुर मधुमास का बरदान क्या है?
तो अमर अस्तित्व का अभिमान क्या है?
तो प्रणय में प्रार्थना का मोह क्यों है?
तो प्रलय में पतन से विद्रोह क्यों है?
आये, या जाये कहीं असहाय दर्शन की घड़ी,
जो न बन पाई तुम्हारे गीत की कोमल कड़ी।

प्रकृति, रहस्यभाव, प्रेम और विद्रोह सभी गीत की कोमल कड़ी बनकर ही सार्थक हैं, सिद्ध हैं। परन्तु यह सरल कार्य नहीं है। कवि को न जाने कितनी व्यथा ढोनी होती है। वह जान ही नहीं पाता कि उसके बाँटे में फूल आए हैं या काँटे। उसे ओठों से ओठों की रूठन, बिखरे प्रसाद, दण्डदान, रक्तदान को भी अंगीकार करना होता है। इसीलिए यह कवि अपनी वाणी से सम्बोधित है :

तुम मंद चलो,
ध्वनि के खतरे बिखरे मग में
तुम मंद चलो।
सूझों का पहिन कलेवर-सा,
विकलाई का कल जेवर-सा,
घुल-घुल आँखों के पानी में
फिर छलक-छलक बन छन्द चलो।
पर मंद चलो।

: २३ :

नये काव्य में वैयक्तिक कल्पना-चित्र

कवि के अन्तस् का सौन्दर्य-जगत जिन अनेक उपकरणों से सजकर पाठक के हृदय तक पहुँचता है उनमें कल्पना-चित्र एक महत्त्वपूर्ण उपकरण है। विभिन्न युगों में कवियों ने अपनी बात को अपने अनुभूत और अनुश्रुत उपमानों के माध्यम से प्रकाशित किया है और उनके काव्य में प्रयुक्त कल्पना-चित्र हमें उनके व्यक्तित्व तक ही पहुँचाने में समर्थ नहीं हैं, उनमें उस युग के आचार-विचार और रंग-रूप भी सुरक्षित हैं। यदि हम ऐतिहासिक दृष्टि से काव्य का अध्ययन करें तो यह स्पष्ट हो जाता है कि विभिन्न युगों में काव्य-सत्य ने विभिन्न प्रतीकों को चुना है और विभिन्न युगों में कवि-मानस का सौन्दर्य विभिन्न-कोटि के कल्पना-चित्रों के माध्यम से प्रकाशित हुआ है। परन्तु कभी-कभी किसी महाकवि के कल्पना-चित्र परवर्त्ती युग के कवियों को इस प्रकार विमुग्ध कर लेते हैं कि वे अपने वैयक्तिक काव्य-प्रयास को छोड़ कर परम्परागत कल्पना-चित्रों का ही उपयोग करते हैं और इस तरह काव्य में एक प्रकार की जड़ता आ जाती है। जिसे अंग्रेजी में 'क्लासिकल इमेजरी' कहते हैं, वह कल्पना-चित्रों के क्षेत्र में विश्रुत महाकाव्यों के अनुकरण का ही फल है। इसके विपरीत जब-जब कवि की अन्तस्सलिला परम्परामुक्त हो स्वच्छन्द रूप से प्रवाहित हुई है, तब-तब उसने रूढ़ि-बद्ध कल्पना-चित्रों के संयम और

नियम को तोड़ कर धरती-आकाश को एक हिंडोल में झुलाया है और ऐसे रूप-रंगों, की कल्पना की है, जो न इस पृथ्वी के हैं, न आकाश के हैं। कवि की वैयक्तिक अनुभूति में रंग कर उसकी कल्पना अलौकिक रूप-रंगों, अर्थों और ध्वनियों से समन्वित हो उठी है और काव्य के देवता ने उस पर अपने आशीर्वाद के फूल न्योछावर किए हैं।

हिन्दी का समस्त प्राचीन काव्य संस्कृत-काव्य-परम्पराओं और काव्य-रूढ़ियों को अपना कर चलता है और उसमें कवि का कल्पना-जगत भी कवि की व्यक्तिगत अनुभूत इकाई न होकर उसके अध्ययन द्वारा निर्मित है। फलस्वरूप उसमें नवीन उद्भावनाएं बहुत कम हैं—वही नेत्रों के कमल-खंजन-मीन के उपमान, वही शुक-नासिका, वही दाड़िम-दशन। वस्तुतः मध्ययुग के कवि की विशेषता यह है कि वह परम्परा के रस को कुछ इस नवीनता से सामने रखता है कि हम मुग्ध हो जाते हैं। उन्हीं सौ-दो-सौ उपमानों के भीतर कवि की सौन्दर्य-कल्पना नए-नए मूर्त-अमूर्त चित्रों का आकलन करने में सफल हुई है और कवि की गहरी अन्तर्दृष्टि और सर्वभुक् अनुभूति के कारण उसमें हृदय को छू लेने की विलक्षण क्षमता है। वीर-गाथा युग से लेकर भक्ति-युग के अन्त तक हमारे महाकवियों ने 'नए पैमानों में पुरानी शराब' ही ढाली है, परन्तु कुछ इस ढंग से कि पुराना भी नया हो गया है। रीति-काल के काव्य में यह नयापन नहीं रह जाता। वहाँ परम्परा ही सब कुछ है—सब कुछ सैकिण्डहैंड—इसी से उसमें प्राण भी नहीं हैं। १७वीं शताब्दी के आरम्भ से २०वीं शताब्दी के आरम्भ तक हम काव्य में कल्पना का बाध ही पाते हैं और वैयक्तिक कल्पना-चित्रों के रूप में जो चीज आती है, वह इतनी वैचित्र्य-पूर्ण और असन्तुलित है कि उसमें काव्य का रस जरा भी नहीं रह पाता।

बीसवीं शताब्दी के दूसरे दशक में हमें हिन्दी काव्य-धारा में पहली बार नए वैयक्तिक कल्पना-चित्रों का प्रयोग मिलता है। प्रसाद, पन्त और निराला के काव्य में कल्पना की नई भूमियाँ हमें खुलती हुई दिखलाई दीं। कवि ने मूर्त भावों के लिए अमूर्त और अमूर्त भावों के लिए मूर्त कल्पना-चित्रों का उपयोग किया और उन्हें अपने अन्तर की भाव-विह्वलता से युक्त किया। अपने अप्रस्तुत विधान के लिए कवि जहां पूर्व-पश्चिम के विश्रुत कवियों और काव्य-ग्रन्थों की ओर गया, वहां उसने स्वयं अपने भीतर भी खोज की और अपने वस्तु-जगत के अनुभवों के लिए विचित्र छाया-प्रकाश के ताने-बाने बुने। छायावदी कवि का आग्रह असामान्य की ओर था—फलस्वरूप उसके कल्पना-

चित्र भी असामान्य और असाधारण बने और कालान्तर में यह काव्यधारा अपने ही भीतर की मधुचर्या और गूढ़ कल्पना में डूब गई। वह अपने जीवन के चारों ओर से अपना सम्बन्ध नहीं जोड़ सकी। फिर भी उसे यह श्रेय मिलना चाहिए कि उसने हिन्दी कवियों की कल्पना को परम्परा के भार से मुक्त किया और उसके सामने व्यक्तिगत अभिरुचि, भावना और कल्पना के नए मार्ग प्रशस्त किए। कवि ने अपनी अनुभूतियों के प्रति सच्चा होना सीखा और इसके लिए उसने पुरानी पोथियों के पृष्ठ उलटना छोड़कर अपने अन्तर के अजस्र स्रोतों की ओर मुड़ना सीखा। परन्तु इस प्रक्रिया में धीरे-धीरे कवि का बहिर्जगत से सम्पर्क ही छूट गया और उसका अति भावुक, अति संवेदनशील अन्तर्जीवन ही सब कुछ हो गया। फल यह हुआ कि छायावाद-युग के अन्तिम वर्षों में सारा काव्य दूरागढ़ कल्पनाओं और भाव-क्लिष्ट कल्पना-चित्रों से भर गया और प्रारम्भिक वर्षों की सहज काव्यानुभूति ऐन्द्रजालिक कल्पना-विलास में खो गई। इस काव्य-धारा के भीतर चलने वाले छोटे-छोटे कवियों के लिए पन्त, प्रसाद निराला और महादेवी का कल्पना-जगत ही अनुकरणीय बन सका। इससे काव्य में गतानुगत चित्रों और जड़ रेखाओं की भरमार हो गई।

'छायावाद' के इस नए काव्य-समारम्भ के बाद कवि ने जब एक बार फिर अपनी आंखें खोलीं तो जैसे जीवन ही बदल गया था। छायावादी कवि कल्पना-विलासी कवि था। उसने अपने काव्य में आकाश-कुसुमों का वैभव सँजोया था। परन्तु अब उसने धरती की ओर नीचे देखा और धरती के नए रंगों ने उसके काव्य-पट को रंगना आरम्भ किया। फलस्वरूप काव्य में एक बार फिर नए वैयक्तिक कल्पना-चित्रों का आकलन हुआ। परन्तु ये चित्र पूर्व-ग्रहीत चित्रों से एकदम विपरीत होने के कारण सहृदयों को धक्का ही दे सके। कदाचित कवियों ने इनकी योजना ही कुछ इस रूप में की थी कि ये 'शाकिंग' बन सकें। प्रारम्भ में नए काव्य का नेतृत्व निराला, पन्त, भगवतीचरण वर्मा जैसे छायावाद-युग के कवियों ने ही किया, परन्तु वे नए युग की सम्वेदना को बहुत आगे नहीं बढ़ा सके। फिर भी नए काव्य पर उनका ऋण तो है ही।

नया कवि पुराने कवियों की जूठन या सैकिन्ड रेट अनुभूति से अपने पाठकों को झुठलाना नहीं चाहता। वह अपनी अन्यतम बात कहना चाहता है—जो उसकी निजी हो, औरों से भिन्न और अछूती, और साथ ही सब की बात भी बन सके। परन्तु उसकी बात सबकी बात बन सके तो बन जाये,

पहले वह उसमें 'अपनापन' चाहता है। इसी से हम देखते हैं कि प्रत्येक नया कवि कल्पना-चित्रों के रूप-रंग, उभार विस्तार और आकार-प्रकार में एकदम नवीन है। उसकी व्यक्तिगत रुचि, अनुभूति और अन्वेषण का क्षेत्र दूसरे कवि से भिन्न है। यह भिन्नता ही उसका सम्बल है। वह एक बन्धे-बन्धाए नमूने या ढांचे पर अपनी काव्यानुभूति खड़ी नहीं करता। वह जानता है कि आश्रम-संस्कृति के प्रतीक कमल और सामन्त-संस्कृति के प्रतीक गुलाब अब मुरझा गये हैं और जन-युग की नई संस्कृति के लिए उसे एक बार फिर अपने चारों ओर देखना है। पुराने परम्परापुष्ट चित्रों के माध्यम से नई संवेदना नहीं दी जा सकती : इस सत्य को समझ कर नए कवि ने नए कल्पना-जगत के निर्माण की चेष्टा की है। छायावाद-काव्य के विपरीत उसका यह कल्पना-जगत वस्तु-जगत की एकदम उपेक्षा कर वायवी और अतीन्द्रिय नहीं बन जाता। उसके अवयव अधिक मांसल और पुष्ट होते हैं। उनमें वैयक्तिक रूपों-रंगों का प्राधान्य रहता है और इसलिये नये काव्य में अभी तक जो आ सका है, वह बहु-रूपी और बहु-वर्णी होने के कारण केन्द्रस्थित नहीं हो पाया है। फिर भी उसमें कवि की अपने प्रति ईमानदारी पूर्ण रूप से झलकती है और यही ईमानदारी कवि के वैयक्तिक कल्पना-चित्रों को नया अर्थ देती है नए भाव-जगत के निर्माण का यह प्रयत्न अभी चल ही रहा है और जिन कवियों ने इसमें योग दिया है उनमें अज्ञेय, गिरिजाकुमार माथुर, रामविलास शर्मा, भारतभूषण अग्रवाल, भवानीप्रसाद मिश्र, शमशेर बहादुर सिंह, नरेशकुमार मेहता, धर्मवीर भारती, और उपेन्द्रनाथ अश्क प्रमुख हैं। अब हमें यह देखना है कि यह नया कल्पना-जगत हैं क्या और किस प्रकार के उपकरणों से उसका निर्माण हुआ है।

वैयक्तिक कोटि के कल्पना-चित्रों का जन्म छायावाद-काव्य के अन्तर्गत ही हो गया था, परन्तु उनका विकसित रूप हमें निराला के काव्य में ही दिखाई देता है। उन्होंने ही 'कुकुरमुत्ता', 'बला' और 'नये पत्ते' शीर्षक रचनाओं में नए ढंग की मुद्रा चलाई और उनके प्रभावशाली नेतृत्व के कारण शीघ्र ही नये सिक्के चल पड़े। उनके वैयक्तिक कल्पना-चित्रों के उदाहरण में कई प्रकार की सामग्री हमारे सामने आती है। 'खजोहरा' शीर्षक कविता के आरम्भ में वे काले बादलों को हाईकोर्ट के मतवाले वकले (वकील-गण) बना कर उनकी धनलिप्सा और निरर्थक जिन्दादिली पर व्यंग करते हैं :

दौड़ते हैं बादल ये काले काले,
हाई कोर्ट के वकले मतवाले।

जहां चाहिए वहाँ नहीं बरसे,
धान सूखे देख कर नहीं तरसे ।
जहां पानी भरा वहां छूट पड़े,
कहकहे लगाते हुए टूट पड़े ।

यहां कल्पना अकाशचारी नहीं है। वह जीवन की वस्तुस्थिति से बंधी हुई है। धरती के जीवन की ओर यह प्रत्यावर्तन नए काव्य की सबसे बड़ी विशेषता है। कवि हाईकोर्ट के वकील वर्ग के निरर्थक जीवन और उल्लास को अपनी व्यंगप्राण समीक्षा का विषय बनाता है और उसकी तत्सम्बन्धी भावना हमसे छिपी नहीं रहती। जिन कविताओं में कवि ने आत्मवेदना का प्रकाशन किया है, उसमें उसके वैयक्तिक कल्पना-चित्र अत्यन्त सुन्दर उतर सके हैं, जैसे 'बेला' के एक गीत में कवि कहता है।

बाहर मैं कर दिया गया हूं। भीतर, पर, भर दिया गया हूं।।
ऊपर वह वर्फ़ गली है, नीचे यह नदी चली है,
सख्त तने के ऊपर नर्म कली है,
इसी तरह हर दिया गया हूं।
बाहर मैं कर दिया गया हूं।।

यहाँ सख्त तने के ऊपर पलने वाली नर्म कली कवि का अपना सुकोमल व्यक्तित्व है जिसमें वज्रादपि कठोरता और कुसुमादपि कोमलता का समाहार है। कवि यह कहना चाहता है कि अपने भीतर के जीवन-तत्व के सहारे वह विषमतम जीवनस्थितियों में भी अडिग रहेगा। यह उसकी चुनौती है। जहां ऊपर बर्फ गलती है और नीचे नदी का खरतर प्रवाह है, वहां सख्त तने के ऊपर खिली इस मर्म-मधुर कविता-कली की स्थिति विषम ही है, परन्तु इस विषम परिस्थिति में भी कवि हार मानना नहीं चाहता। इस प्रकार के नये प्रतिमानों में सारी भारतीय मान्यताओं और जीवनस्थितियों की कटु समीक्षा थी और इसका स्वर चुनौती का स्वर था। बाद में इसने नये कवियों के सामने एक मापदण्ड ही उपस्थित कर दिया।

नवीनतर कवियों ने निराला की इस पगडंडी को आज प्रशस्त राजमार्ग बना दिया है। पिछले पन्दरह वर्षों के काव्य का इतिहास नए प्रयोगों का इतिहास है और जहां भाषा, शैली, ध्वनि, लय, छन्द के क्षेत्र में इन प्रयोगों ने कविता के वहिरंग में भूतपूर्व परिवर्तन कर दिये है, वहां नये कल्पना-चित्रों की खोज और पकड़ ने उसके अन्तरंग को भी इतना बदल दिया है कि आज नया काव्य छायावाद से सैकड़ों कोस दूर चला गया है। आज कवि अपनी

ईमानदारी के बल पर ही जीना चाहता है और अपने प्रतीकों-उपमानों को वह पुराने युगों से उधार नहीं लेना चाहता। वे उसके लिये इतने सजीव ही नहीं रह गए। फलतः वह नये प्रतीकों और नये उपमानों की खोज में दत्तचित है। उसे शहरों की कामकाजी जिन्दगी, मध्यवित्ती जीवन की अस्त-व्यस्तता और दिन-ढले की ऊब, अनवरत संघर्ष और अदमनीय अवसाद सबको वाणी देना है। इसीलिये उसकी खोज चतुर्दिक है। आज वह हाथीदांत के मीनार पर बैठकर कमल-चर्वण करने वाले अफीमचियों की दुनियां से बाहर निकल आया है। वह महाप्रलय के पथ पर भरपूर दौड़ लगाता हुआ ही अपने काव्योपकरण इकट्ठा करता है। फल-स्वरूप, उसके काव्यचित्रों में असंयम, असंतुलन, अस्तव्यस्तता और अपरिपक्वता है, परन्तु यह उसकी यात्रा का पहला चरण है। अभी उसके आगे नए प्रयोगों और नई उपलब्धियों की दुनियाँ पड़ी है।

कुछ उदाहरणों से हम अपनी बात स्पष्ट करेंगे। इलियट के 'द हालो मेन' की तरह गजानन मुक्तिबोध कहते हैं :

दिन के बुखार
रात्रि की मृत्यु
के बाद हृदय पुंसत्व-हीन,
अन्तर्मनुष्य
रिक्त सा गेह
दो लालटेन-से नयन दीन,
निष्प्राण स्तम्भ
दो खड़े पाँव
लकड़ी का खोखा वक्ष रिक्त।

आज के मनुष्य को लगता है कि यह जीवन-धारा बर्फ की घनी परतों में जम गई है अथवा ठोस दीवारों ने अभेद्य मानवता के लिये अनेकानेक काराएं निर्मित कर दी हैं। भारतभूषण अग्रवाल के शब्दों में :

सघन बर्फ की कड़ी पर्त-सी
एक एक कर अमित रूढ़ियां
सदियों से जमती जाती हैं
तह पर तह।
ये आज ठोस दीवार बनीं
हैं रोक रहीं जीवन की गति

मन की उन्नति ।
अवरुद्ध आज जीवन-धारा
युग-युग से प्रचलित भय-निर्मित
इन अमित रूढ़ियों की कारा ने
बांध दिया मानव का मन,
जग का जीवन ।

(जीवन-धारा)

आज कवि ने प्रकृति के रूप रंगों को अपनी वैयक्तिक अनुभूति के भीतर डुबो कर देखना चाहा है। उसे बसन्त की शाम फागुन की खिली पीली कली सी लगती है। गिरिजाकुमार माथुर के शब्दों में :

आज हैं केसर-रंग-रंगे बन ।
रंजित शाम भी फागुन की खिली पीली कली सी
केसर के वसनों में छिपा तन ।
सोने की छांह-सा
बोलती आंखों में
पहिले बसन्त के फूल का रंग है ।

यही कवि 'रेडियम की छाया' शीर्षक अपनी कविता में रात के सन्नाठे का वर्णन करता हुआ कहता है :

सूनी आधी रात
चांद-कटोरे की सिकुड़ी कोरों से
मन्द चांदनी पीता लम्बा कुहरा
सिमट-लिपट कर ।

इसी प्रकार प्रभाकर माचवे संध्या के स्वर्ण-रंजित परंपरानिष्ठ चित्र न दे कर उसे भूरे रंगों में उसकी स्तब्धता का वर्णन करते हैं :

भूरे नभ से रात उतरती
शिशिर-सांझ की धूंधली बेला,
पीपल का विराट श्यामल वपु
खड़ा हुआ कंकाल अकेला,
एक चील का क्षीण घोंसला
क्षीण, तीज की पीत शशि-कला
अटके हैं ज्यों जीर्ण देह में
बचा मोह का तंतु विषैला ॥

प्रभात की स्वर्णिम बेला नये कवि के मन में आदिम मनुष्य की वेदकालीन मूर्तिमत्ता भर देती है और वह ऋषियों के स्वर में गा उठता है :

उदयाचल से किरन-धेनुएं
हांक ला रहा वह प्रभात का ग्वाला।
पूंछ उठाये, चली आ रही
क्षितिज-जंगलों से टोली,
दिखा रहे पथ इस भूमि का
सारस सुना-सुना बोली।
गिरता जाता फेन मुखों से
नभ में बादल बन तिरता
किरन-धेनुओं का समूह
यह आया अन्धकार चरता।
नभ की आम्र-छांह में बैठा,
बजा रहा बंशी रखवाला।

(नरेशकुमार मेहता)

या उसकी कल्पना और भी बड़े साहस के पंख फड़का कर दिग्दिगंत के अपरिसीम विस्तार को ढांकती हुई गा उठती है, जैसे नरेशकुमार की ही 'समय-देवता' शीर्षक कविता में :

सोने की वह मेघ-चील,
अपने चमकीले पंखों में ले अन्धकार अब बैठ गई दिन-अन्डे पर।
नदी-बहू की नथ का मोती चील ले गई।
गगन-बीड़ से सूरज ग्वाला हांक रहा है दिन की गायें।
नभ का नीलापन चुप-चुप है दिश के कंधों पर सिर धर।
इस उतराई मार्ग दिवस के सैन्धव नतशिर हो कर उतरे, सधे चरण से।
चमक रही पीले बालों वाली अयाल उनकी गर्दन पर।

यही नहीं, आज का कवि प्रेम और बलिदान के लिये, प्रेयसी के रूप-रंग, नख-सिख और अपने भीतर के दर्द और प्यार के लिए नये-नये मासूम और साहसपूर्ण कल्पना-चित्र उभारता है। कभी वह कहता है :

ये शरद के चांद से उजले धुले-से पांव,
मेरी गोद में।
ये नहर पर नाचते ताजे कमल की छांव,
मेरी गोद में।

दो बड़े मासूम बादल, देवताओं से लगाते दांब,
मेरी गोद में ।
(धर्मवीर भारती)

वह कभी प्रियतमा के उदास सौन्दर्य की इस प्रकार व्यंजना करता है :

तुम कितनी सुन्दर लगती हो, जब तुम हो जाती हो उदास ।
ज्यों किसी गुलाबी दुनिया में, सूने खंडहर के आसपास
मदभरी चांदनी जगती हो ।

उसके लिए प्रेम का मादक चुम्बन पवित्रतम धार्मिक प्रतीकों की याद दिला देता है । वह कह उठता है :

रख दिये तुमने नजर की बादलों को साध कर,
आज माथे पर, सरल संगीत से निर्मित अधर ।
आरती के दीपकों की झिलमिलाती छांह में
बांसुरी रक्खी हुई ज्यों भागवत के पृष्ठ पर ।

यह है नये कवियों का कल्पना-जगत, जो गली-सड़ी परम्पराओं के बीच में से नई संवेदना के लिय मार्ग बना रहा है । रूपों-रंगों की एक नई ही दुनिया सामने आ रही है । आज कवि ने सभी कला-क्षेत्रों को अपनी शोध का विषय मान लिया है और उसने गानों को रूप दिये हैं और रूपों को गंध दी है । अभी वह सब कहीं सफल नहीं है, परन्तु किसी सशक्त परंपरा को छोड़ कर इतना आगे बढ़ना भी उसकी शक्ति का ही सूचक है । कल ये कल्पना-चित्र सामाजिकों के मन में उसी प्रकार स्थान कर लेंगे जिस प्रकार आश्रम-युग के कालिदासी कल्पना-चित्र अब तक हमारे मन पर छाये हुए हैं । तब कदाचित् कवि को फिर एक बार नये वस्तु जगत से (जो कदाचित् विज्ञान का नया जगत होगा) अपना सम्बन्ध जोड़ना होगा । इस भूमिका पर से देखने पर आज के कवियों का अप्रतिम साहस प्रशंसा का विषय ही बन सकेगा ।

: २८ :

निबन्धकार शुक्ल

[१]

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के निबन्धों की संख्या अधिक नहीं है। 'चिन्तामणि' भाग १, २ में उनकी २० रचनाएं निबन्ध नाम से संकलित हैं। इनमें से 'चिन्तामणि' भाग १ की सामग्री 'विचार वीथी' नाम से पहले भी छप चुकी थी और 'चिन्तामणि' भाग १ की भूमिका में शुक्ल जी ने इस सामग्री को निबन्ध ही कहा है। यह सामग्री 'निबन्ध' ही है, इस विषय में वह निश्चिन्त हैं। 'ये निबन्ध विषय-प्रधान हैं या व्यक्ति-प्रधान', इस बात का निर्णय वह पाठकों पर छोड़ते हैं। शेष तीन निबन्ध अपेक्षाकृत बड़ी रचनाएं हैं। इनमें पहली रचना 'काव्य में प्राकृतिक दृश्य' लगभग ५० पृष्ठों की रचना है, 'काव्य में रहस्यवाद' निबन्ध १२५ के लगभग पृष्ठों को सिमेट लेता है और अन्तिम निबन्ध वास्तव में अभिभाषण है। यह भाषण उन्होंने चौबीसवें हिन्दी साहित्य-सम्मेलन की साहित्य-परिषद के सभापति-पद से इन्दौर में दिया था। संकलन-कर्त्ता का कहना है कि यद्यपि यह भाषण है 'तथापि इसे भाषण का रूप कुछ वाक्यों ने आदि मध्य और अन्त में जुड़ कर दिया है। यदि यह वाक्यावली हटा ली जाए तो वर्तमान हिंदी-साहित्य का सिंहावलोकन करने वाला निबन्ध ही दिखाई देगा।' उन्होंने आवश्यक

शगों को हटाकर इसे निबन्ध का रूप दे दिया है। यह निबन्ध ९० पृष्ठों में है। संक्षेप में, यह शुक्ल जी के २० निबन्धों का लेखा-जोखा है। इस अन्तिम सामग्री के सम्बन्ध में यह निश्चय करना है कि हम उसे निबन्ध कहें या कुछ और। शेष सामग्री को स्वयं शुक्ल जी ने निबन्ध कहा है। उसके सम्बन्ध में देखना है कि 'उनकी निबंधता' क्या वस्तु है और हिन्दी-साहित्य के विकास में उसका क्या स्थान है।

निबन्ध का आरम्भ फ्रांस में माण्टेन की रचना 'एसेस' (१५८०-८८) से हुआ था परन्तु इंगलैण्ड में बेकन (सर फ्रेन्सिस बेकन, १५६१-१६२६) की रचनाओं (एसेस, १५९७-१६२५) ने इस साहित्य-कोटि का प्रवर्त्तन किया। पहले संस्करण में बेकन ने केवल १० निबन्ध प्रकाशित किए थे। बाद में निबन्धों की संख्या बढ़ती गई और १६२५ के अन्तिम संस्करण में ५८ निबंध थे। माण्टेन के निबंध अंग्रेजी में १६०३ ई में अनूदित हो गए थे, परन्तु बेकन कदाचित उनसे परिचित नहीं था। उसने अपनी कला का विकास अपने ढंग पर किया। वास्तव में दोनों का दृष्टिकोण ही भिन्न था। मान्टेन का कहना था : 'मेरा मन स्वतन्त्र है और सम्पूर्णतया स्वाधीन, जहां चाहता विचरण करता है।'[1] इसके विपरीत बेकन अपने निबन्धों की लोकप्रियता का वर्णन करता हुआ कहता है : 'जान पड़ता है, वह मनुष्यों को लाभप्रद और आकर्षक लगे है।' पहले वक्तव्य में निबन्ध को स्वच्छन्द मनःप्रवाह की सृष्टि समझा गया है और दूसरे में उनके ज्ञान-विपुल, उपयोगी पक्ष पर ही अधिक बल है। उसमें मन को विशेष विषय पर केन्द्रित किया गया है, उसे उन्मुक्त नहीं छोड़ा गया है। निबन्धों के अध्ययन से भी जान पड़ता है कि मान्टेन की कला स्वच्छन्द और बंधनहीन है, बेकन की कला आयास-सिद्ध और निश्चित रूप-रेखाओं में बंधी। पहली में साहस का तेज है तो दूसरी में संयम का प्रकाश। वास्तव में ये मन की दो भिन्न क्रियाओं, प्रसार और संकोच की उपज हैं, अतः प्रकृति से ही भिन्न हैं।

बेकन की शैली इतनी गम्भीर, सामासिक, ज्ञानगर्भित थी कि इस दिशा में किसी भी प्रकार का विकास सम्भव नहीं था। उसका अनुकरण भी सम्भव नहीं था। उसके बाद लगभग उसी श्रेणी की चीज हमें जानसेन की उन रचनाओं में मिलती है जो 'द रेम्बलर' और 'द आइड्लर' नाम से संकलित हैं। इन निबन्धों में प्रामाणिक और अधिकारपूर्ण ढंग से बात कही गई है और उपदेश-तत्त्व एवं बौद्धिक उत्कर्ष की प्रधानता है। प्रभविष्णुता में उनमें अधिक नहीं है। इस प्रकार की रचनाएं मुख्यतः सूचनात्मक, व्याख्या-

त्मक अथवा प्रेरणात्मक हैं। इन्हें शास्त्रीय निबन्ध या फार्मल कैसे कहा जा सकता है ? शास्त्रीय निबन्ध विषय-प्रधान होता है और वैज्ञानिक तटस्थता एवं शैलीगत संयम उसकी विशेषता रहती है। वह साहित्य की कोटि में आ भी सकता है और नहीं भी आ सकता। साहित्य-कोटि में आने के लिए यह आवश्यक है कि अपने व्यावहारिक लक्ष्य की पूर्ति में ही उसकी इतिश्री नहीं हो जाए, उसमें कुछ शैलीगत विशेषता भी हो और वह हमारी सौन्दर्यानुभूति को जाग्रत कर सके। रस्किन, मैथ्यु आर्नाल्ड और कारलाइल, हैजलेट-मैकाले के निबन्ध इस कोटि में आते हैं। इनमें से प्रत्येक की अपनी जीवन-दृष्टि है। हम इनकी रचनाएं इनके मन्तव्यों के लिए कम पढ़ते हैं, इनके वैयक्तिक दृष्टिकोण को समझने के लिए अधिक। १८वीं और १९वीं शताब्दी में शास्त्रीय ढंग की रचनाओं की ही प्रधानता रही। ज्ञान-विज्ञान की अभिवृद्धि, पत्रों के प्रसार और शिक्षा के प्रचार ने इस कोटि के गम्भीर निबन्ध-लेखन को लोकप्रिय बनाया। अब भी अधिकांश निबन्ध-लेखन इसी कोटि का है।

माण्टेन-शैली के अंग्रेजी निबन्धों का विकास स्वतन्त्र रीति से हुआ। उनका अपना इतिहास है। इस शैली के विकास में जिन्होंने महत्वपूर्ण ढंग से योग दिया है—वे हैं एडिसन, स्टील, गोल्डस्मिथ, स्विफ्ट और ले-हण्ट। इनके निबन्धों में लेखक का व्यक्तिगत अनुभव और चिंतन सामान्य वस्तु और विषय पर लेखक के विचार और भाव का क्रीड़ा-कुतूहल एवं शैलीगत नैकट्य महत्वपूर्ण हैं। निबन्ध-लेखक अपनी कलम को सहृदयता और स्वाभाविकता में डुबो कर लिखने बैठता है और उसकी व्यक्तिगत रुचि-अरुचि, उसका स्वभाव, उसका व्यक्तित्व, उसकी रचना में पूर्ण रूप से प्रतिबिंबित हो जाता है। इस प्रकार के निबन्धों का सबसे सुन्दर रूप हमें चार्ल्स लैंब के निबन्धों में मिलता है। व्यंग, परिहास, शाब्दिक क्रीड़ा-कुतूहल, आत्मोल्लेख, कथात्मक प्रसंग, विषयान्तर ये सभी इस प्रकार के निबन्ध के अंग हैं। इसे हम वैयक्तिक अथवा इन्फार्मल निबन्ध कह सकते हैं। इस प्रकार के निबन्ध की आत्मा है लेखक के व्यक्तित्व का स्फुरण। उसमें विषय की महत्ता कम है, या है ही नहीं। यहाँ निबंध कला की वस्तु बन कर सामने आता है। उसमें अनुरंजक और साहित्यिक उपकरणों की प्रधानता रहती है। २०वीं शताब्दी में हम मेक्स बियर होम, जी० के० चेस्टरटन, ई० वी० लुकास, राबर्ट लिंड आदि निबंधकारों को इस प्रकार के निबंधों को आगे बढ़ाता पाते हैं।

ऊपर निबन्ध के दो रूपों के विकास की जो रूपरेखा दी गई है उससे

यह स्पष्ट है कि पहले प्रकार के निबन्ध में बौद्धिक प्रक्रिया महत्वपूर्ण है और वह वैज्ञानिक तटस्थता एवं शैलीगत निर्वैयक्तिकता पर आधारित है और दूसरे प्रकार के निबंध में कलागत दृष्टिकोण और भावना के प्रसार एवं मन के स्वच्छन्द प्रवाह को अधिक महत्व मिला है। निबंध के इन दो रूपों में कहीं विषयगत और शैलीगत कह कर भेद किया गया है, कहीं निर्वैयक्तिक और वैयक्तिक बता कर, कहीं उन्हें अलग नाम देने की चेष्टा की गई है, जैसे 'प्रबंध' और 'निबंध' अथवा 'परिबंध-निबंध' और 'निर्बंध-निबंध'। मान्टेन और बेकन ने दो भिन्न प्रकार की सामग्रियों के लिए एक ही 'एसेअ' (एसेस) शब्द का प्रयोग किया था और तब से एक ही प्रकार के नाम के प्रचलन के कारण यह कठिनाई उपस्थित है।

स्पष्टतया शुक्लजी की 'चिंतामणि भाग १' में संकलित रचनाएं बेकन और जानसेन की कोटि की हैं। उनमें विषय की प्रधानता है। प्रत्येक निबंध में किसी गम्भीर विषय को उठाया गया है और उसे तर्कपूर्ण निर्वाह के साथ परिसमाप्ति पर पहुंचाया गया है। शुक्ल जी के निबन्ध का आदर्श है: 'जिनमें विचार प्रवाह के बीच लेखक के व्यक्तिगत वाग्वैचित्र्य तथा उसके हृदय के भावों की अच्छी झलक हो। (अभिभाषण, काव्य में अभिव्यंजनावाद' पृ० २५९) परन्तु उनके निबंध में विचार प्रवाह ही अधिक महत्वपूर्ण हो जाता है। यह अवश्य है कि उनमें उनका गुरु-गम्भीर व्यक्तित्व पूर्ण रूप से प्रतिबिंबित है और कहीं-कहीं कदाचित् गम्भीर विचार से थक कर श्रम-परिहास की चेष्टा भी हास-परिहास या व्यंग के रूप में सामने आती है, परन्तु विचारों के ऊहापोह में यह सामग्री खो जाती है। इसका एक कारण तो यह है कि शुक्ल जी के अधिकांश निबंध मनोविकारों या गम्भीर साहित्यिक सिद्धान्तों पर लिखे गये हैं। विषय की गम्भीरता हृदय के प्रसार के लिए अधिक भूमि छोड़ती ही नहीं: फलतः अधिकांश निबंध विषयगत ही बन सके हैं व्यक्तिगत नहीं जहां व्यक्तिगत स्फुरण है भी वहां वह निबन्ध का गम्भीर सामग्री में घुल-मिल नहीं सका है। उसमें श्रम-परिहार का भाव है, मनकी स्वच्छंद स्फूर्त्ति नहीं।

'चिंतामणि' भाग १ के 'निवेदन' में शुक्ल जी ने लिखा है: "इस पुस्तक में मेरी अन्तर्यात्रा में पड़ने वाले कुछ प्रदेश हैं। यात्रा के लिए निकलती है बुद्धि, पर हृदय को भी साथ ले कर। अपना रास्ता निकालती हुई बुद्धि जहां कहीं मार्मिक या भावाकर्षक स्थलों पर पहुंची है वहां हृदय थोड़ा बहुत रमता और अपनी प्रवृति के अनुसार कुछ कहता गया है। इस प्रकार

यात्रा के श्रम का परिहार होता रहा है। बुद्धि-पथ पर हृदय भी अपने लिए कुछ न कुछ पाता रहा है। इससे उनकी चिंतन-प्रक्रिया पर प्रकाश पड़ता है। शुक्ल जी के ये निबन्ध वैज्ञानिक तर्कवाद पर आश्रित न होकर उनकी जीवनानुभूति या साहित्यानुभूति पर आश्रित हैं। फलतः उनमें वैज्ञानिक प्रबन्ध की रूक्षता और अति-तर्कवादिता नहीं मिलेगी। भावपूर्ण प्रकरणों को हार्दिक संवेदना भी मिली है, जैसे 'लोभ और प्रीति' में लोभियों का परिहास, या प्रकृति-चित्रण सम्बन्धी निबन्ध में तथाकथित देश-प्रेमियों पर व्यंग। परन्तु इस प्रकार के प्रकरण क्षेपक जैसे हैं, वे विषय की तात्विक विवेचना के बीच में श्रम-परिहार की भावना से आते हैं। यह अवश्य है कि उनके कारण निबंध साहित्य-कोटि में आ जाते हैं और निबन्ध की दुर्बोधता भी कुछ मात्रा में दूर हो जाती है। जहां इस प्रकार के प्रसंग हैं वहाँ निबन्ध व्यक्तिगत बन जाता है और लेखक का व्यक्तित्व प्रधानता पा जाता है। परन्तु ऐसे प्रकरण अधिक नहीं हैं। वास्तव में विषयप्रधान और व्यक्तिप्रधान निबन्ध दो भिन्न कोटि की वस्तुएं हैं और दोनों में बहुत कुछ आदान-प्रदान सम्भव होने पर भी यह भिन्नता बड़ी दूर तक बनी रहेगी। दो भिन्न और कदाचित विरोधी दृष्टि-कोणों को एक ही रचना में ले कर चलना हास्यास्पद होगा। उनसे वर्णसंकर की सृष्टि होगी। उसे हम समाहार या समन्वय नहीं कह सकेंगे।

संभवतः शुक्ल जी इस बात को समझते थे। इसी से उन्होंने अपने 'इतिहास' में विषयगत निबन्धों में लेखक के व्यक्तित्व के प्रकाशन की बात उठाई है। ऐसे निबन्धों में भी व्यक्तित्व का समावेश रहता है परन्तु सूक्ष्म रूप से और व्यक्तिगत निबन्धों से अलग ढंग पर—इस स्थापना से मतभेद नहीं हो सकता। लेखक के अध्ययन, चिंतन, रुचि-अनरुचि से हम यहां भी किंचित मात्रा में परिचित हो सकते हैं, परन्तु पाठक और लेखक में दूरी बनी ही रहती है। व्यक्तित्व का जैसा सुन्दर, मार्मिक, आकर्षक प्रकाशन दूसरे प्रकार के निबन्धों में रहता है, वह यहां अलभ्य है।

संक्षेप में, शुक्ल जी के निबंधों की यह स्थिति है। उनके निबन्ध विषय-प्रधान हैं और उनमें उनके गंभीर चिंतन-प्रधान व्यक्तित्व का ही प्रकाशन हुआ है यद्यपि कहीं-कहीं उनके हास-परिहास, व्यंग-विनोद का भी पुट मिलता है। परन्तु उससे उनके गंभीर व्यक्तित्व की गुरुता बढ़ती ही है, कम नहीं होती। वह कारलाइल, हेजलेट, जानसेन अथवा मैथ्यू-आरनाल्ड की याद दिलाते हैं, मान्टेन, लेंब और एडिसन की नहीं। उनका क्षेत्र बौद्धिक है। वह कला-मर्मज्ञ हैं, कलाकार नहीं। उनके निबंधों में

बौद्धिक प्रक्रिया ही प्रमुख है, यद्यपि व्यक्तित्व के तत्व भी कुछ मात्रा में संयोजित रहते हैं और निबंध के ढीले-ढाले ढांचे के कारण प्रभुविष्णुता की झलक भी दिखलाई देती है।

शुक्ल जी की निबंध-शैली का सबसे सुन्दर रूप उनके मनोवैज्ञानिक निबंधों में मिलता है। इन निबंधों के अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि शुक्ल जी निबंध के संबंध में एक विशेष आदर्श को लेकर चले हैं। हिंदी साहित्य-सम्मेलन के चौबीसवें अधिवेशन की साहित्य-परिषद् के सभापति-पद से उन्होंने जो अभिभाषण दिया था, उसमें निबंध की प्रगति का वर्णन करते हुए उन्होंने लिखा है : ऐसे प्रकृत निबंध जिनमें विचार-प्रवाह के बीच लेखक के व्यक्तिगतवाग्वैचित्र्य तथा उसके हृदय के भावों की अच्छी झलक हो, हिंदी में कम देखने में आ रहे हैं।' इस उक्ति का विश्लेषण करें तो यह स्पष्ट हो जायगा कि वे निबंध में तीन वस्तुएं अपेक्षित समझते हैं :

१- विचार-प्रवाह
२- बीच-बीच में लेखक का व्यक्तिगत वाग्वैचित्र्य
३- लेखक के हृदयगत भावों की झलक

इनमें पहला अंग विषय की प्रधानता को सूचित करता है। दूसरा अंग बुद्धि-सापेक्ष है और लेखक से भाषा-सामर्थ्य और वाग्विलास-प्रतिभा की अपेक्षा रखता है। परन्तु तीसरा अंग भी कम महत्वपूर्ण नहीं है। जब तक निबंध में लेखक की भावुकता उसके हृदयगत भावों, मार्मिक उक्तियों और प्रसंगों का समावेश नहीं होगा, तब तक निबंध का रूप रम्य और रोचक नहीं होगा। वस्तुतः शुक्ल जी निबंध में गम्भीर विचार-प्रवाह के साथ व्यक्तित्व के कुछ तत्व भी समाविष्ट कर देना चाहते हैं। वाग्वैचित्र्य और भावपूर्ण प्रसंगों के समावेश से निबंध में लेखक के व्यक्तित्व का एक निश्चित रूप सामने आता है। इससे उसमें बुद्धि-तत्व के साथ कलात्मकता और भावुकता का भी समावेश होता है। व्यक्तित्व का यह रूप उस रूप से भिन्न है जो प्रतापनारायण मिश्र के निबंधों में मिलता है। वाग्वैचित्र्य, भावपूर्ण उक्तियों और प्रसंगों की उद्भावना से शुक्ल जी वैज्ञानिक तर्कवाद और मत-स्थापन की शुष्कता का परिहार करते हैं।

'चिंतामणि भाग १' के आरम्भ में आचार्य शुक्ल ने अपनी निबंध शैली को और भी स्पष्ट किया है। उन्होंने विषय के विचार-पक्ष को 'अंतर्यात्रा कहा है। लेखक अपने भीतर डूबकर ही अपने मनस्तत्व की छानबीन करता

है । वह एक प्रसंग से दूसरे प्रसंग में चला जाता है और जीवन, साहित्य, मनोविज्ञान और धर्म दर्शन के सभी क्षेत्र उसकी भाव-धारा में इस प्रकार गुंफित हो जाते हैं कि उन्हें अलग करना असम्भव है। यही समर्थ लेखक की अन्तर्यात्रा है। तात्पर्य यह है कि ये निबन्ध साहित्य और दर्शन के महान ग्रन्थों को उलट कर तैयार नहीं किए। मान्टेन की तरह शुक्ल जी के लिए उनका अपना चिंतन-मनन, उनकी अपनी साहित्यानुभूति और जीवनानुभूति ही एक मात्र संबल हैं। उन्होंने इस 'अंतर्यात्रा' की व्याख्या करते हुए लिखा है : 'यात्रा के लिए निकलती रही है बुद्धि, पर हृदय को भी साथ ले कर। अपना रास्ता निकालती हुई बुद्धि जहाँ कहीं मार्मिक या भावाकर्षक स्थलों पर पहुंची है वहां हृदय थोड़ा-बहुत रमता और अपनी प्रवृत्ति के अनुसार कुछ-कुछ कहता गया है। इस प्रकार यात्रा के श्रम का परिहार होता रहा है। बुद्धि-पथ पर हृदय भी अपने लिए कुछ न कुछ पाता रहा है।' इस प्रकार निबंधों में हृदय-पक्ष और भाव-पक्ष का पूर्णरूपेण समाहार मिलता हैं। 'लोभ और प्रीति' निबंध को ही लीजिए। इसमें शुक्ल जी 'प्रीति' को 'लोभ' का ही एक रूप मान कर चले हैं और इस मनोवृत्ति का अत्यंत सूक्ष्म विश्लेषण उपस्थित करते हैं, परन्तु बीच में 'देशप्रेम' का प्रसंग उठा कर उन्होंने तथाकथित नेताओं पर मार्मिक फबतियाँ भी कसी हैं। रसखान की ब्रजप्रेम-सम्बन्धी प्रसिद्ध उक्ति को उद्धृत कर वह कहते हैं : 'रसखान तो किसी की लकुटी अरु कामरिया पर तीनों पुरों का राजसिंहासन तक त्यागने को तैयार थे, पर देशप्रेम की दुहाई देने वालों में से कितने अपने किसी थके-मांदे भाई के फटे-पुराने कपड़ों और धूलभरे पैरों पर रीझ कर, या कम से कम न खीझ कर, बिना मन मैला किए कमरे की फर्श भी मैली होने देंगे। मोटे आदमियों तुम ज़रा तो दुबले हो जाते—अपने अंदेशे से ही सही—तो न जाने कितनी ठठरियों पर मांस चढ़ जाता।' यह अवतरण शुक्ल जी के वाग्वैचित्र्य का बहुत सुंदर उदाहरण है। विचार-प्रवाह में इसका रूप और भी अधिक खिलता है। इस प्रसंग में उन्होंने अपनी भावुकता का भी समावेश किया है। वह कहते हैं : 'यदि देश-प्रेम के लिए हृदय में जगह करनी है तो देश के स्वरूप से परिचित और अभ्यस्त हो जाओ। बाहर निकलो तो आँखें खोल कर देखो कि खेत कैसे लहलहा रहे हैं, नाले झाड़ियों के बीच से कैसे बह रहे हैं, टेसू के फूलों से बनस्थली कैसे लाल हो रही है, चौपायों के झुंड चरते हैं, चरवाहे तान उड़ा रहे हैं, अमराइयों के बीच में गाँव झाँक रहे हैं। उनमें घुसो, देखो तो क्या हो रहा है।' इत्यादि। इसी निबंध में लोभियों के

आत्मदमन और संयम में उन्होंने 'व्याजस्तुति' के रूप में व्यंग्य का विषय बनाया है। लोभियो, तुम्हारा अक्रोध, तुम्हारा इन्द्रिय-निग्रह, तुम्हारी मानापमान समता, तुम्हारा तप अनुकरणीय है। तुम्हारी निष्ठुरता तुम्हारी निर्लज्जता, तुम्हारा अविवेक, तुम्हारा अन्याय विगर्हणीय है।' ऐसे ही स्थल शुक्ल जी की रसज्ञता और निबंधलेखन-कला को हमारे सामने उपस्थित करते हैं। विषम प्रेम का वर्णन करते हुए वह फ़ारसी और उर्दू शायरी को इस प्रकार रखते हैं: 'वहां प्रेमी जीते-जी यार के कूचे में अपनी कब्र बनवाते हैं, उस कूचे के कुत्तों के नाम अपनी हड्डियां वक्फ़ करते हैं और बार-बार मर कर अपना हाल सुनाया करते हैं।' यहां हमें शुक्ल जी की उन उक्तियों का स्मरण हो आता है जो उन्होंने एकांतिक प्रेम के विरोध में कही हैं और हमारे सामने उनका वह साहित्यिक व्यक्तित्व खड़ा हो जाता है जो काव्य में लोक-मंगल और आत्म-परिष्कार का प्रकाश देखना चाहता है। 'व्यक्तित्व' का यही रूप हमें शुक्ल जी के निबंधों में मिलेगा।

शुक्ल जी ने स्वतः प्रश्न उठाया है: कि उनके निबंध विषय-प्रधान हैं या व्यक्ति-प्रधान? उनमें विषय का वैज्ञानिक विश्लेषण है, वह बहुत कुछ प्रमुख बन कर सामने आता है, परन्तु उसमें व्यक्तित्व की उपेक्षा कहाँ है। वाग्वैचित्र्य और भावुकता के रूप में समीक्षक का व्यक्तित्व भी स्थान-स्थान पर प्रतिष्ठित है और उसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। यह स्पष्ट है कि निबंध के रूप का यही आदर्श शुक्ल जी के सामने उस समय था जब उन्होंने चौबीसवें अधिवेशन की साहित्य-परिषद में वस्तुस्थिति का विवेचन उपस्थित किया था।

शुक्ल जी निबंध को गद्य की कसौटी मानते हैं, क्योंकि भाषा की पूर्ण शक्ति का विकास निबंधों में ही सब से अधिक होता है। वस्तुतः गद्य-लेखक की परीक्षा यहीं होती है। उनका निबंध का वर्गीकरण इस प्रकार है:

निबन्ध

विचारात्मक	भावात्मक	वर्णनात्मक
१—व्यास-शैली के निबंध	१—धारा	१—सामान्य
२—समाज-शैली के निबंध	२—तरंग	२—काव्यात्मक और अलंकृत

३—विक्षेप
(क) सामान्य
(ख) प्रलाप-शैली

परन्तु यह आवश्यक नहीं कि इन तीनों प्रकारों का रूप अलग-अलग निबन्धों में ही विकसित हो सके। शुक्ल जी मानते हैं कि प्रवीण लेखक प्रसंग के अनुसार इन विधानों का बड़ा सुन्दर मेल भी करते हैं। निबन्ध में व्यक्तित्व का रूप उपादेय है, इसकी भी विवेचना उन्होंने की है : 'आधुनिक पाश्चात्य लक्षणों के अनुसार निबन्ध उसी को कहना चाहिए जिसमें व्यक्तित्व या व्यक्तिगत विशेषता हो। बात तो ठीक है, यदि ठीक तरह से समझी जाये। व्यक्तिगत विशेषता का यह मतलब नहीं कि उसके प्रदर्शन के लिए विचारों की शृंखला रखी ही न जाय या जान-बूझ कर जगह-जगह से तोड़ दी जाय। भावों की विचित्रता दिखाने के लिये ऐसी अर्थ-योजना की जाय जो उनकी अनुभूति के प्रकृति या लोक-सामान्य स्वरूप से कोई सम्बन्ध ही न रखे अथवा भाषा से सरकस वालों की-सी कसरतों या हठयोगियों के से आसन कराये जायें जिनका लक्ष्य तमाशा दिखाने के सिवा और कुछ न हो। संसार में हर बात और सब बातों से सम्बन्ध है। अपने-अपने मानसिक संघटन के अनुसार किसी का मन किसी सम्बन्ध-सूत्र पर दौड़ता है, किसी का किसी पर। ये सम्बन्ध सूत्र एक-दूसरे से नथे हुए, पत्तों की भीतर की नसों के समान चारों ओर एक जाल के रूप में फैले हुए हैं। तत्वचिंतक या दार्शनिक केवल अपने व्यापक सिद्धान्तों के प्रतिपादन के लिए उपयोगी कुछ सबंध-सूत्रों को पकड़ कर किसी ओर सीधा चलता है। यही उसकी अर्थ-सम्बन्धी व्यक्तिगत विशेषता है। अर्थ-सम्बन्ध-सूत्रों की टेढ़ी-मेढ़ी रेखाएँ ही भिन्न-भिन्न लेखकों का दृष्टिपथ निर्दिष्ट करती हैं। एक ही बात को लेकर किसी का मन किसी सम्बन्ध-सूत्र पर दौड़ता है, किसी का किसी पर। इसी का नाम है कि एक ही बात को भिन्न-भिन्न दृष्टियों से देखना। व्यक्तिगत विशेषता का मूल आधार यही है।'

तत्वचिंतक या वैज्ञानिक और निबंध-लेखक में क्या भेद है, इस पर भी उन्होंने विचार किया है : 'तत्वचिंतक या वैज्ञानिक से निबंध-लेखक की भिन्नता इस बात में है कि निबंध-लेखक जिधर चलता है उधर अपनी संपूर्ण मानसिक सत्ता के साथ, अर्थात् बुद्धि और भावात्मक हृदय दोनों लिए हुए, जो करुण प्रकृति के हैं, उनका मन किसी बात को लेकर, अर्थ-सम्बन्ध-सूत्र पकड़े हुए, करुण-स्थलों की ओर झुकता और गम्भीर वेदना का अनुभव

करता चलता है। जो विनोदशील हैं उनकी दृष्टि उसी बात को लेकर उसके लिए ऐसे पक्षों की ओर देखती है जिन्हें सामने पाकर कोई हँसे बिना नहीं रह सकता। इसी प्रकार कुछ बातों के सम्बन्ध में लोगों की बंधी हुई धारणाओं के विपरीत चलने में जिस लेखक को आनन्द मिलेगा वह उन बातों के ऐसे पक्षों पर वैचित्र्य के साथ विचरेगा जो उन धारणाओं को व्यर्थ या अपूर्ण करते दिखलाई देंगे। उदाहरण के लिए आलसियों और लोभियों को लीजिए। दुनियाँ उन्हें बुरा कहती चली आ रही है। कोई लेखक अपने निबन्ध में उनके अनेक गुणों को विनोदपूर्वक सामने रखता हुआ उनकी प्रशंसा कर वैचित्र्यपूर्ण आनन्द ले सकता है। इसी प्रकार वस्तु के नाना सूक्ष्म ब्योरों पर दृष्टि गड़ाने वाला लेखक किसी छोटी से छोटी, तुच्छ से तुच्छ बात को गम्भीर विषय का सा रूप देकर, पाण्डित्यपूर्ण भाषा की पूरी नकल करता हुआ सामने रख सकता है। पर सब अवस्थाओं में कोई बात अवश्य चाहिये। इस अर्थगत विशेषता के आधार पर ही भाषा और अभिव्यंजना-प्रणाली की विशेषता खड़ी हो सकती है। जहाँ नाना अर्थ-सम्बधों का वैचित्र्य नहीं, जहां गतिशील अर्थ की परम्परा नहीं, वहां एक ही स्थान पर खड़ी-खड़ी तरह-तरह की मुद्रा और उछल-कूद करती हुई भाषा केवल तमाशा करती हुई जान पड़ेगी'। (हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० ५०६-५०७)

इस प्रकार शुक्ल जी की निबन्ध-सम्बन्धी मान्यताओं का एक सुनिश्चित रूप हमारे सामने है। यह सुनिश्चित रूप ही उनके मनोवैज्ञानिक निबन्धों में विकसित हुआ है।

निबन्ध-क्षेत्र में शुक्ल जी के आदर्श कौन लेखक हैं, यह भी देखना होगा। उन्होंने भारतेन्दुयुग में भारतेन्दु और उनके सहयोगियों द्वारा चलाई हुई स्थायी विषयों पर निबन्ध लिखने की परम्परा का उल्लेख किया है और यह क्षोभ प्रगट किया है कि यह परम्परा बहुत शीघ्र समाप्त हो गई। भारतेन्दु-युग का अधिकांश निबन्ध-साहित्य वर्णनात्मक निबन्ध-पद्धति को ले कर चला है और उसमें सामयिक घटनाओं, देश-समाज की जीवनचर्या, ऋतु-चर्या, पर्व-त्यौहार आदि पर भी साहित्यिक निबन्ध लिखे गए। इनमें जनता के जीवन का पूरा-पूरा रंग है और शैली में वर्णनात्मक और भावात्मक दोनों विधानों का मेल है। इस प्रकार के निबन्धों में शुक्ल जी की अभिरुचि नहीं है। वह बेकन और चिपलूनकर के निबन्धों को दूसरे उत्थान का जन्मदाता मानते हैं। इनके अनुवाद (बेकन-विचार रत्नावली और निबन्धमालादर्श)

ास समय प्रकाशित हुए, परन्तु शुक्ल जी का कहना है कि बेकन-विचार रत्नावली के अनुवादक आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी स्थायी निबन्धों के रूप में अधिक नहीं दे सके। उनमें भाषा के नूतन शक्ति-चमत्कार के साथ नए-नए विचारों की उद्भावना वाले निबन्ध बहुत कम मिलते हैं। (पृ० ५०८) शुक्ल जी इन स्थायी विषयों पर लिखे निबन्धों में चाहते हैं—विचारों की वह गूढ़-गुंफित परम्परा जिससे पाठक की बुद्धि उत्तेजित होकर किसी नई विचार-पद्धति पर दौड़ पड़े। उनका कहना है कि शुद्ध विचारात्मक निबन्धों का उत्कर्ष वहीं कहा जा सकता है जहां एक-एक पैराग्राफ में विचार दबा-दबा कर कसे गए हों और एक-एक वाक्य किसी सम्बन्ध विचार-खंड को लिए हो। ऐसे आदर्श को उन्होंने अपने निबन्धों में खूब निभाया है।

ऊपर हमने जो विवेचन प्रस्तुत किया है उससे शुक्ल जी की निबन्ध शैली के सम्बन्ध में एक सुनिश्चित रूपरेखा तैयार हो जाती है और हम यह जान लेते हैं कि उनकी शैली में व्यक्तित्व प्रकाशन का क्या रूप सामने आता है और किस प्रकार आता है। अब हमें उनकी भाषा-शैली पर विचार करना है।

शुक्ल जी के निबंध समास-पद्धति को लेकर चले हैं। से तात्पर्य यह है कि उन्होंनेसम्मस पद्धति अपने गम्भीर विचारों को ऐसे सुगठित वाक्यों में भर दिया है जिनमें से एकशब्द भी हटाना हमारे लिए असंभव है। कहीं-कहीं यह वाक्य-परम्परा दूर तक शृंखलित चलती है और लेखक के विचारों का तर्कबद्ध प्रकाश उनमें जड़ीभूत हो जाता है। शुक्ल जी निबंध का वह रूप हमें दे रहे हैं जिसकी असाधारण शैली या गहन विचारधारा पाठकों को मानसिक श्रम-साध्य नूतन उपलब्धि के रूप में जान पड़े। (इतिहास, ५५८) स्पष्ट ही उनकी शैली :

१- मानसिक श्रम-साध्य है।

२- उसमें नूतन उपलब्धि भी है, विशेषतया विचारों के क्षेत्र में। वह विषय के निरूपण में जिस सूक्ष्म और सु-व्यवस्थित विचार परम्परा को अपेक्षित समझते हैं (वही, पृ० ५६१), वह उनके निबंधों में पूर्णतया प्राप्त है। वह गम्भीर विवेचन के क्षेत्र में भावमय, रसमय और चित्रमय शैली के पक्षपाती नहीं हैं। इससे उन्हें 'साहित्य में घोर विचार-शैथिल्य और बुद्धि का आलस्य फैलने की आशंका है।' (वही, पृ० ५६१) शुक्ल जी विचारात्मक निबंधों में विचारों की वह गूढ़-गुंफित परम्परा चाहते हैं जिससे पाठकों की बुद्धि उत्तेजित हो कर नई विचार-पद्धति पर दौड़ पड़े। शुद्ध विचारात्मक निबंधों का चरम उत्कर्ष वहीं कहा जा सकता है जहाँ एक-एक पैराग्राफ में विचार

दबा-दबा कर कसे गए हों और एक-एक वाक्य किसी संबद्ध विचार-खण्ड को लिए हो। (इतिहास, पृ० ५०६) वास्तव में, 'समास-पद्धति' में शुक्ल जी भाषा-शैली का यही रूप प्रतिष्ठित देखते हैं। उन्होंने अपने निबंधों में इसी गूढ़-गुंफित विचार-परंपरा और अर्थ-समष्टि' (भाषा-शैली की कसावट) पर विशेष ध्यान दिया है। इसके विपरीत 'व्यास-शैली' है जिसमें एक ही बात को कई बार शब्दों के कुछ हेर-फेर के साथ उपस्थित किया जाता है। यह विपक्षी को 'कायल' करने के प्रयत्न में बड़े काम की है' (वही, पृ० ५०६) परन्तु गम्भीर विवेचना के लिए अधिक उपादेय नहीं है। शुक्ल जी का कहना है कि 'विचार-पद्धति को उत्तेजना देने वाले, भाषा की शक्ति का प्रसार करने वाले गद्य का अच्छा और उपयोगी विकास यूरोपीय भाषाओं में ही हुआ। हमारे साहित्य में गद्य-काव्य की पुरानी रूढ़ि के अनुसरण से शक्तिशाली गद्य का प्रादुर्भाव नहीं हो सका।' (वही, पृ० ५११) फिर भी अर्थ-गांभीर्य बहुत कुछ प्रासादिक भाषा में उपस्थित किया है और उसमें पंडित गोविन्दनारायण मिश्र के गद्य के समान 'समास अनुप्रास में गुथे शब्द-गुच्छ' नहीं है। एक बार भाषा-शैली के काठिन्य को पार करने पर हमें उसके भीतर शुक्ल जी के स्पष्ट चिन्तन और प्रगल्भ भाव-विन्यास के विधान का अच्छा परिचय होता है और हम उनके गद्य में रस लेने लगते हैं। इसमें संदेह नहीं कि शुक्ल जी के निबंधों में भाषा और भाव की एक नई विभूति है और उसमें भाषा की एक नई गति-विधि के साथ आधुनिक जगत की विचार-धारा से उद्दीप्त नूतन भाव-भंगी के दर्शन होते हैं। उनके निबंध समास शैली में लिखे हुए ऐसे विचारात्मक निबंध हैं जिनमें बहुत ही चुस्त भाषा के भीतर एक पूरी अर्थ-परम्पर कसी है। यह भाषा-शैली ही शुक्ल जी का आदर्श है। वास्तव में सूर, तुलसी और जायसी पर लिखी व्यावहारिक आलोचनाओं में इसी भाषा-शैली का चमत्कार हमें दिखलाई पड़ता है। समर्थ कवियों और लेखकों के मूल्यांकन के लिए जैसी समर्थ, मनोवैज्ञानिक और साहित्यिक भाषा चाहिए वैसी शैली देने में शुक्ल जी अग्रगण्य रहे हैं।

संक्षेप में, हम शुक्ल जी की भाषा-शैली की विशेषताओं को इस प्रकार रख सकते हैं :

१- तत्सम शब्दों का विशेष प्रयोग

२- नए शब्दों का निर्माण, विशेषतयः परिभाषा और विवेचन के क्षेत्र में—जैसे प्रतिवर्तन, तुल्यानुराग, एकांतिक और लोकबद्ध-प्रेम, स्वायत्त

रक्षा की इच्छा और स्वनिरपेक्ष रक्षा की इच्छा, प्राप्ति की प्रतिषेधात्मक इच्छा आदि । शुक्ल जी के समय तक साहित्य-शास्त्र और मनोविज्ञान के क्षेत्र में हिन्दी के माध्यम से कुछ भी काम नहीं हो पाया था। इसीलिए उन्हें इन क्षेत्रों में अनेक पारिभाषिक शब्दों का निर्माण करना पड़ा। इन पारिभाषिक शब्दों ने उनकी भाषा-शैली को सामान्य जन के लिए कठिन बना दिया है।

३- विचार और तर्कवाद की सुगठित परम्परा जो सूत्रों के रूप में सामने आती है। तर्कवाद और विचार-परम्परा से कसी हुई यह अत्यंत चुस्त भाषा-शैली कभी-कभी दूर तक चली जाती है और अनेक वाक्य बोझल और दुरूह होने लगते हैं। इसमें संदेह नहीं कि शुक्ल जी ने बीच-बीच में, अथवा स्थान-स्थान पर भावुक प्रसंगों और हास-परिहास, वाग्वैचित्र्य एवं लोक-जीवन के उदाहरणों से ्रम का परिहार करना चाहा है, परन्तु समष्टि रूप में उनकी शैली विचारों की गहनता और तर्क-तारतम्य के कारण दुर्बोध-सी लगती है।

४- कभी-कभी शुक्ल जी एक ही वाक्य में चिंतन और मनन के लिए बहुत बड़ी सामग्री उपस्थित कर देते हैं, जैसे, 'जब तक प्रवृत्ति का यह व्यभिचार रहेगा, तब तक हम रूप-लोभी ही माने जाएंगे।' यहां प्रवृत्ति के व्यभिचार से सौन्दर्यासक्ति के कारण एकनिष्ठा का अभाव सूचित है। यहां 'व्यभिचार' शब्द रूढ़ार्थ में प्रयुक्त न हो कर धात्वार्थ को सूचित करता है। इसी प्रकार 'लोभ स्वविषयान्वेषी होने के कारण अपनी स्थिति और बृद्धि का आधार आप खड़ा करता है। इस वाक्य में अभिप्राय यह है कि लोभ के विषय की आसक्ति इतनी स्वतंत्र और पूर्ण है कि लोभी की सारी प्रवृत्तियां उसी में केन्द्रित हो जाती हैं। 'स्वविषयान्वेषी' शब्द में 'गागर में सागर' भर दिया गया है, परन्तु इससे भाषा-शैली में दुरूहता ही बनी है। कहीं-कहीं संदर्भ की पुष्टि में नए शब्द स्वतः ही आ गए हैं, जैसे विरोध-शून्यता के लिए 'अविरोध'। जहां शब्द किसी पश्चिमी शब्द का अर्थ-बोधक है, वहां शुक्ल जी उसे भी कोष्टकों में दे देते हैं जैसे ज्ञातृ-पक्ष और ज्ञेय-पक्ष (सब्जेक्टिव और आब्जेक्टिव के लिए)। शब्द-निर्माण के क्षेत्र में यह नवीनता शुक्ल जी की विशेषता है। उन्होंने मनोविज्ञान और साहित्य के क्षेत्र में हमारी शब्द-निधि का विस्तार ही किया।

: २५ :

आचार्य शुक्ल का प्रकृति-दर्शन

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के सैद्धांतिक निबंधों में 'काव्य में प्रकृति-चित्रण' शीर्षक निबन्ध का एक विशेष स्थान है। इसमें हमें उनकी स्थापनाओं का एक अत्यन्त मौलिक और सशक्त पहलू मिलता है। पश्चिम में भी काव्य में प्रकृति का स्वतन्त्र उपयोग बहुत बाद में १७६० ई० के लगभग हुआ और प्रकृति का संपूर्ण रूप से बंध-मोचन हम उन्नीसवीं शती के रोमांटिक काव्य में ही पाते हैं। उन्नीसवीं शताब्दी में ही इंगलैंड और यूरोप में इस विषय की चर्चा शुरू हुई परन्तु कदाचित जैसी सूक्ष्म और गम्भीर व्याख्या शुक्ल जी के इस निबन्ध में हमें मिलती है वैसी पश्चिम के समीक्षा-शास्त्र में भी नहीं मिलेगी। इसका कारण है। शुक्ल जी के समकालीन पंडित श्रीधर पाठक (१८७६-१९२६) ने ही हिन्दी-काव्य में प्रकृति का प्रवेश सबसे पहले कराया था और स्वयं शुक्ल जी ने अपने साहित्यिक जीवन का आरम्भ प्रकृति-प्रेम-परिचायक काव्य द्वारा किया था। उनका बाल और किशोर जीवन मिर्जापुर में बीता था और वे विन्ध्य पर्वत-माला की प्राकृतिक शोभा और उस प्रदेश की ऋतु-माधुरी से इतने प्रभावित थे कि प्रकृति-प्रेम उनके जीवन की एक प्रमुख प्रवृत्ति बन गया और वे जीवन के अन्त तक उस प्रेम को एक अमूल्य निधि की तरह संजोते

रहे। 'काव्य में रहस्यवाद', 'रस-मीमांसा', 'इतिहास' और स्फुट निबन्धों में, जहां भी सुविधा हुई, उन्होंने इस विषय को उठाकर अपने प्रकृति-प्रेम का परिचय दिया। 'हृदय का मधुर भार' शीर्षक उनकी लम्बी कविता तो इस विषय में क्रांतिकारी ही है। वास्तव में इसमें हमें वे सब सिद्धान्त बीज-रूप में मिल जाते हैं जिनके आधार पर यह निबन्ध खड़ा किया गया है। कवि शुक्ल जी कहते हैं :

एहो, बन, बंजर, कछार, हरे-भरे खेत।
विटप, विहंग, सुनो अपनी सुनावें हम।
छूटे तुम, तो भी चाह चित्त से न छूटी यह,
बसने तुम्हारे बीच फिर कभी आवें हम।
सड़े चले जा रहे हैं बंधे अपने ही बीच,
जो कुछ बचा है उसे बचा कहां पावें हम।
मूल रस-स्रोत हो हमारे वही, छोड़ तुम्हें,
सूखते हृदय सरसाने कहाँ जावें हम।
रूपों से तुम्हारे पले होंगे जो हृदय वे ही
मंगल की योगविधि पूरी पाल पावेंगे।
जोड़ के चराचर की सुख-सुखमा के साथ,
सुख को हमारे शोभा सृष्टि की बनावेंगे।
सुमन-विकास, मृदु आनन के हास, खग—
मृग के विलास बीच भेद को घटावेंगे।
वे ही इस मंहगे हमारे नर-जीवन का
कुछ उपयोग इस लोक में दिखावेंगे।
नर में नारायण की कला भासमान कर,
जीवन में वे ही दिव्य ज्योति सा जगावेंगे।
कूप से निकाल हमें छोड़ रूप सागर में,
भव की विभूतियों में भाव सा रमावेंगे।
वैसे तो न जाने कितने ही कुछ काल कला,
अपनी दिखाते अस्त होते चले जावेंगे।
जीने के हेतु तो बतावेंगे अनेक, पर
जिया किस हेतु जाय, वे ही बतलावेंगे।

यह स्पष्ट है कि इन पदों में ही शुक्ल जी ने पहले-पहल अपनी प्रकृति-सम्बन्धी अनभूति को वाणी में बांधना चाहा है। यहां भाव का स्वाभाविक

उन्मेष है, सिद्धान्तवादिता की वह रुक्षता और तर्कबद्धता नहीं है जो निबन्ध में आ जाती है। जिस बीजांकुर के इन पदों में दर्शन होते हैं, वही बाद में विशाल वट-वृक्ष के रूप में सामने आया है। वास्तव में मिर्ज़ापुर के एक दूसरे प्रसिद्ध साहित्यसेवी श्री बद्रीनारायण चौधरी 'प्रेमघन' शुक्ल जी से पहले ही इस क्षेत्र में मार्ग दिखा गए थे और 'आनन्द-कादम्बिनी' एवं 'नागरी नीरद' के पृष्ठों पर उन्होंने एक आन्दोलन ही चला दिया था कि वर्षा-मंगल के रूप में एक नए पर्व का आयोजन हो और वर्षा को ही प्रकृति-सुषमा की धात्री समझा जाए। वसन्त के ऋतुराजत्व से उनका विरोध था और विंध्यप्रदेश की प्राकृतिक सौन्दर्य-माधुरी को उन्होंने ही पहले-पहल काव्य में बांधा था। इस प्रकार शुक्ल जी का यह निबन्ध एक महत्वपूर्ण आधुनिक साहित्यिक आन्दोलन की पृष्ठभूमि पर ही हमारे सामने आता है। रवीन्द्रनाथ ठाकुर के बंगला-काव्य और पश्चिम के, विशेषतः अंग्रेजी के, रोमांटिक काव्य ने प्रकृति-सम्बन्धी दृष्टिकोण को और भी बल दिया और यह आवश्यकता आ पड़ी कि उसे रस दृष्टि से परखा जाए और काव्य में ग्रहीत प्रकृति के उपकरणों और रूपों की विशद व्याख्या उपस्थित की जाए।

शुक्ल जी के इस निबन्ध में भी हमें वैज्ञानिक तारतम्य नहीं मिलता परन्तु सिद्धान्तवाद के सभी पक्ष यहां-वहां बिखरे पड़े हैं। उन्हें एक सूत्र में गुंफित करके ही हम शुक्ल जी की विचारधारा को सम्यक् रूप दे सकते हैं। वास्तव में निबंध की सामग्री तीन भागों में सामने आई है: (१) प्रकृति-प्रेम की प्रवृत्तिमूलक अथवा मनोवैज्ञानिक व्याख्या (२) साहित्य में प्रयुक्त प्रकृति के अनेक रूपों की विवेचना और उनकी काव्योपयोगी व्याख्या (३) प्रकृति-सौन्दर्य के रसास्वादन के सम्बन्ध में विचार

इनमें से पहले और दूसरे के सम्बन्ध में कोई मतभेद नहीं हो सकता। वास्तव में प्रकृति-प्रेम की जैसी गम्भीर, प्रवृत्तिमूलक व्याख्या शुक्ल जी ने उपस्थित की है, वह अकाट्य और अपूर्व है और प्रकृति-सम्बन्धी काव्य को लेकर उनका काव्य-जगत का विश्लेषण भी विस्तृत और साभिप्राय है। परन्तु रसास्वादन की दृष्टि से उनकी व्याख्या मूलतः उनकी काव्य-सम्बन्धी सामान्य मान्यता से निःसृत है। आचार्य शुक्ल रसवादी हैं और वे प्राकृत काव्य को भी अभिधा की भूमि पर से ही स्वीकार करते हैं। स्वयं इस निबंध में उनके रसवादी साहित्यिक दृष्टिकोण का पता स्थान-स्थान पर लगता है, यह उनकी साहित्यिक-दृष्टि की सीमा है। इस पृष्ठभूमि को ध्यान में रखते हुए अब हम निबंध पर व्यापक रूप से विचार करेंगे।

आचार्य शुक्ल प्रकृति-प्रेम को वासना या संस्कार मानते हैं। उनका कहना है कि मानव-जीवन का विकास अनेकानेक पीढ़ियों तक वन्य और ग्रामीण प्रकृति के बीच में हुआ है और इस साहचर्य की एक अन्तः संज्ञावर्त्तिनी अव्यक्त स्मृति अब भी मानव-मन में शेष है। नागरिक जीवन के विकास से यह वासना धीरे-धीरे दब जाती है परन्तु फिर भी पार्कों आदि के रूप में मनुष्य अब भी इसी प्रवृति की बहुत कुछ रक्षा कर रहा है। आचार्य का कथन है कि प्रकृति के वन्य-ग्रामीण रूपों के प्रति हमारा जो आकर्षण है वह हमारे अन्तःकरण में निहित वासना के कारण ही है। इस प्रकार उनके अनुसार प्रकृति-प्रेम नागरिक जीवन का विरोध मात्र नहीं है, उसकी भित्ति बहुत गहरी है और वह मानव-स्वभाव या संस्कारों के भीतर है।

इस मूल स्थापना से आगे बढ़कर आचार्य प्रकृति-प्रेम की प्रवृति को दो भागों में बाँट देते हैं:

(क) जिसमें सच्ची सहृदयता का विकास है और जो संस्कारजन्य है। उसमें असाधारणत्व को स्थान नहीं मिल पाता। वनों-पर्वतों, नदी-नालों, कछारों, पटपरों, खेतों, हल-बैलों, झोपड़ों और वनचरों के प्रति हमारी स्वाभाविक संवेदना का विकास इसी प्रवृति के कारण है। इसे वे काव्य के लिए उपादेय और सुन्दर मानते हैं।

(ख) जिसमें असाधारणत्व का प्राधान्य हो—उसे वह नागरिक-रुचि कहते हैं। इसमें प्रवृति के प्रति प्रवृतिजन्य अनुराग नहीं मिलता, तमाशबीनी की भावना ही अधिक रहती हैं। इसे शुक्ल जी विकृत दृष्टिकोण ही मानते हैं।

शुक्ल जी ने सम्पूर्ण भारतीय साहित्य में कवि की प्रकृति-सम्बन्धी दृष्टि की ऐतिहासिक खोज भी उपस्थित की है और उन्होंने वहां भी यही दो दृष्टि-कोण पाए हैं। पहला दृष्टिकोण उन्हें आदि काव्य में परिपूर्ण रूप में मिलता है, परन्तु महाकाव्यों और मुक्तकों के विकास के साथ अलंकृति की प्रधानता हो जाती है और मूल संस्कारी भावना का स्थान असाधारणत्व-सन्निविष्ठ चमत्कार-दृष्टि ले लेती है। परवर्ती युगों की भारतीय मनीषा दर्शन, धर्म, रहस्य और नायिकाभेद (शृंगार) में उलझ कर रह जाती है और आधुनिक काव्य के आरम्भ तक हम प्रकृति के स्वतन्त्र रूप की सत्ता काव्य में नहीं पाते।

साहित्य-क्षेत्र में प्रकृति का प्रयोग अनेक रूपों में हुआ। महाकाव्यों, खण्ड-काव्यों और कथा-काव्यों में प्रसंग-प्राप्त रूप मे या पृष्ठभूमि के रूप में

अथवा पटभूमि की भांति प्रकृति का उपयोग हुआ है। शुक्ल जी इस प्रकार के प्रकृति-चित्रण को बड़ा श्रेय देते हैं परन्तु उनका कहना है कि प्रसंग-प्राप्त साधारण-असाधारण सभी वस्तुओं का वर्णन हो और वह वर्णन विशद, संश्लिष्ट और सम्पूर्ण हो, केवल नामोल्लेख मात्र नहीं हो।

प्रकृति-वर्णन का एक दूसरा व्यापक क्षेत्र आलंबन है। यहाँ प्रकृति हमारे भावों के आलम्बन या उद्दीपन रूप में सामने आती है। शुक्ल जी का कहना है कि इस प्रकार के वर्णन की परम्परा हमें कालिदास के ऋतुसंहार से मिल जाती है और आरम्भ में हमें इस क्षेत्र में सूक्ष्म ब्यौरे और संश्लिष्ट चित्र मिलते हैं, परन्तु बाद में इस प्रकार के ऋतुवर्णन सम्बन्धी पद लोक-गीतों या गेय पदों के रूप में लिखे जाने लगे और उनमें निरीक्षण का अंश कम और परंपरा का अंश अधिक होने लगा। हिन्दी में बारहमासे और षट्ऋतु-वर्णन की जो परंपरा है वह इसी परंपरा का विकास है। बाद में इसी परंपरा के अंतर्गत उपमा-उत्प्रेक्षा से भरी हुई अलंकार-योजना का विकास हुआ और कवि-सम्मेलनों के अखाड़ों में ऐसी रचनाएं प्रसिद्ध हुईं जो चमत्कारपूर्ण कल्पना या ऊहा पर आश्रित थीं। संस्कृत-साहित्य में माघ का काव्य इसी प्रकार की अलंकृति की प्रवृति का उदाहरण है। एक ओर कवि-रूढ़ि और परंपरा से ग्रहीत नामोल्लेख ही प्रकृति-वर्णन समझ लिया गया और दूसरी ओर कवि-कल्पना टेढ़ी-मेढ़ी समस्या को आश्रित बनाकर अद्भुत उक्तियाँ उपस्थित करने लगी।

आचार्य ने पाश्चात्य काव्य-समीक्षकों के अनुसार भी प्रकृति-वर्णन का विश्लेषण उपस्थित किया है। उनके अनुसार वर्णन के दो पक्ष हैं: ज्ञेय-पक्ष या विषय-पक्ष। जिसमें प्रकृति का यथातथ्य वस्तुपरक चित्र उपस्थित किया जाता है और दूसरा ज्ञातृ-पक्ष अथवा विषयी-पक्ष। जिसमें उन वस्तुओं से चित्त में उत्पन्न भाव या आभास का चित्र खींचा जाता है। एक तीसरा पक्ष भी है जिसे अंग्रेजी में पैथेटिक (फैलिसी)—भावाक्षिप्त वर्णन कहते हैं। इसमें द्रष्टा दृश्य पर अपनी भावना का आरोप करता है और उसे अपनी चित्त वृत्तियों के रंग में रंग कर देखता है। इन तीनों के अनेक भेद-प्रभेद भी बताए गए हैं। ज्ञेय पक्ष वाला वर्णन नामोल्लेख मात्र हो सकता है, अथवा संश्लिष्ट अथवा अलंकृत (अलंकार-प्रधान)। ज्ञातृ-पक्ष के दो भेद हैं। द्रष्टा की भावना या तो सीधे भाव-वाच्य द्वारा प्रगट हो सकती है या गुणीभूत व्यंग द्वारा। पहले को भावमय और दूसरे को अपरवस्तुमय कहा गया है। इस दूसरी कोटि के दो भेद हो सकते है। जहां सौन्दर्य की व्यंजना अथवा भाव

की तीव्रता ही इष्ट है वहां काव्य-तत्वों पर ही दृष्टि जाती है, परन्तु जहां धर्म-नीति पर कवि की दृष्टि है, वहां वह ऐसे द्वितीय व्यापार की योजना करता है जिससे सृष्टि के बीच में वह गोचर प्रतिरूप दिखला सके। तुलसी की प्रकृति-सूक्तियाँ (देखिए, वर्षा-शरद् वर्णन) इसी अन्तिम कोटि के अन्तर्गत आती हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि शुक्ल जी ने प्रकृति-वर्णन को पूर्वी-पश्चिमी समीक्षा के अनुसार परखा है और उसके भेद-प्रभेद स्थापित किए हैं। अपनी विश्लेषण-बुद्धि के द्वारा वे इस विषय को व्यापक ढंग से उपस्थित कर सके हैं। उन्होंने पूर्वी-पश्चिमी काव्य को इस विश्लेषण के समय अपने सामने रखा है और इस प्रकार काव्य में प्रकृति-चित्रण के सम्बन्ध में जितनी उद्भावनाएं सम्भव थीं, वे हमें इस निबन्ध में मिल जाती हैं। शुक्ल जी सभी प्रकार के प्रकृति-वर्णन को श्रेय देते हैं। वे संश्लिष्ट वर्णन को पसन्द करते हैं और गुणीभूत व्यंग द्वारा अपर वस्तुमय चित्रण के दोनों रूप उन्हें प्रिय हैं। यद्यपि वे सौन्दर्यमूलक व्यंजना को नीति-धर्मसूलक व्यंजना से अधिक उत्कृष्ट और अधिक काव्योपयोगी मानते हैं। भावारोपमूलक चित्रण के अनेक उदाहरण उन्होंने आदि-काव्य में ढूंढ लिए हैं और वे इस कोटि के चित्रण को भी श्रेष्ठ ढंग का चित्रण मानते हैं। ज्ञेय पक्ष के नामोल्लेख मात्र या अलंकृत चित्रण को वे पसन्द नहीं करते। इसी प्रकार ज्ञातृ पक्ष के भाव-वाच्य प्रधान चित्रण को भी वे अधिक काव्योपयोगी नहीं मानते।

शुक्ल जी की सबसे महत्वपूर्ण स्थापना प्रकृति-काव्य के रसास्वादन के सम्बन्ध में हैं। उनका कहना है कि यह रसास्वादन अभिधामूलक है और आलम्बन के अन्तर्गत आता है। उनके मतानुसार अधिकांश संश्लिष्ट चित्र आलम्बन के अन्तर्गत आते हैं और आलम्बन मात्र के रसानुभव के द्वारा ही उनकी उपलब्धि होती है। रस के संयोजक अवयव चार हैं: स्थायी भाव, विभाव (आलम्बन-उद्दीपन), अनुभाव और संचारी भाव। परन्तु अनुभावों के लिए 'आश्रय' की भी कल्पना आवश्यक है। यह 'आश्रय' खण्ड-काव्य (कथा-काव्य) और नाटक का विषय है। मुक्तक काव्य का वह विषय नहीं है। फलतः मुक्तक-काव्य में रसानुभूति इन चार संयोजकों के द्वारा नहीं होगी, इसके लिए साहित्याचार्यों ने 'व्यंजना' द्वारा रसानुभूति की कल्पना की है। शुक्ल जी प्रकृति-वर्णन को अभिधामूलक मानते हैं। अतः वह 'आक्षेप' के द्वारा उसकी रसानुभूति की कल्पना करते हैं। उन्होंने रस के चारों संयोजकों से पुष्ट प्रकृति-वर्णन के उदाहरण भी दिए हैं। परन्तु सभी

वर्णनों में चारों अंग नहीं रह सकते। इस सम्बन्ध में उनका कथन है कि आलम्बन के विस्तार के कारण भावानुभव भी 'रस' की कोटि ग्रहण कर लेता है। उन्होंने शृंगार रस के नायिका-भेद सम्बन्धी मुक्तकों का उदाहरण देकर इस सिद्धान्त की पुष्टि करना चाही है।

परन्तु यहाँ सभी विचारक सहमत नहीं हो सकते। एक तो यह कहना कि प्रकृति-काव्य अभिधामूलक ही हो, उसकी काव्यगत व्यायक सत्ता को छोटा करना है। रसवादी होने के कारण शुक्ल जी अभिधाग्रही हैं। वे व्यंजना-मूलक एवं अलंकृति-प्रधान काव्य को विशेष महत्व नहीं देते। परन्तु प्रकृति काव्य के ये दोनों रूप भी हमें श्रेष्ठ काव्य दे सके हैं, इसमें सन्देह नहीं। वास्तव में अभिधामूलक प्रकृति-काव्य प्रस्तुत रूप में शुद्ध प्रकृति वर्णन मात्र ही है। इसमें प्रकृति ज्यों-की-त्यों सामने आती है। न उसमें किसी प्रकार का परिवर्तन होता है और न कवि के हृदय के भाव का आक्षेप। हरिऔध जी के 'प्रिय-प्रवास' में इस प्रकार के अनेक सुन्दर वर्णन हैं। परन्तु अधिकाँश आधुनिक काव्य में भावाक्षिप्त या अलंकृत रूप में ही प्रकृति का वर्णन हुआ है और इस वर्णन की काव्योपयोगिता में अविश्वास नहीं किया जा सकता। प्रसाद के काव्य में हमें इसी प्रकार के चित्र मिलते हैं :

(१) चपला की व्याकुलता लेकर
चातक का ले करुण विलाप,
तारा-आसू पोंछ गगन के
रोते हो किस दुख में आप।

(प्रस्तुत वर्णन : भावाक्षिप्त रूप में)

(२) धरा पर झुकी प्रार्थना-सदृश मधुर मुरली सी फिर भी मौन,
किसी अज्ञात विश्व की विकल वेदना-दूती सी तुम कौन।

('किरण' : अलंकृत वर्णन)

सुदिनमणि-वलय-विभूषित उषा-
सुन्दरी के कर का संकेत,
कर रही हो तुम किसको मधुर,
किसे दिखलातीं प्रेम-निकेत।

(दुहरे रूपक का प्रयोग)

अप्रस्तुत रूप में उद्दीपन विभाव के अंतर्गत प्रकृति का बड़ा सुन्दर और व्यापक प्रयोग 'आंसू' में हुआ है। कवि प्रकृति पर अपने भाव का आरोप ही नहीं करता, वह उसे अपनी ही भाँति व्यथित, चकित, चमत्कृत देखता है।

जायसी में भी हम इसी प्रकार की चमत्कृत दृष्टि देखते हैं। प्रकृति में तादात्म्यता की यह अनुभूति उसे मानवीयता प्रदान करती है और जीवन की एक व्यापक अनुभूति हमें देती है। कवि कहता है :

चातक की चकित पुकारें,
श्यामा-ध्वनि सरल रसीली,
मेरी करुणार्द्र कथा की
टुकड़ी आँसू से ीली।

यहां हमें सारी प्रकृति कवि की भाँति ही दुख में डूबी हुई दिखलाई देती है और यह व्यापक योजना प्रकृति को बड़ा मार्मिक रूप दे देती है।

इसमें संदेह नहीं कि केवल अलंकृति की भावना प्रकृति-वर्णन को अस्वाभाविक बना देती है परन्तु कहीं-कहीं अलंकार-विधान के भीतर से प्रकृति का बहुत सुन्दर रूप सामने आता है अथवा प्रकृति-सौन्दर्य के माध्यम से प्रसंगप्राप्त दृश्य, रूप अथवा वस्तु की रमणीयता बहुत अधिक बढ़ जाती है। ऐसे स्थलों पर अलंकार लाँक्षा का विषय नहीं हो सकता। प्रसाद के साहित्य में इस प्रकार के सुन्दर अलंकार-विधान हमें मिलेंगे, जैसे जागने पर प्रिय-मुख-दर्शन का वर्णन करते हुए कवि कहता है :

परिरंभ-कुंभ की मदिरा,
निश्वास-मलय के झोके,
मुख-चन्द्र चान्दनी-जल से
में उठता था मुंह धो के

यहाँ मुख को कवि ने केवल चन्द्रमा ही नहीं माना है, उसने उसकी उज्ज्वलता को चांदनी कहा है और फिर इस उज्ज्वल चांदनी से मुंह धोने की बात है। यहां वर्ण्य विषय इस प्रकार के अलंकार-विधान से और भी सुन्दर हो गया है। इसी प्रकार अगोचर भावों को गोचर बनाने के लिए भी कवि प्रकृति का उपयोग कर सकता है। प्रसाद 'आँसू' में ही मन में सुख-दुख की सामीप्य-स्थिति का वर्णन करते हुए जब कहते हैं :

लिपटे सोते थे मन में
सुख-दुःख दोनों ही ऐसे,
चन्द्रिका-अन्धेरी मिलती
मालती-कुंज में जैसे।

तो वे एक नए सौन्दर्य को अनावृत करते हैं। उसी प्रकार जब कवि अपनी व्यथा का आकाश गंगा पर आरोप करता है :

क्यों व्यथित व्योम-गंगा सी
छिटका कर दोनों छोरें
चेतना-तरंगिनि मेरी
लेती है मृदुल हिलोरें।

तो भावों के इस अभिनव प्रसार से प्रकृति की चित्रपटी भी कुछ और मनोरम हो उठती है। इन प्रसंगों में प्रकृति के ऐसे रूप हमारे सामने आते हैं, जो शुद्ध प्रकृति-रूप नहीं कहे जा सकते। परन्तु उनकी मनोरमता में सन्देह नहीं किया जा सकता।

संक्षेप में हम यह कह सकते हैं कि प्रकृति-चित्रण के सैद्धान्तिक, विश्लेषणात्मक और रसास्वादन सम्बन्धी विवेचन का जो रूप इस निबन्ध में हमें मिलता है, वह बहुत कुछ पूर्ण है, केवल रसास्वादन वाले अंश से मतभेद हो सकता है। शुक्ल जी की रसवादी दृष्टि ने लक्षणा और व्यंजना के भीतर से पुष्ट प्रकृति की अलंकृत सज्जा और भावाक्षिप्त योजना को नहीं पकड़ा है और छायावादी (रोमांटिक) काव्य का बहुत सा प्रकृति-चित्रण उनके सिद्धान्तों में सिमट नहीं पाता। परन्तु फिर भी उनके दृष्टिकोण में ऐसी व्यापकता है जो प्रकृति के अनेक रूपों को आत्मसात कर लेती है। उसकी संकीर्णता का कारण शुक्ल जी की अभिधावादी रस-दृष्टि है, जो लाक्षणिक कल्पना-विधान और प्रकृति रूपों की मधुमती योजना को अस्वीकार कर देती है और उसमें कवि की अन्तर्प्रकृति का समन्वय नहीं देख पाती।

: २६ :

प्रेमचन्द-युग में सामाजिक यथार्थ के बदलते रूप

प्रेमचन्द-युग (१९१६-१९३६) के उपन्यास-साहित्य में हमें इन दो दशकों के राजनैतिक और सामाजिक जीवन का सम्पूर्ण आकलन दिखलाई देता है। साहित्य समय और समाज का प्रतिबिंब है और उसमें युग-मानस की स्पष्ट झांकी मिलती है। फिर साहित्य के सभी अंगों में उपन्यास ऐसा अंग है, जिसका 'खाद्य-मधु' ही जीवन है, कल्पित जीवन नहीं, न सुदूर युगों का जीवन, वरन् यथार्थ वस्तु-स्थितियों में बंधा सामाजिक प्राणियों का दैनन्दिन जीवन। फलतः उपन्यासों में वर्णित या प्रतिबिंबित जीवन के द्वारा हम समसामयिक युग के जीवन की बदलती स्थितियों से परिचित हो सकते हैं। प्रेमचन्द-युग के उपन्यास-साहित्य के सम्बन्ध में यह बात और भी सच है, इसलिए कि प्रेमचन्द के युग में ही, कदाचित प्रथम बार स्वयं प्रेमचन्द द्वारा, जीवन के यथार्थ से उपन्यास का सम्बन्ध जुड़ा था और धीरे-धीरे उसके प्रति उपन्यासकारों का आग्रह बढ़ता ही गया।

प्रेमचन्द से पहले हिन्दी उपन्यास की भूमि कल्पना और रोमांस की भूमि थी, फिर उसे चाहे सामयिक जीवन का आधार देकर उपस्थित किया गया हो, या ऐतिहासिक कथा अथवा चरित्रों पर उसकी नींव रखी गई हो। इसमें सन्देह नहीं कि एक प्रकार का आदर्शवाद भी हिन्दी उपन्यास में पहले से

जुड़ गया था और हिन्दी के पहले उपन्यास 'परीक्षा-गुरु' (१८८३ ई०) में ही वेश्या-जीवन की पृष्ठ-भूमि पर एक पथ-भ्रष्ट नवयुवक के सुधार की आदर्शात्मक गाथा उपस्थित की गई थी। परन्तु इस सुधारवाद में कला का योग नहीं था और आदर्शवादी पट इतना मोटा था कि अपारदर्शक बन गया था। प्रेमचन्द के युग में इस सुधारवादी दृष्टिकोण को सूक्ष्म और कलात्मक बना लिया गया और उसमें कोरा आदर्शवाद नहीं रह गया। इस आदर्शवाद को एक ओर बुद्धिवाद से पुष्ट किया गया और दूसरी ओर उसे यथार्थोन्मुख बनाया गया। प्रेमचन्द ने अपने औपन्यासिक दृष्टिकोण को 'आदर्शोन्मुख यथार्थ' कहा है। आदर्श और यथार्थ का यह नया सम्बंध प्रेमचंद के उपन्यासों में खूब निभा, यद्यपि प्रेमचंद के अन्तिम उपन्यास "गोदान" में यथार्थ की विजय है और आदर्श नई और कटु वस्तु-स्थितियों की चोट से टकरा कर चकनाचूर हो गया है। जो हो, इन दो दशकों के उपन्यास-साहित्य में हमें सामाजिक यथार्थ के अनेकानेक बदलते हुए रूप मिलते हैं और उनके अध्ययन से हमें हिंदी के उपन्यासकारों की गंभीर सामाजिक चिंता और सूक्ष्म पर्यवेक्षण-शक्ति का पता चलता है।

हिन्दी का उपन्यास नारी समाज के महत्वपूर्ण प्रश्नों को लेकर ही क्षेत्र में आया। समाज-सुधार की भावना उसका मेरु-दण्ड थी। वृद्ध-विवाह, बाल-विवाह, दहेज, वेश्यागमन और हिंदू-मुसलिम-वैमनस्य आरम्भ से ही हिंदी उपन्यासकारों के विषय बन गये। प्रेमचन्द का पहला महत्वपूर्ण उपन्यास 'सेवासदन' प्रकारान्तर से 'परीक्षागुरु' और 'सौ अजान एक सुजान' की समस्या (वेश्या-जीवन) को ही उपस्थित करता है। प्रेमचंद के एक समसामयिक

'साहित्य और समाज तथा राजनीति का संबंध अटल है। समाज आदमियों के समूह को ही तो कहते हैं। समाज में जो हानि-लाभ तथा सुख-दुःख होता है, वह आदमियों पर ही होता है न। राजनीति में जो सुख-दुःख होता है, वह आदमियों पर ही पड़ता है। साहित्य से लोगों को विकास मिलता है। साहित्य से आदमी की भावनाएं अच्छी और बुरी बनती हैं। इन्हीं भावनाओं को लेकर आदमी जीता है।

(प्रेमचन्द : घर में पृ०६१)

और भी, देखिये प्रेमचन्द का निबंध 'जीवन में साहित्य का स्थान'।

(कुछ विचार, पृ० ८०-८६)

'उपन्यास" (कुछ विचार, पृ० ३४)

विश्वम्भरनाथ कौशिक ने 'मा' (१६२६) लिखकर एक वृहद् उपन्यास के रूप में 'सेवासदन' की समस्या को ही फिर उठाया। यद्यपि मा के द्विविध रूपों और पारिवारिक स्थितियों का भी उसमें चित्रण है। प्रेमचंद के उपन्यासों में अनमेल विवाह के अनेक प्रसंग आते हैं और 'निर्मला' (१६२३) का तो केन्द्र-विन्दु ही अनमेल-विवाह और दहेज की समस्या है। इस समस्या से प्रेमचंद व्यक्तिगत रूप से परिचित थे। हिंदू-मुसलिम समस्या भी उनके उपन्यासों में कई बार आई है। प्रेमाश्रम' (१६२२), रंगभूमि (१६२४), और 'कायाकल्प' (१६२८) में प्रेमचंद इस समस्या के कई पहलुओं को उपस्थित करते हैं। यहां भी वे उदारता और सहिष्णुता के समझौते वाले मार्ग को सामने रखते हैं, समस्या की राजनैतिक और अर्थनैतिक भूमि उनके सामने नहीं है। समाज के भीतर के अनेक वर्गों को भी प्रेमचंद ने व्यापक रूप से देखा है और जमींदार-किसान, सूदखोर, महाजन और निर्धन-कर्जदार श्रमिक महाजनी संस्कृति के पादपीठ पंडे-पुरोहित और स्थितिहीन वर्गों में भूमिहीन खेतहर और भिखारी-वर्ग भी सामने आते हैं। जयशंकर प्रसाद के 'कंकाल' में समाज-वहिर्भूत कंजर-गूजर आदि वर्गो का विशद चित्रण है और 'कर्मभूमि में प्रेमचंद अमरकांत को एक ऐसे गांव में ले जाते हैं जहां ढोरों के चमड़े उतारने वाले चमार रहते हैं। प्रेमचंद ने पूंजीपति-मजदूर के संघर्ष की आवाज भी उठाई है और 'गोदान' में खन्ना की मिल की हड़ताल को लेकर उन्होंने इस संघर्ष में मजदूर का पक्ष ग्रहण किया है, परन्तु वे ग्रामीण पूर्वग्रह और राष्ट्रीय आन्दोलन के चित्रण की व्यस्तता के कारण इस दिशा में आगे नहीं बढ़ सके। वास्तव में वर्गवाद स्पष्टतः १६२८ के बाद ही सामने आता है और १६३६ तक पूंजीपति-मजदूर-संघर्ष की साहित्यिक भूमि तैयार नहीं हो पाई है। स्वयं प्रेमचंद ने 'मजदूर' चित्रपट में इस नई समस्या को उठाया और संभवतः 'मंगल-सूत्र' के अलिखित अंश में वह इसे फिर उठाते।

वेश्या-सम्बन्धी औपन्यासिक दृष्टिकोण का क्रमशः विस्तार हमें 'मंच' (राजेश्वर प्रशाद, १६२८), 'वेश्यापुत्र' (ऋषभचरण जैन, १६२६), 'पाप और पुण्य' (प्रफुल्लचंद ओझा १६३०), 'पतिता की साधना' (भगवतीप्रसाद वाजपेयी, १६३६) 'अप्सरा' (निराला, १६३१) 'वेश्या का हृदय' (धनीराम प्रेम, १६३३) में दिखलाई देता है।

इस विषय पर अन्य रचनाएं है 'क्षमा' (श्रीनाथसिंह, १६२५)'

आलोच्य युग में उपन्यासों की सामाजिक चिन्ता का एक बड़ा भाग नारी-जीवन की विषमताओं और उसके विभिन्न प्रतिबन्धों से सम्बन्धित हैं। विधवा, दोहाजू, दहेज, वेश्या, बाल-विवाह, वृद्ध-विवाह—ये कुछ प्रमुख समस्याएं हैं, जिनसे हिन्दी उपन्यास प्रारम्भ से ही परिचित है। श्रीनिवासदास, बालकृष्ण भट्ट और राधाकृष्णदास पहले भी इन समस्याओं को अपना विषय बना चुके थे, परन्तु प्रेमचन्द के द्वारा इन समस्याओं को विस्तृत और गम्भीर चिंतन-भूमि मिली और उनके चित्रण भी रोमाँसमूलक न होकर वस्तुनिष्ठ और अपेक्षाकृत व्यापक थे। इन सभी विषयों पर प्रेमचन्द और उनके समसामयिक उपन्यासकारों ने व्यापक दृष्टि से विचार किया है। प्रेमचन्द ने जहां काठिन्य को अपनाया और सामाजिक प्रश्नों पर शरतचन्द्र की भावुक दृष्टि को बचाया, वहां कलाकारों का एक वर्ग शरतचन्द्र की रचनाओं

'मीठी चुटकी' (भगवतीप्रसाद वाजपेयी, १९२७), अनाथ पत्नी (भगवती प्रसाद वाजपेयी, १९२८) और 'तलाक' (प्रफुल्लचन्द ओझा, १९३२)

ग्रामीण जीवन सम्बन्धी अन्य दृष्टिकोण एवं चित्रण निम्नलिखित उपन्यासों में मिलेंगे : रामलाल (मन्नन द्विवेदी, १९२१); देहाती दुनिया (शिवपूजन सहाय, १९२६), तितली (प्रसाद, १९३४) और गोदान (प्रेमचंद १९३६)

धार्मिक दंभ और आचार की पोल के लिये गंगाप्रसाद श्रीवास्तव की रचना 'स्वामी चौपटानन्द' (१९३६) और कर्मभूमि (प्रेमचंद, १९३२) एवं 'तितली' (प्रसाद, १९३४) के कुछ दृश्य महत्वपूर्ण हैं।

नारी के त्यागमय जीवन की गाथा 'त्यागमयी' (भगवतीप्रसाद वाजपेयी, १९३२), 'नारी हृदय' (शिवरानी देवी १९३२); मदारी (गोविन्द वल्लभ पंत, १९३६) और 'वचन का मोल' (उषादेवी मित्रा, १९३६) में अवलोकनीय है।

विधवा की समस्या अनेक अन्य उपन्यासों का भी विषय है, जैसे 'हृदय का कांटा' (तेजरानी दीक्षित; १९२८) 'प्रतिज्ञा' (प्रेमचद १९२८) 'विधवा के पत्र' (चन्द्रशेखर शास्त्री, १९३३) चतुरसेन शास्त्री के तीन उपन्यास 'अमर अभिलाषा' (१९३३), 'आत्मदाह'(१९३६) और 'नीलमणि' (१९४०) एवं जैनेन्द्र का प्रसिद्ध उपन्यास 'परख' (१९३०)।

देखिये 'प्रेम की भेंट' (वृंदावनलाल वर्मा, १९३१) और कुण्डलीचक्र (वही, १९३२)

को आदर्श बना कर चला और उसमें काठिन्य के स्थान पर करुणा और गलिदाश्रुता का प्राधान्य रहा। 'तपोभूमि' 'परख' और जैनेन्द्र के परवर्त्ती उपन्यासों में यही शरतचंद्रीय भावुकता हमें मिलती है। एक प्रकृतवादी दल भी इस युग में विकसित हुआ जो नग्न चित्रण को भाषा-शैली की रंगीनी में रंग कर उपस्थित करता था और जुगुप्सा एवं यौन-आकर्षणमूलक आत्म-घाती प्रवंचना को विशेष प्रश्रय देता था। चतुरसेन शास्त्री, ऋषभचरण जैन और उग्र के नारी-जीवन विषयक उपन्यास इसी कोटि में आते हैं। यहां समस्याएं थीं, वह भी बड़े आकर्षक रूप में, जैसे स्वयं कलाकार उन गर्हित प्रसंगों में रस लेता हो, समाधान यहां नहीं था। वास्तव में इन उपन्यासों की बौद्धिक भूमि शिथिल है और भाषा-शैली की कलाकारिता, ओज और सौन्दर्यनिष्ठा के माध्यम से उपन्यास को आकर्षक बनाया गया है।

इन सामाजिक प्रश्नों के साथ एक मूल प्रश्न भी था : स्वच्छंद प्रेम की समस्या। यह प्रश्न जाति-वर्ण-व्यवस्था पर सीधा प्रहार करता था। उपन्यास-कारों ने इस प्रश्न को उठाया, पर वे सामाजिक विद्रोह की भूमि तक नहीं उठ सके। फलतः हत्याओं और आत्मघातों के द्वारा एक प्रकार के समाधान को उपस्थित किया गया। 'रंगभूमि' में प्रेमचन्द इसीलिए सोफिया का बलिदान कर देते हैं और 'कर्मभूमि' में सकीना के आकस्मिक परिवर्तन से उसके चरित्र को गिरा देते हैं। 'गढ़-कुण्डार' की सारी संघर्ष-भूमि ही इस समस्या को ऐतिहासिक पृष्ठभूमि पर उभारती है और उसका दुखांत ही इस युग के उपन्यासों की दुर्बल मनोस्थिति का सूचक है जो क्रांति के पथ पर बढ़ने से बार-बार हिचकती है। आलोच्य युग का उपन्यास मध्यवित्तीय मनो-भावना का श्रेष्ठ प्रतिविम्ब है, जो क्रांति का दावा करके भी सुधार पर अटक जाती है। १९३०-१९३२ के आन्दोलन ने नारी को जीवन के खुले प्रांगण में ला खड़ा किया और वह पथ की दावेदार बनकर सामने आई। घर और बाहर की समस्या उठ खड़ी हुई और कौटुम्बिक शांति और देश-सेवा का संघर्ष सामने आया। फलतः विवाह के बन्धनों के प्रति विद्रोह का आभास मिला। रवि बाबू के 'घरे-बाहरे' में इस समस्या का एक रूप उपन्यास-जगत के सामने था। इस युग के अन्त में हम जैनेन्द्र को 'सुनीता' के रूप में ऐसी ही एक समस्या पर विचार करते पाते हैं : यहां पतिनिष्ठा के बल पर नारी बाहर के आह्वान के आकर्षण से बच निकलती है। हरि-प्रसन्न स्वयं अपने भीतर टटोल कर देखता है और आत्मग्लानि से पीड़ित होकर पलायन कर जाता है। परन्तु यह जीत भी आदर्शवाद की जीत है। उसमें नारी का

प्रकृति विजयोल्लास नहीं है। एक बार फिर समाज की कड़ी भूमि के आगे लेखक का तेज कुंठित हो गया है।

इसी समय के लगभग नई नारी का उदय होता है और वह अपने साथ उपन्यास-जगत में नई समस्याएं लाती हैं। परन्तु अभी उसके दर्शन विरल ही हैं। 'गोदान' का नागरिक जीवन वाला अंश इस समस्या को विशेष आग्रह से उपस्थित करता है। वैसे प्रतापनारायण श्रीवास्तव के 'विदा' उपन्यास में अभिजात्य वर्ग के चित्रण में नई नारी पहली बार आ चुकी थी। वास्तव में समस्त युग के कथा साहित्य में नए-पुराने का द्वन्द है और यह द्वन्द नारी के पुराने और नये आदर्शों को केन्द्र बना कर उपस्थित हुआ है। उपन्यासकारों के पूर्वग्रह के कारण नई नारी बराबर पराजित हुई है और रानी जाह्नवी, धनिया और इन्दु जैसी भारतीय आदर्श-निष्ठ नारियाँ बराबर जीती हैं। फिर भी यह स्पष्ट है कि हमारे उपन्यासकारों ने नई नारी के दृष्टिकोण को सहानुभूति से देखा है और उसकी समस्याओं को आर्थिक और सांस्कृतिक पृष्ठभूमि देनी चाही है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि जहां एक ओर आलोच्य-युग का हिंदी उपन्यासकार नारी-जीवन के प्रति एक प्रगतिशील और क्रांतिकारी दृष्टिकोण ले कर चलता है और उसके युग-पुराचीन बंधनों के विरुद्ध हमें संवेदित करता है, वहां वह सतीत्व की प्राचीरों में बंधा है। नारी की नई उन्मुक्ति को वह संदेह की दृष्टि से देखता है और गृहलक्ष्मी का आदर्श उसके सामने रखता है। यह द्विधा आज भी लगभग उसी तरह बनी हुई है और हमारी चिरप्रथित सामाजिक अगति की सूचक है।

पुरुष-जीवन की सामाजिक समस्यायें विवाह और प्रेम, घर और बाहर तथा नए और पुराने को लेकर विकसित हुई हैं। नारी की समस्याओं में ये समस्याएं बहुत कुछ समाहित हो गई हैं और इनका स्वतन्त्र रूप हमें अधिक दिखलाई नहीं देता। अवैध-प्रेम और स्वजाति-रति जैसी समस्याएं हमारे उपन्यासकारों ने नहीं उठाई हैं, परन्तु जहां सामाजिक-समस्याएं सामने आई हैं, वहां किंकर्तव्य-स्थिति और आत्मघाती वेदना का वह रूप हमारे सामने नहीं आता जो शरदचन्द्र के 'देवदास' और 'गृहदाह' जैसे उपन्यासों का विषय है। हिंदी की भूमि कुछ अधिक कठोर है और उसमें चुनौती का स्वर अधिक मुखर और सशक्त है।

सामाजिक अनाचार का एक भयावह रूप अछूत समस्या को लेकर सामने आता है। गांधी जी के हरिजन-आन्दोलन ने उपन्यासकारों का

ध्यान इस ओर आकर्षित किया और लगभग उसी समय हम प्रेमचन्द को 'कर्मभूमि' में अछूतों की समस्या को उठाता पाते हैं। परंतु हरिजन-आन्दोलन जहां मन्दिर-प्रवेश आन्दोलन तक सीमित रह जाता है, वहाँ प्रेमचंद आगे बढ़कर चमारों के एक गांव के आभ्यंतरिक सुधार की तह की समस्या तक पहुंचते हैं। इस प्रकार उपन्यास समसामयिक जीवन से आगे बढ़ जाता है और मौलिक समाधानों को उपस्थित करने का श्रेय प्राप्त करता है। इस एक रचना में उपन्यासकार समाज के पीछे चलने वाली इकाई न होकर सतत आगे बढ़ने वाला दीप-स्तम्भ बन जाता है। सामाजिक अनाचार के कुछ अन्य रूप हमें 'गंगा-जमुनी' (गंगाप्रसाद श्रीवास्तव, १९२७), 'हृदय की परख' (चतुरसेन शास्त्री, १९१८), 'व्यभिचार' (वही, १९२८), 'दिल्ली का दलाल' (उग्र, १९२७), 'बुधुवा की बेटी' (वही, १९२८), 'शराबी' (वही, १९३०), आदि ग्रन्थों में मिलते हैं। इनमें नगर के चकलों, अनाथालयों, विधवाश्रमों और सेवा सदनों की पोलें खोली गई हैं और समाज के उन कुम्भीपाकों को अनावृत किया गया है जो चोर-उच्चकों, पियक्कड़ों, सूदखोरों और पथ-भ्रष्ट नौकरपेशों के अड्डे हैं। इन रचनाओं में हमें यथार्थवाद का वह रूप मिलता है जिसे हम 'प्रकृतिवाद' अथवा नेचुरलिस्टिक रियलिज्म कहते हैं और जिस पर जोला-फ्लावेयर-मोपांसा की छाप है। इनके साथ ही धार्मिक दम्भ और आचार की पोल भी खोली गई है और इस क्षेत्र में 'कंकाल' (१९२९) और 'स्वामी चौखटानन्द' (१९३६) जैसी रचनाएं हमारे पास हैं। 'कर्मभूमि' में स्वयं प्रेमचन्द ने इस महंतशाही का खाका उतारा है।

मध्यवित्तीय जीवन की सबसे व्यापक भूमि प्रेमचन्द के 'गबन' में ग्रहण की गई है। इस उपन्यास की बौद्धिक और भावुक भूमियां एक ही तरह पुष्ट हैं और सामाजिक चित्रण में तटस्थ न रह कर लेखक व्यंग्य के द्वारा मध्यवित्त की उन सारी विषम स्थितियों पर आघात करता है जो आत्मप्रवंचना को जन्म देती हैं। जालपा की आभूषण-प्रियता तथा रमानाथ की बड़प्पन

इस सन्दर्भ पर अन्य महत्वपूर्ण रचनाएं हैं: भाई (ऋषभचरण जैन १९३१), विमाता (अवधनारायण, १९२३, द्वितीय), मझली बहू (शिवनाथ शास्त्री, १९२८), बहूरानी (शम्भुदयाल, १९३०) और 'मा' (विश्वम्भर नाथ कौशिक; १९२९)

प्रकृति विजयोल्लास नहीं है। एक बार फिर समाज की कड़ी भूमि के आगे लेखक का तेज कुंठित हो गया है।

इसी समय के लगभग नई नारी का उदय होता है और वह अपने साथ उपन्यास-जगत में नई समस्याएं लाती हैं। परन्तु अभी उसके दर्शन विरल ही हैं। 'गोदान' का नागरिक जीवन वाला अंश इस समस्या को विशेष आग्रह से उपस्थित करता है। वैसे प्रतापनारायण श्रीवास्तव के 'विदा' उपन्यास में अभिजात्य वर्ग के चित्रण में नई नारी पहली बार आ चुकी थी। वास्तव में समस्त युग के कथा साहित्य में नए-पुराने का द्वन्द है और यह द्वन्द नारी के पुराने और नये आदर्शों को केन्द्र बना कर उपस्थित हुआ है। उपन्यासकारों के पूर्वग्रह के कारण नई नारी बराबर पराजित हुई है और रानी जाह्नवी, धनिया और इन्दु जैसी भारतीय आदर्श-निष्ठ नारियाँ बराबर जीती हैं। फिर भी यह स्पष्ट है कि हमारे उपन्यासकारों ने नई नारी के दृष्टिकोण को सहानुभूति से देखा है और उसकी समस्याओं को आर्थिक और सांस्कृतिक पृष्ठभूमि देनी चाही है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि जहां एक ओर आलोच्य-युग का हिंदी उपन्यासकार नारी-जीवन के प्रति एक प्रगतिशील और क्रांतिकारी दृष्टिकोण ले कर चलता है और उसके युग-पुराचीन बंधनों के विरुद्ध हमें संवेदित करता है, वहां वह सतीत्व की प्राचीरों में बंधा है। नारी की नई उन्मुक्ति को वह संदेह की दृष्टि से देखता है और गृहलक्ष्मी का आदर्श उसके सामने रखता है। यह द्विधा आज भी लगभग उसी तरह बनी हुई है और हमारी चिरप्रथित सामाजिक अगति की सूचक है।

पुरुष-जीवन की सामाजिक समस्यायें विवाह और प्रेम, घर और बाहर तथा नए और पुराने को लेकर विकसित हुई हैं। नारी की समस्याओं में ये समस्याएं बहुत कुछ समाहिस हो गई हैं और इनका स्वतन्त्र रूप हमें अधिक दिखलाई नहीं देता। अवैध-प्रेम और स्वजाति-रति जैसी समस्याएं हमारे उपन्यासकारों ने नहीं उठाई हैं, परन्तु जहां सामाजिक-समस्याएं सामने आई हैं, वहां किंकर्तव्य-स्थिति और आत्मघाती वेदना का वह रूप हमारे सामने नहीं आता जो शरदचन्द्र के 'देवदास' और 'गृहदाह' जैसे उपन्यासों का विषय है। हिंदी की भूमि कुछ अधिक कठोर है और उसमें चुनौती का स्वर अधिक मुखर और सशक्त है।

सामाजिक अनाचार का एक भयावह रूप अछूत समस्या को लेकर सामने आता है। गांधी जी के हरिजन-आन्दोलन ने उपन्यासकारों का

ध्यान इस ओर आकर्षित किया और लगभग उसी समय हम प्रेमचन्द को 'कर्मभूमि' में अछूतों की समस्या को उठाता पाते हैं। परंतु हरिजन-आन्दोलन जहां मन्दिर-प्रवेश आन्दोलन तक सीमित रह जाता है, वहाँ प्रेमचंद आगे बढ़कर चमारों के एक गांव के आभ्यंतरिक सुधार की तह की समस्या तक पहुंचते हैं। इस प्रकार उपन्यास समसामयिक जीवन से आगे बढ़ जाता है और मौलिक समाधानों को उपस्थित करने का श्रेय प्राप्त करता है। इस एक रचना में उपन्यासकार समाज के पीछे चलने वाली इकाई न होकर सतत आगे बढ़ने वाला दीप-स्तम्भ बन जाता है। सामाजिक अनाचार के कुछ अन्य रूप हमें 'गंगा-जमुनी' (गंगाप्रसाद श्रीवास्तव, १९२७), 'हृदय की परख' (चतुरसेन शास्त्री, १९१८), 'व्यभिचार' (वही, १९२८), 'दिल्ली का दलाल' (उग्र, १९२७), 'बुधुवा की बेटी' (वही, १९२८), 'शराबी' (वही, १९३०), आदि ग्रन्थों में मिलते हैं। इनमें नगर के चकलों, अनाथालयों, विधवाश्रमों और सेवा सदनों की पोलें खोली गई हैं और समाज के उन कुम्भीपाकों को अनावृत किया गया है जो चोर-उच्चकों, पियक्कड़ों, सूदखोरों और पथ-भ्रष्ट नौकरपेशों के अड्डे हैं। इन रचनाओं में हमें यथार्थवाद का वह रूप मिलता है जिसे हम 'प्रकृतिवाद' अथवा नेचुरलिस्टिक रियलिज्म कहते हैं और जिस पर जोला-फ्लावेयर-मोपांसा की छाप है। इनके साथ ही धार्मिक दम्भ और आचार की पोल भी खोली गई है और इस क्षेत्र में 'कंकाल' (१९२९) और 'स्वामी चौखटानन्द' (१९३६) जैसी रचनाएं हमारे पास हैं। 'कर्मभूमि' में स्वयं प्रेमचन्द ने इस महंतशाही का खाका उतारा है।

मध्यवित्तीय जीवन की सबसे व्यापक भूमि प्रेमचन्द के 'गबन' में ग्रहण की गई है। इस उपन्यास की बौद्धिक और भावुक भूमियां एक ही तरह पुष्ट हैं और सामाजिक चित्रण में तटस्थ न रह कर लेखक व्यंग्य के द्वारा मध्यवित्त की उन सारी विषम स्थितियों पर आघात करता है जो आत्मप्रवंचना को जन्म देती हैं। जालपा की आभूषण-प्रियता तथा रमानाथ की बड़प्पन

इस सन्दर्भ पर अन्य महत्वपूर्ण रचनाएं हैं : भाई (ऋषभचरण जैन १९३१), विमाता (अवधनारायण, १९२३, द्वितीय), मझली बहू (शिवनाथ शास्त्री, १९२८), बहूरानी (शम्भुदयाल, १९३०) और 'मा' (विश्वम्भर नाथ कौशिक; १९२९)

प्रदर्शन करने की मध्यवित्तीय प्रवृत्ति ने झूठ, प्रपंच, छल और प्रताड़ना का इतना बड़ा काण्ड उपस्थित कर दिया है कि इस रचना में सारा युग सिमट आया है । यहां हमें प्रेमचन्द की व्यंग्य-कला की पराकाष्ठा मिलती है।

कौटुम्बिक-भूमि हमें प्रेमचन्द के सभी उपन्यासों में मिलती है। 'प्रेमाश्रम' में जागीरदारी प्रथा के टूटने के फलस्वरूप और नई शिक्षा के कारण सम्मिलित कुटुम्ब पर गहरी चोट पड़ती है और बाद में 'गोदान' में होरी के अथक प्रयत्नों पर भी परिवार बिखर जाता है। एक छत के नीचे कुटुम्ब के सभी प्राणियों का रहना आज की शिक्षा-दीक्षा और आर्थिक व्यवस्था के रहते असम्भव है, यह अनेक रचनाओं से स्पष्ट है। इसके अतिरिक्त सौतेली मां, सास-बहू, देवरानी-जिठानी आदि भी अनेक उपन्यासों के केन्द्र हैं और फिर सम्मिलित परिवार की प्रथा के टूटने में मनोवैज्ञानिक असन्तुलन का भी बड़ा हाथ है।

सामाजिक भूमि का एक व्यापक रूप भी है जो विभिन्न जातियों और वर्गों के सहयोग पर आधारित है। प्रेमचन्द को कुछ आवेशपूर्ण क्षणों में घृणा का प्रचारक कहा गया है, परन्तु उनके उपन्यासों में जाति-द्वेष दिखलाई नहीं देता। 'रंगभूमि' में हमें हिंदू, ईसाई तथा मुसलमान पात्र-पात्रियों का अत्यंत सहानुभूतिपूर्ण चित्रण मिलता है। 'कायाकल्प' में 'हिंदू-मुसलमान' दंगों की विशद पृष्ठभूमि सामने आती है। इस युग के अन्य उपन्यास भी इस समझौते की भूमि को सामने रखते हैं। दंगों के पीछे छिपे राजनैतिक और आर्थिक चक्रों का उद्घाटन प्रेमचन्द नहीं कर सके हैं। परन्तु उदारता और सहिष्णुता के द्वारा वह इस समस्या का समाधान चाहते हैं। एक दूसरा सामाजिक प्रश्न नगर और गाँव के उन अनेक वर्गों से सम्बन्ध रखता है, जो सीधे सामाजिक प्रक्रिया की उपज न होकर आर्थिक विकास की ऐतिहासिक उपज है। नगरों का मध्यवित्त, पूंजीपति, उद्योगपति और कर्मकर मजदूर समाज और गांव का भूमिपति (जमींदार) एवं किसान इस प्रकार के वर्ग हैं। इस युग में हम वर्ग-संघर्ष की भावना का स्पष्ट विकास नहीं पाते, परन्तु उपन्यासकार समाज के इन विभिन्न स्तरों के स्वार्थों को अच्छी तरह समझ गया है और इन वर्गों के अन्तर्निर्वाह और अन्तर्विरोध को उसने अनेकानेक

देखिए 'कायाकल्प' (प्रेमचन्द, १९२६), 'राम-रहीम' (राधिकारमण सिंह, १९३७), और 'चन्द हसीनों के खतूत' (उग्र १९२७)।

पात्रों और घटना-प्रसंगों के रूप में वाणी दी है। 'प्रेमाश्रम', 'रंगभूमि' और 'गोदान' में सामाजिक संघात का यह रूप सामने आता है। उत्तर रचनाओं में वर्ग-दृष्टि अधिक उन्मुक्त हो गई है और १६२८-१६२६ के लगभग उपन्यासकार रूस के सर्वहारा वर्ग की साक्षी देने लगते हैं। प्रेमचन्द के अतिरिक्त इस भूमि पर चलने वाले उपन्यासकार कम ही हैं, जो हैं भी, वे कलाकारिता और वैचारिक दृष्टि से इतना ऊंचा नहीं उठ पाए हैं। हिंदी के इस युग के उपन्यासों की राजनैतिक और सामाजिक जागरूकता अप्रतिम है और उन्होंने यथार्थ की नई-नई भूमियों का आकलन किया है। स्वयं प्रेमचन्द के साहित्य में सामाजिक क्रिया-प्रतिक्रिया का वृहद् चयन हुआ है। परन्तु यह स्पष्ट है कि प्रेमचन्द की भांति इस युग के कलाकार क्रांति नहीं चाहते, वे विकास के पक्षपाती हैं। यह स्पष्टतः इसलिए कि वे सामाजिक प्रक्रियाओं एवं मध्यवर्गीय द्वन्द के वास्तविक रूप को अभी पहचान नहीं पाए हैं। प्रेमचन्द भी विचारों की अपेक्षा चित्रण के क्षेत्र में अधिक प्रगतिशील और क्रांतिकारी हैं। केवल अंतिम रचना 'गोदान' में वह समझौते और मध्यम मार्ग के प्रति नृशंस हो उठे हैं।

संक्षेप में, ये विभिन्न भूमियां हैं जिन पर प्रेमचन्द-युग का सामाजिक यथार्थ चित्रित हुआ है। प्रारम्भ में-यथार्थ का जो रूप हमारे सामने आता है, वह सुधारवादी है जिसमें रोमांस का यथेष्ट पुट है। बाद में हमें प्रेमचन्द के 'आदर्शोन्मुख यथार्थ' और उग्र-चतुरसेन के 'प्रकृतिवादी (नग्न) यथार्थ' की दो धाराएं मिलती हैं जो सम्पूर्ण युग को घेर कर चलती हैं। अन्तिम वर्षों में यथार्थ के चार अन्य रूप भी सामने आते हैं जिन्हें हम क्रमशः यथार्थोन्मुख आदर्श (जैनेन्द्र) मनः विश्लेषणात्मक या व्यक्तिनिष्ठ यथार्थ (इलाचन्द्र, अज्ञेय)

हमारा उद्देश्य जन-मत तैयार करना है, इससिए मैं सामाजिक विकास में विश्वास रखता हूं। अच्छे तरीकों के असफल होने पर ही क्रांति होती है। मेरा आदर्श है प्रत्येक को समान अवसर का प्राप्त होना। इस सोपान तक बिना विकास के कैसे पहुंचा जा सकता है: इसका निर्णय लोगों के आचरण पर निर्भर है। जब तक हम व्यक्तिगत रूप से उन्नत नहीं हैं तब तक कोई भी सामाजिक व्यवस्था आगे नहीं बढ़ सकती। क्रांति का परिणाम हमारे लिए क्या होगा? यह सन्देहास्पद है।

(डा० इन्द्रनाथ मदान की पुस्तक 'प्रेमचन्द' में दिए
प्रेमचन्द के एक पत्र से उद्धृत, पृ० १७४)

साम्यवादी या समाजवादी यथार्थ (यशपाल) और तटस्थ या वैज्ञानिक यथार्थ (द्वारिकाप्रसाद गुप्त) कह सकते हैं। इन नए दृष्टिकोणों का आरम्भ ही हमें इस युग में मिलता है, विकास के लिए परवर्ती-युग (प्रेमचन्दोत्तर उपन्यास) की ओर हमें देखना होगा। तात्पर्य यह है कि न केवल दृष्टिकोण के रूप में, वरन चित्रण की भूमि पर भी यथार्थ के कई पहलू इस युग में दिखलाई देते हैं। सामाजिक यथार्थ के बदलते हुए रूप के साथ उपन्यासकारों को अभिव्यंजना के लिए नए-नए माध्यमों एवं उपकरणों की खोज करनी पड़ी है। यथार्थ के प्रति उनका दृष्टिकोण प्रारम्भिक होते हुए भी स्वस्थ है। उसमें अभी व्यक्तिनिष्ठ (सब्जेक्टिव) और विषयनिष्ठ (आब्जेक्टिव) यथार्थवाद की विभाजन-रेखा स्थापित नहीं हुई है, यद्यपि उसमें ऐन्जिल्स की यह धारणा पूर्ण रूप से प्रतिफलित है कि सामाजिक दृष्टिकोणमूलक उपन्यास का लक्ष्य तब पूरा होता है, जब वह वास्तविक सामाजिक सम्बन्ध-सूत्रों की स्थापना करता है और उनके सम्बन्ध में भ्रमात्मक विश्वासों का निराकरण करता है एवं वर्तमान सामाजिक व्यवस्था के 'शाश्वतत्व' के प्रति सन्देह को जन्म देता है, फिर चाहे उपन्यासकार ने किसी निश्चित समाधान को उपस्थित नहीं किया हो अथवा वह उभय पक्षों के प्रति तटस्थ रहा हो।

प्रेमचन्द-युग मुख्यतः राजनीति के-क्षेत्र में उथल-पुथल का युग था। प्रेमचन्द के हिन्दी-साहित्य क्षेत्र में प्रवेश करते ही जलियानवाला बाग की घटना घटी और सत्याग्रह के रूप में विदेशी शक्ति के विरुद्ध एक व्यापक जन-आन्दोलन आरम्भ हुआ। अंग्रेजी राजसत्ता को गदर के बाद यह सबसे बड़ी चुनौती थी। फलस्वरूप गतिरोधक शक्तियों को प्रश्रय दिया गया और सामन्ती-युग के अवशेष रायबहादुरों-नवाबजादों के प्रयत्नों से हिन्दू-मुस्लिम दंगों के रूप में जातीय-विद्वेष की भूमि तैयार की गई। कायाकल्प' में प्रेमचन्द ने इसी पृष्ठभूमि को लिया है और यह स्थापित किया है कि जातीय विद्वेष की जड़ें देश की संस्कृति में नहीं, विदेशी कूटनीति में हैं। गौरांग महाप्रभु, हिन्दू-मुस्लिम सरकारी अफसर, पुलिस-पटवारी, धर्म के ठेकेदार पण्डे-मुल्ले, एक ही थैली के चट्टे-बट्टे हैं और सामाजिक प्रश्नों के पीछे क्षीण राजनैतिक सूत्र ही दौड़ते हैं। १६२१ में ही मध्यवित्तीय नेतागिरी डर रही

समाजवादी यथार्थवाद (सोश्यलिस्ट रियलिज्म) के प्रकरण में रेल्फ फाक्स की पुस्तक 'द नावेल एण्ड द पीपुल' (पृ० १०८) में उद्धृत।

थी कि सत्याग्रह जन-आन्दोलन न बन जाए और बाद में आन्दोलन स्थगित कर दिया गया। १६२३-२४ ई० में उत्तर-प्रदेश में पहला किसान-आन्दोलन चला, परन्तु काँग्रेस ने उसे विशेष मान्यता नहीं दी। प्रेमचन्द 'प्रेमाश्रम' में ही ग्रामीण प्रश्नों को उभार चुके थे और 'कर्मभूमि' में फिर एक बार गाँव को अपना विषय बनाया। १६३०-३२ के आन्दोलन की जड़ें बड़ी शीघ्रता से नीचे की ओर बढ़ीं और जनता तक फैल गईं। फलतः सरकार ने समझौता कर जन-शक्ति को कुण्ठित करना चाहा। इस दिशा में वह सफल भी हुई। सत्य और अहिंसा से बंधे हुए हमारे नेता सरकार की इस चाल को नहीं समझ पाए, परन्तु जब कुण्ठा और गत्यावरोध के कारण व्यापक रूप से विक्षोभ दिखलाई पड़ा तो वे परिस्थिति को समझ कर हतप्रभ रह गए। प्रेमचन्द में भी इसकी प्रतिक्रिया हुई और फलस्वरूप वह समझौते और आदर्श को तिलांजलि देकर क्रांति और यथार्थ की भूमि पर उतर आए। 'गोदान' की नई जागरूक दृष्टि इसी परिवर्तन की ओर संकेत करती हैं। हृदय-मन्थन का युग समाप्त हो गया है और प्रेमचन्द अपना मार्ग निश्चित कर चुके हैं। 'गबन' (१६३१) के व्यंग-स्वर में पहले भी वह यही जागरूक दृष्टि दिखला चुके थे, परन्तु वहां उनका क्षेत्र मध्यवित्त समाज था, ग्राम नहीं। 'ग्राम' भारतीय जीवन की सबसे छोटी और सशक्त सामाजिक और राजनैतिक इकाई है और इसे ध्वंसमान दिखाकर प्रेमचन्द सुधार की भूमि छोड़कर विद्रोह की वास्तविकता पर उतर आए है। अन्य उपन्यासकारों में भी यही प्रतिक्रिया दिखलाई देती है।

इस तरह सामाजिक यथार्थ आरम्भ में सामाजिक भूमि को अपनाकर चला परन्तु शीघ्र ही उपन्यासकारों को यह पता चल गया कि समाज और राजनीति की भूमियां भिन्न नहीं हैं, एक हैं। इसी से, बाद के उपन्यासों में सामाजिक यथार्थ राजनैतिक पृष्ठभूमि को लेकर चलता है और प्रेमचन्द जैसे कलाकारों के बड़े-बड़े राजनैतिक उपन्यासों में समाज के मूल प्रश्न अनायास ही उभर आए हैं। यथार्थ की यह बदलती हुई अधिक व्यापक भूमि हमें हिंदी उपन्यासकारों की अन्तर्दृष्टि और चित्रण के क्षेत्र में उनकी प्रगति की सूचना देती है। यह स्पष्ट है कि इस युग का हिंदी उपन्यासकार 'वाद' ग्रस्त नहीं था। सामाजिक यथार्थ उसके लिए प्रेरक शक्ति था, वह उसके लिए एक मात्र मूल-मन्त्र नहीं था। उपन्यास में यथार्थ की यही स्थिति वांछनीय भी है। प्रेमचन्दोत्तर युग में यथार्थ का भी एक वाद बन गया है, जिस प्रकार प्रेमचन्द के युग में आदर्श का एक वाद था। इससे परवर्ती उपन्यासकारों की

जीवन-दृष्टि कुण्ठित हुई है और उनमें विषय और चित्रण का अनावश्यक संकोच दिखलाई पड़ता है जो कला के लिए घातक है।

प्रेमचन्द-युग में हिंदी उपन्यास ने पहली बार सामयिक जीवन के विभिन्न पहलुओं से अपना सम्बन्ध जोड़ा और औपन्यासिक कला में भाषा की आलंकारिता और कल्पना की रंगीनी के स्थान पर सत्य की नई अपराजिता आभा ने प्रवेश किया। जहां काव्य क्षेत्र में शाश्वत के उपासक छायावादी कवि नक्षत्र-लोकों में खो गए वहां इस युग की सामयिकता को कथा और पात्रों में बांधने वाले उपन्यासकार हमारी जीवन-चेतना को ऊर्ध्ववाही और अकुण्ठित बनाकर अमर हो गए। साहित्य में धरती के जीवन का रस उमड़ आया और साहित्यकारों के विषय और विवेचन सम्बन्धी पूर्वग्रह समाप्त हो गए। प्रेमचन्द जैसे जागरूक कलाकार में औपन्यासिक अनुबंध को उपेक्षित कर जीवन की विविध, विभिन्न और समानान्तर रूपरेखाओं को लेकर चलने की जो प्रवृत्ति है, वह इस युग की नई संचिता शक्ति की द्योतक है जो पहली बार जीवन के सन्दर्भ को ग्रहण कर उसके प्रति अतिभावुक हो उठी है। आदर्श की छाप इस युग के साहित्य पर पूर्ण रूप से पड़ी है, परन्तु यथार्थ का आग्रह भी बराबर बढ़ा है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रेमचंद-युग के उपन्यासों में आरम्भ से ही सामाजिक यथार्थ का आकलन हुआ है और अपने सामाजिक परिवेश के प्रति कलाकार पूर्ण रूप से जागरूक है। बुद्धिवाद का आग्रह दिन-प्रति-दिन बढ़ रहा है और लक्ष्य में आदर्शवादी या यथार्थवादी होते हुए भी चित्रण में यथार्थ को ही प्रधानता मिली है। प्रारम्भिक कलाकारों में सामाजिक चेतना अस्पष्ट है, उन्हें अपने सामाजिक उत्तरदायित्व का आभास मात्र है। फलतः समस्या का जो रूप या उसका जो समाधान, उपन्यासकार हमारे सामने रखता है, वह बहुत कुछ विश्वसनीय नहीं है। इस युग के सबसे बड़े कलाकार प्रेमचंद को ही लें तो यह स्थिति दिखलाई देती है। सामाजिक प्रश्नों के

प्रेमचन्द 'सेवासदन' के अपने समाधान से आश्वस्त नहीं थे। 'प्रेमचन्द : घर में' (पृ० १८०-१८१) संस्मरण-ग्रन्थ में म्यूनिसिपैलिटी से रेडियो के निकाले जाने के प्रस्ताव पर शिवरानी देवी के हृदय-मन्थन को सुनकर उन्होंने 'सेवा-सदन' की ओर इशारा किया, परन्तु इस गुत्थी का समाधान उन्हें उस समय तक नहीं दिखलाई दिया, जब तक हिन्दुस्तान आजाद नहीं होता। आज भी यह समस्या उसी तरह बनी है।

सम्बंध में उनकी जागरूकता 'प्रेमचंद : घर में' और उनके निबंधों से स्पष्ट है, परन्तु यह कदाचित् उनका प्रौढ़तम विचारक रूप है। उपन्यासों में वह विचार की अपेक्षा चित्रण में अधिक प्रगतिशील हैं 'सेवासदन' में वेश्या-जीवन की अत्यन्त महत्वपूर्ण समस्या को उठाकर भी वह उसे उस स्वाभाविक विचार-परिणति पर नहीं पहुंचा सके हैं जो रूसी लेखक अलेक्जेण्डर क्यूपरिन के उपन्यास 'यामा द पिट' में मिलती है। प्रेमचन्द की बोद्धिकता वेश्याओं को गर के चौक से हटाकर और सुमन द्वारा पथ-भ्रष्ट महिलाओं के लिए 'सेवासदन' (आश्रम) की स्थापना करके ही समाप्त हो जाती है। दहेज, दोहाजू बाल-विवाह, बहुपत्नित्व जैसी सामाजिक विडम्बनाओं के प्रति प्रेमचंद खड्ग-हस्त होते हैं, परन्तु उनका बल चित्रण में है, समाधान में नहीं। निर्मला में ये सभी समस्यायें एक ही चित्रपट पर सामने आ जाती हैं और निर्मला के दुःखांत की सर्वभक्षी वेदना पाठक को इन सामाजिक विषमताओं के सम्बन्ध में सोचने को मजबूर कर देती हैं। मध्यवित्तीय जीवन की आत्म-प्रवंचना 'गबन' में खूब उभरी है। इसका निराकरण क्या होगा, प्रेमचंद यह नहीं बतलाते। वर्गहीन समाज की स्थापना की ओर उनका आग्रह नहीं है जो महाजनी सभ्यता के थोथे प्रदर्शन और उसकी श्रेणीबद्धता के मूल में कुठाराघात करे। वह इस रचना में भी सुधारक ही है, क्रांति-द्रष्टा नहीं। भीतरी सुधार, हृदय-परिवर्तन, संतुलित जीवन-दृष्टि, सादे जीवन पर उनका आग्रह है, परंतु परिस्थितियों का व्यंग्य जहां मनुष्य को निहत्था कर देता है, वहां ये समाधान बहुत पीछे छूट जाते हैं। प्रेमचंद का युग हृदय-मन्थन का युग था, परन्तु मध्यवित्तीय वर्ग इस हृदय-मन्थन के बाद भी समझौते और पच्चड़कारी से ऊपर नहीं उठ सका था। वह स्वयं आत्मप्रवंचक है। उसके सभी समाधान ऊपरी हैं, समस्याओं की ऐतिहासिक, आर्थिक और राजनैतिक जड़ों तक वे नहीं जाते। फिर भी इस युग के उपन्यासकारों को यह श्रेय मिलना चाहिए कि उन्होंने सामाजिक यथार्थ के अनेकानेक पहलुओं को औपन्यासिक वस्तु बनाया और पाठकों का ध्यान उनकी ओर आकर्षित किया।

परन्तु बाद के कुछ वर्षों में उपन्यासों में कुछ अधिक तलस्पर्शिता आई है और जीवन-दृष्टि भी व्यापक और मूलनिष्ठ बनी है। 'कंकाल', 'सुनीता', 'अलका' और 'तलाक' जैसी रचनाएं समाज की समस्याओं को नई दृष्टि से देखती हैं। उनमें समझौते का संगीत नहीं, विद्रोह का व्यंग्य है। 'कंकाल' में जाति-वर्ण-गर्व की भित्ति रक्त-शुद्धता पर ही आघात किया गया है और सामयिक समाज से पीछे हटकर शताब्दियों पार उसकी ऐतिहासिक विषम

परम्परा की ओर भी लेखक की दृष्टि गई है। अनमेल विवाह की समस्या अब केवल सामाजिक समस्या न होकर वंशानुक्रम-विज्ञान से सम्बन्धित हो गई है। इसी प्रकार जैनेन्द्र का 'सुनीता' उपन्यास घर-बाहर के नए द्वन्द को सामने लाता है जो नए सामाजिक जागरण से उत्पन्न नई समस्या है। अब नारी प्रेम करने का सम्पूर्ण स्वातंत्र्य मांगने लगी है। उसकी समस्या बाल-विवाह, दहेज, दोहाजू आदि की समस्या नहीं रही है। ये सुधार अब सामाजिक मान्यता प्राप्त कर चुके हैं। फलतः सामाजिक यथार्थ की भूमि बदल गई है। 'सुनीता' में लेखक ने नारी के तन-मन के द्वन्द को उपस्थित किया है: विवाह-बंधन के भीतर रह कर नारी क्या अपनी प्रेममयी मूल प्रकृति को कुण्ठित नहीं कर रही है। 'सुनीता' में पति के ही आदर्श की विजय है और इसीलिए यह परम्परा भी प्रेमचंद परम्परा में आती है। परन्तु चित्रण की भूमि बदल गई है और नर-नारी के आकर्षण को समाज के प्रतिबंधों से एकदम ऊपर रखने का नया प्रयत्न शुरू हो गया है। सामाजिक जीवन की भित्ति-विवाह के प्रति ही लेखकों का आक्रोश तीव्र हो उठा है। इसी से विद्रोह अब अधिक सूक्ष्म, व्यापक और मनोनिष्ठ है। 'गोदान' में उपन्यास के अन्त में आदर्श को होरी के रूप में टूटते पाते है और गोबर की नई यथार्थवादिनी खुली दृष्टि हमारे सामने आती है। सामाजिक जीवन पर अब घर और कुटुम्ब तक सीमित न रह कर आर्थिक और राजनैतिक प्रक्रियाओं का निष्कर्ष बन गया है। सामाजिक चेतनाओं और प्रक्रियाओं को अब स्वतन्त्र इकाई न मानकर अनेक संबंध-सूत्रों की खोज की गई है और बुद्धि के प्रकाश में पुराने समाधान फीके पड़ गए हैं। समझौते का स्वप्न समाप्त हो गया है और विश्वासों की नीवें ढह गई हैं। यहीं पर प्रेमचंदोत्तर उपन्यास-साहित्य की विचार-भूमि की संधि-रेखा है, जो पिछले युग से अधिक गहरी, व्यापक, मूलनिष्ठ और क्रांति-दर्शिनी है तथा जिसमें राजनीति तथा मनोविज्ञान की नई उपलब्धियों का चकाचौंध फैलाने वाला प्रकाश है, अस्पष्ट चिंतन की रहस्य-वीथियां नहीं हैं।

: २७ ,

प्रेमचन्दोत्तर यथार्थवादी उपन्यास

प्रेमचंद के बाद यथार्थवादी धारा की स्थिति पर हमें विचार करना है। इसमें संदेह नहीं कि स्वयं प्रेमचंद यथार्थवादी धारा के प्रवर्त्तकों में से थे और उनके उपन्यासों ने इस धारा को उस जगह छोड़ा जहाँ से परवर्ती उपन्यासकारों को आगे चलना उतना कठिन नहीं था। परन्तु प्रेमचंद के बाद हिन्दी उपन्यास-साहित्य कई दिशाओं में आगे बढ़ा और यथार्थवादी उपन्यास इन धाराओं में से एक ही धारा को सूचित करते है।

यथार्थवादी परम्परा पर विचार करने से पहले यह आवश्यक है कि हम यह जान लें कि यथार्थवाद से हमारा क्या तात्पर्य है। यथार्थवाद का अर्थ है समाज और जीवन की वस्तुस्थितियों और अनुभूतियों का सूक्ष्म और विस्तृत आकलन। जीवन में व्यक्ति का भी जीवन आता है और समाज का सामूहिक जीवन भी। परन्तु यहां प्रश्न यह उठता है कि, क्या यह अन्तिम तथ्य है? क्या केवल वस्तुनिरूपण-मात्र यथार्थवाद है? चाहे वह व्यक्ति के मन का हो, उसके अन्तर्जीवन का या समाज का सामूहिक या वर्ग-गत चित्रण, या चित्रण से आगे बढ़ कर हम लक्ष्य की बात भी उठाते हैं। प्रेमचंद के उपन्यासों में हमें चित्रण की भूमि पर तो यथार्थवाद मिलता है परन्तु गोदान' को छोड़ कर अन्य कृतियों में उनका लक्ष्य महान आदर्शों को सृष्टि है। इस तरह वह वक्ष्य में आदर्शवादी और चित्रण में यथार्थवादी हैं। इसी से उन्होने

अपने उपन्यासों को 'आदर्शोन्मुख यथार्थवाद' पर आश्रित बतलाया है। इस सम्बन्ध में वह कहते हैं: 'आदर्श को सजीव बनाने के लिये यथार्थ का उपयोग होना चाहिये और अच्छे उपन्यास की यही विशेषता है।' जहां तक प्रेमचंद के साहित्य का सम्बन्ध है, यह स्थिति बिलकुल ठीक है।

परन्तु यही एक मात्र स्थिति नहीं। यथार्थवाद के और भी रूप हो सकते हैं: एक, जो चित्रण के साथ लक्ष्य में भी यथार्थवादी हो—जो आदर्श के महल नहीं उठाये, जो मानव के उत्पीड़न, उसकी दुर्बलताओं और उसके निरोधों को ही चित्रित करे।

दूसरे, जो किसी उद्देश्य को लेकर नहीं चले, चित्रण के सम्बन्ध में वैज्ञानिक-तटस्थ वृत्ति रखे।

तीसरे, जो वाह्य जगत के सूक्ष्म चित्रण और यथार्थ को छोड़ कर मन के सूक्ष्म जगत और यथार्थ को ले। यह पक्ष मनोवैज्ञानिक उपन्यासों का है और बाद में अंतश्चेतनावादियों और अस्तित्ववादियों ने उसे उसकी स्वाभाविक परिणति तक पहुंचा दिया है।

चौथे प्रकार का यथार्थवाद वह है जिसे यूरोपीय लेखकों ने समाजवादी यथार्थ (सोशलिस्टिक रियलिज्म) कहा है और जिसके सम्बन्ध में रेल्फ़ फ़ाक्स ने अपनी पुस्तक 'द नाविल एंड द पीपुल' में अपील की है। इसमें व्यक्ति के मन के सूक्ष्म आलेखन के स्थान पर समाज का विस्तृत आलेखन होता है। परन्तु समाज की गतिरोधक प्रवृत्तियों का विश्लेषण और गतिशील प्रवृत्तियों की ओर संकेत भी रहता है।

प्रेमचंद के उपन्यासों को देखने से यह स्पष्ट है कि वह उत्तरोत्तर यथार्थवाद की ओर अधिक झुकते हैं: उनका विषय है समाज और व्यक्ति का पारस्परिक सम्बन्ध। व्यक्ति समाज से विद्रोह करता है, उसकी मान्यताओं को तोड़ता है, परन्तु अन्त में एक सीमा पर पहुंच कर उसका विद्रोह कुंठित हो जाता है और वह परिवेश से समझौता कर लेता है। इसे आदर्शवाद की विजय कहा गया है, परन्तु सच तो यह है कि उस समय देश और काल की भूमि पर यही यथार्थ था। परन्तु 'गोदान' में प्रेमचंद कुछ कटु सत्य भी कहते हैं। उसमें व्यक्ति टूट जाता है, पर समझौता नहीं करता। इस प्रकार इस उपन्यास की भूमि यथार्थ से अधिक निकल पड़ती है। उस में होरी के रूप में प्रेमचंद ने ग्रामीण जीवन की दुर्बलता और शक्ति का व्यापक चित्र उपस्थित किया है। १९३६ ई० में प्रेमचंद की मृत्यु हुई। उनके बाद उनकी कला के आदर्शोन्मुख सूत्र जैनेन्द्र ने आगे बढ़ाये और वस्तुवादी

सूत्र मार्क्सवादी अथवा साम्यवादी लेखकों ने। वस्तुतः प्रेमचंद उपन्यास को जिस चौराहे पर छोड़ गये थे उससे विकास की कई राहें फूटती थीं। हिंदी उपन्यास के इतिहास में यथार्थवाद के सबसे पहिले ध्वजावाहक वे ही थे चाहे उनके आदर्शवादी दृष्टिकोण के कारण इनका यथार्थवाद विशुद्ध यथार्थ-वाद नहीं कहा जा सके। जो हो, यह स्पष्ट है कि प्रेमचंद के साहित्य में उनकी कला की संभावनाएं लगभग समाप्त हो गई थीं और 'गोदान' में वह विशुद्ध यथार्थवाद की ओर आ रहे थे। 'गोदान' में वह समाजवादी यथार्थवाद का बीड़ा उठाते हैं।

प्रेमचंद के उपन्यासों में औपन्यासिकता को पहली बार यथार्थ जीवन की भित्ति पर खड़ा किया गया। उनमें पात्रों के अपने व्यक्तित्व और चरित्र सामने आये और मनोवैज्ञानिकता के अनुकूल ही उनका चित्रण हुआ। प्रेमचंद की विशेषता है जीवन के प्रति आस्था और मनुष्य के ऊर्ध्व गमन में अदम्य विश्वास। वह समग्र जीवन के कलाकार हैं। उनके प्रारम्भिक उपन्यासों में समाज-सुधार-सम्बन्धी आदर्शवाद की गूंज है, परन्तु उत्तर रचनाओं में क्रांतिकारिणी राजनीतिकता ने विजय पा ली है। वह समाज और व्यक्ति की दोनों इकाइयों को साथ ले कर चलते हैं। परवर्ती लेखकों की भांति उनमें इस विषय में कोई पूर्वग्रह नहीं है। उन्होंने जैसा देखा है वैसा अंकित किया है। उन्होंने समस्या के विभिन्न स्वरूपों पर ही विचार नहीं किया है, समाधान भी उपस्थित किये हैं: तटस्थ दृष्टा वे नहीं, इसे भले ही कलाकार के नाते हम उनकी कमजोरी मानें। परन्तु सृष्टा हैं, उदात्त उद्देश्यों को ले कर चलने वाले आदर्शवादी कलाकार हैं, यद्यपि वह उड़ते नहीं, ठोस धरती पर दृढ़ता से चलते हैं। मनुष्य के दोषों और उनकी दुर्बलताओं का चित्रण करते हुए भी उनमें मानव पर असीम श्रद्धा है और इसीलिये वह परिस्थितियों से हारना नहीं जानते। उन्होंने जीवन के नरक में ही स्वर्ग के नन्दन-पुष्प खिलाये हैं। उनके साहित्य में यथार्थ अपनी सीमाओं के साथ उपस्थित होता है, परन्तु ये सीमाएं ही उसे महान बनाती हैं।

प्रेमचंद के सामने ही जयशंकर प्रसाद के दो उपन्यास 'कंकाल' और 'तितली' प्रकाशित हुए थे। प्रसाद जी ने 'कंकाल' में समाज के आंतरिक संघर्षों का विश्लेषण करके उसकी जर्जरता की घोषणा की। उन्होंने परम्परागत संस्कारों के प्रति अनास्था प्रगट की और पापपुण्य की हमारी कसौटियों की तीव्र आलोचना की। उन्होंने बतलाया कि पाप-पुण्य सापेक्ष हैं वे हमारे समाजगत दृष्टिकोण के प्रतिबिंब हैं, उनकी स्वतंत्र सत्ता नहीं है:

परन्तु 'तितली' में उन्होंनें भी प्रेमचंद की भांति आस्था और नवनिर्माण की भूमि स्वीकार की है। परन्तु पाप-पुण्य की उनकी व्याख्या से युग के अन्य कलाकारों का ध्यान इस ओर जाता है। और हम भगवतीचरण वर्मा को 'चित्रलेखा' में ऐतिहासिक और प्रेम-रोमांचक कथा की पृष्ठभूमि पर वह प्रश्न उड़ाता पाते हैं। जो हो यह स्पष्ट है कि जीवन के प्रति अनास्था, पाप-पुण्य की ओर नई दृष्टि और जीवन का नग्न-चित्रण प्रेमचंद के युग में ही आरम्भ हो गया था और व्यक्तिवादी कलाकार समाज को गौण बना कर व्यक्ति को उभारते हुए सामने आ रहे थे।

जैनेन्द्र के तीन उपन्यासों में यथार्थ-जीवन की भूमि पर यह व्यक्तिवाद प्रतिष्ठित मिलता है। ये उपन्यास हैं 'सुनीता,' 'त्यागपत्र' और 'कल्याणी'। तीनों में मनुष्य को परिस्थितियों के नीचे दबा हुआ दिखलाया गया है। समाज और व्यक्ति के संघर्ष की झांकियां प्रेमचंद के साहित्य में भी थीं, परन्तु व्यक्ति का आक्रोश अब इतना बढ़ गया है कि वह समाज की मान्यताओं पर गहरा आघात करना चाहता है। वह सारी सामाजिक व्यवस्था के प्रति विद्रोही है और जब वह अपना विद्रोह सफल होता नहीं देखता तो स्वपीड़न से ही संतोष करता है। 'सुनीता' में प्रेम की आध्यात्मिक धारणा पर चोट की गई है और यद्यपि मन की पवित्रता को ही एक मात्र सत्य मान कर उसे आदर्श की ऊंचाई दे दी गई है, परन्तु समाज को चमत्कृत कर देने की भावना भी वहां है। शेष दोनों उपन्यासों में पात्र असफल विद्रोह की कुंठा से ग्रस्त हैं। यहां से नया यथार्थ आरंभ होता है। इस नए यथार्थ का लेखक मनुष्य को यथातथ्य प्रस्तुत कर देना चाहता है, यद्यपि उसके खण्ड रूप को ही वह उठाता है, समग्र रूप को नहीं। उसके विद्रोह की भूमि प्रेम-स्वातन्त्र्य की भूमि बन जाती है। मानव स्वच्छन्द रूप से प्रेम करने का अधिकार मांगता है। जहाँ विवाह प्रेम को चुनौती देता है, वहां वह एक तीव्र विरोधी चीत्कार उठाता है। इस प्रकार जैनेन्द्र के उपन्यासों में यथार्थ की एक नई भूमि मिलती है, यद्यपि प्रेमचंद के उपन्यासों की भूमि की तरह वह सामाजिक तत्त्वों से संयोजित नहीं है, घोर व्यक्तिवादी है। वास्तव में वह यौन समस्यामात्र बन गई है। जैनेन्द्र के नए उपन्यासों 'सुखदा', 'विवर्त' और 'व्यतीत' की यही स्थिति है।

प्रेमचंद के बाद व्यक्ति की प्रधानता होने के कारण धीरे-धीरे उपन्यास का क्षेत्र संकुचित हो गया और मनोभूमि ही महत्वपूर्ण हो गई। जैनेन्द्र इलाचंद्र और अज्ञेय में मनोभूमि ही महत्वपूर्ण है और कला के रूप में

उन्होंने मनोविश्लेषण या अंतश्चेतनावाद को ही प्रधानता दी है। तीनों की भूमि यथार्थवादी भूमि है, यद्यपि उसके भिन्न-भिन्न रूप हमें मिलते हैं। जैनेन्द्र में यथार्थवाद व्यक्तिवाद की भूमि पर सामने आता है, इलाचंद्र जोशी में मनोविज्ञान और अज्ञेय में मनोविश्लेषण और अस्तित्ववाद की भूमि पर। वास्तव में प्रेमचन्द के बाद हमारा उपन्यास मुख्यतः यथार्थ को ही लेकर चल रहा है, यद्यपि उसके कई उपकरण हैं। सामाजिक जीवन, व्यक्ति का समाज के प्रति विद्रोह एवं कुण्ठाभाव और अन्तर्मन। धीरे-धीरे यह प्रक्रिया हमें स्वस्थ समस्त जीवन के चित्र से दूर हटाकर मानव-मन की अस्वस्थकर अंतश्चेतन प्रवृतियों और यौन भावनाओं की असामाजिक विकृतियों की ओर ले गई है। औपन्यासिक यथार्थ धीरे-धीरे व्यक्तिवादी मनोनिष्ठ और अंत में अहंवादी बन गया है।

परन्तु प्रेमचंदोत्तर यथार्थवादी उपन्यासों की एक धारा ऐसी भी है जो सामाजिक और राजनैतिक जीवन के चित्रण को प्रधानता देती है और जिसमें हमें युग-सत्य उसी तरह साफ झलकता दिखलाई देता है जिस तरह प्रेमचंद के उपन्यासों में। वास्तव में यही धारा प्रेमचन्द की यथार्थवादी परम्परा को आगे बढ़ाती है। इस धारा के उपन्यासकारों ने दूसरे महायुद्ध की विभ्रांति एवं दुर्नीति और मंहगाई का चित्रण किया है, बंगाल के अकाल और बयालीस के विद्रोह पर अपनी लेखनी चलाई है और हिंदू-मुस्लिम दंगों और विभाजन के बाद की शरणार्थी आदि समस्याओं को उपन्यास का विषय बनाया है। इस धारा में जिन लेखकों ने योग दिया है, उनमें प्रमुख हैं: यशपाल, अश्क, अमृतलाल नागर, रांगेय राघव, भगवतीचरण वर्मा, अंचल, श्रीकृष्णदास, रामानन्द सागर, धर्मवीर भारती, विष्णु प्रभाकर और यज्ञदत्त शर्मा। इन लेखकों में से कुछ कम्युनिष्ट लेखक हैं, कुछ मार्क्सवादी हैं, कुछ समाजवादी एवं कुछ स्वतन्त्र कलाकार हैं, जिन्हें किसी भी वाद-विशेष में नहीं बांधा जा सकता। कुछ में हमें स्वच्छन्दतावादी प्रवृत्तियाँ भी मिलती हैं और कुछ यौनाक्रांत भी हैं। परन्तु इन विविधताओं के बीच में भी यह स्पष्ट है कि उन्होंने सामाजिक और राजनैतिक मंतव्यों को वाणी दी है और उपन्यास को जीवन समीक्षक बनाते हुए उस परम्परा को आगे बढ़ाया है जिसको प्रेमचन्द गोदान में नया रूप दे गए थे। युद्धकालीन उपन्यासों में मंहगाई चोरबाजारी, वस्तुओं के अभाव, राजनैतिक दुरभिसंधियों और साम्राज्य के ध्वंसक रूप के चित्र हैं अथवा सामाजिक असंगतियों को व्यंग्य का विषय बनाया गया है। इसमें सन्देह नहीं कि यह सम-सामयिक उपन्यास-साहित्य

की प्रमुख धारा है, यद्यपि इसने अभी तक हमें प्रेमचंद जैसा कोई बड़ा कलाकार नहीं दिया है ।

जिन कथाकारों का हमने ऊपर उल्लेख किया है उनमें, यशपाल सबसे प्रमुख हैं। यशपाल मार्क्सवादी कलाकार हैं और उनका दृष्टिकोण स्वतंत्र रूप से विकसित हुआ है, परन्तु कला के क्षेत्र में वह प्रेमचंद की ही कला को आगे बढ़ाते हैं। उनके प्रमुख उपन्यास हैं: दादा कामरेड, दिव्या पार्टी कामरेड देशद्रोही, मनुष्य के रूप, और पक्का कदम। इनमें 'दिव्या' बौद्ध-युगीन ऐतिहासिक पृष्ठभूमि स्वीकार करते हुए भी रूपजीवी नारी की आर्थिक और सामाजिक हीनता का आलेखन है। 'दादा कामरेड', 'पार्टी कामरेड' और 'देशद्रोही' क्रांतिकारी और कम्युनिष्ट जीवन के चित्र हैं और शेष दो सामाजिक जीवन की मार्क्सवादी व्याख्या। यशपाल ने मार्क्सवाद के सिद्धांतों की व्याख्या और पुष्टि के लिए कथानक प्रस्तुत कर उपन्यास खड़े किए हैं और विरोधी दृष्टिकोण के लिए गांधीवाद की चीर-फाड़ भी उन्होंने की है। परन्तु अन्ततः और मूलतः राजनीतिक सिद्धि का दृष्टिकोण रखते हुए भी वह प्रेम-कथा को ही प्रधानता देते हैं। उनका श्रेष्ठतम उपन्यास 'मनुष्य के रूप' है जिसमें उन्होंने धनसिंह और सोना के माध्यम से मनुष्य की हीनता और महानता के यथार्थ अध्ययन का प्रयास किया है। इस उपन्यास में लेखक ने अर्थ और काम को जीवन के प्रमुख प्रेरणा-सूत्रों के रूप से उपस्थित किया है और इन पर आधारित जीवन के व्यंग्य को उभारा है। जहां तक औपन्यासिक कला का प्रश्न है, यशपाल अपने वर्ग के कलाकारों में सबसे आगे हैं। उनमें राजनैतिक जागरूकता भी सबसे अधिक है।

उपेन्द्रनाथ अश्क के 'सितारों के खेल' और 'गिरती दीवारें' उपन्यास मध्यवित्तीय जीवन से सम्बन्धित रचनाएं हैं। पिछले उपन्यास में वह विशेष रूप से सफल हैं। मंजी हुई भाषा में सीधे-सादे ढंग से, स्थानीय रंग देते हुए जीवन के विशिष्ट चित्रण में वह सिद्ध-हस्त हैं।

भगवतीचरण वर्मा ने 'टेढ़े-मेढ़े रास्ते' में १९३० की राजनैतिक पृष्ठभूमि उपस्थित की है, जो प्रेमचंद की 'कर्मभूमि' में कहीं अधिक स्पष्ट है। अपने दूसरे उपन्यास 'आखिरी दांव' में उन्होंने फिल्म-जीवन को बारीकी से देखा है। वह कथा-सूत्रों का विकास स्वच्छंदतावादी ढंग से करते हैं, परंतु उनके चरित्र यथार्थ-जीवन के प्रतिरूप ही हैं।

युवक उपन्यासकारों में रांगेय राघव, अमृतलाल नागर और अंचल विशेष कृती हैं। रांगेय राघव ने 'मुर्दों का टीला' उपन्यास में मोहन-जोदड़ो

और हड़प्पा की ह्रासोन्मूलक सामंती संस्कृति का खाका उतारा है और 'घरौंदे' तथा 'विषाद-मठ' में आज की राजनीति को उपन्यास का विषय बनाया है। उनकी सभी रचनाएं उनकी राजनैकति सूक्ष्म दृष्टि और सर्जनात्मक प्रतिभा की सूचक हैं। अमृतलाल नागर ने हमें दो उपन्यास दिए हैं: महाकाल' और 'सेठ बांकेलाल'। दोनों हिंदी की विशिष्ट कृतियां मानी जाएंगी। बंगाल के अकाल पर लिखी रचनाओं में 'महाकाल' और 'अन्नदाता' हिंदी की सर्वश्रेष्ठ रचनाएं हैं। दूसरी रचना के लेखक श्री कृष्णचन्द्र हैं, जो प्रेमचन्द परम्परा में हिंदी-उर्दू के प्रसिद्ध कथाकार हैं। यही रचनाएं इस विषय पर लिखी बंगाली रचनाओं के समकक्ष रखी जा सकती हैं। परन्तु 'महाकाल' में कहीं-कहीं यथार्थ वर्जनीय सीमाओं तक पहुंच गया है। रामचंद्र तिवारी की 'सरिता, सागर और अकाल' इस विषय पर एक अन्य सुन्दर कृति है। अमृतलाल नागर ने 'सेठ बाँकेलाल' में सेठ जी के व्यक्तित्व और उनके लबो-लहजे को ऐसी खूबी से उतारा है कि चित्र बड़ा मनोरंजक हो जाता है। अंचल मूलतः कवि हैं, परन्तु कथा-जगत में भी उन्होंने अपना विशिष्ट स्थान बना लिया है। उनकी प्रारम्भिक रचनाएं मूलतः स्वच्छन्दतावादी हैं और उनमें प्रेम और लालसा के अतिरंजित चित्र हैं। परन्तु 'चढ़ती धूप' में उन्होंने बयालीस की पृष्ठ-भूमि पर प्रेम और क्रांति का जो द्वन्द विस्तारपूर्वक उपस्थित किया है, वह स्थान-स्थान पर शोलोखव की याद दिलाता है। 'उल्का' में उन्होंने अपने ढंग की नई क्रांतिकारी कथा कही है। परन्तु कथा के अतिविस्तार और संवादों की विस्तृति ने कला को हानि पहुंचाई है। फिर भी इस उपन्यास में हमें एक सशक्त सर्जक के दर्शन होते हैं। अंचल की अन्तिम रचना 'मरु-प्रदीप' अपेक्षाकृत छोटे पट को लेकर चलती है। उसकी रूप-रेखाएं अधिक संयमित हैं और उनमें विधवा के जीवन की कुण्ठा और उसके आकर्षण को बड़े मार्मिक ढंग से चित्रित किया गया है। उपन्यास का अन्त हम में विद्रोह नहीं जगाता। उसमें वर्तमान सामाजिक व्यवस्था की स्वीकृति है, परन्तु यह कदाचित युग-सत्य ही है। फिर भी चित्रण की नई कला इस रचना में मिलती है। इसी संयत भूमि पर चलकर लेखक हमें अपनी श्रेष्ठतम कृतियां दे सकेगा। अंचल की ही भूमि पर उपन्यास देने वाले एक अन्य लेखक श्री कृष्णदास हैं, जिनके 'अग्निपथ' और 'क्रांतिदूत' उपन्यासों में हमें रूसी कथा की परिचित प्रतिध्वनियां मिलती हैं।

अन्त में हमें कुछ ऐसे उपन्यासकारों का उल्लेख करना है जो मार्क्स-वादी या साम्यवादी नहीं हैं, न प्रगतिशीलता का बिल्ला लगाकर सामने आते

हैं, परन्तु जिन्होंने प्रेमचंदोत्तर युग में बहुत सुन्दर चित्र हमें दिए हैं। ये उपन्यासकार हैं—गंगाप्रसाद मिश्र, मन्मथनाथ गुप्त, विष्णु प्रभाकर और यज्ञदत्त शर्मा। गंगाप्रसाद मिश्र उपन्यास की अपेक्षा कहानी में अधिक सफल हैं। उनकी भाषा-शैली और सामाजिक संवेदना हमें प्रेमचंद की याद दिलाती है। मन्मथनाथ गुप्त ने लगभग आधे दर्जन उपन्यासों में युद्धोत्तर जीवन का चित्रण किया है। 'जिच' में उन्नीस-सौ-बयालीस का विद्रोह है, 'जय-यात्रा' और 'गृह-युद्ध' में हिंदू-मुस्लिम दंगों का यथार्थ चित्रण है, 'सुधार' और 'चक्की' में मध्यवित्तीय जीवन की मजबूरियां हैं। 'अवसान' उपन्यास में वह प्रेमचंद की जीवन-दृष्टि और शरच्चन्द्र की मानवीय संवेदना को एक स्थान पर संघटित कर सके हैं। इस उपन्यास में हम एक सामान्य स्त्री को सामाजिक मजबूरियों में से गुज़रते देखते हैं। वह वेश्या बन जाती है और अन्त में पति कहलाये जाने वाले प्राणी पर सब कुछ निछावर कर फिर एक बार गृहस्थिन बनने की चेष्टा करती है यद्यपि वह इस में असफल रहती है। मार्मिकता में यह कृति शरच्चन्द्र के 'चरित्रहीन' के जोड़ की कृति है। मन्मथनाथ गुप्त ने बंगला और हिंदी उपन्यास को कुछ नया दिया है। विष्णु प्रभाकर का केवल एक उपन्यास 'ढलती रात' हमारे सामने आया है। उसमें हिन्दू-मुस्लिम दंगे की पृष्ठभूमि पर निशिकांत के क्लर्क-जीवन की संपूर्ण रूपरेखा उपस्थित है। इस बृहद् उपन्यास में क्लर्क-जीवन के नौकरशाही वातावरण और उसकी सामाजिक पृष्ठभूमि का उद्घाटन किया है। यह मध्यवित्तीय जीवन के चित्रण की एक नई दिशा है। यज्ञदत्त शर्मा का पहला प्रमुख उपन्यास 'इन्सान' है जिसमें उन्होंने विभाजन की समस्याओं का चित्रण किया है। उनके अन्य उपन्यास नवनिर्माण से संबंधित हैं। 'निर्माण-पथ' 'महल और मकान' और 'बदलती राहें' पिछले चार वर्षों की राजनीति को पृष्ठभूमि बना कर विभिन्न वर्गों और राजनैतिक वादों का विवेचन करते हैं। अभी ये तरुण उपन्यासकार अपनी प्रतिभा मे सभी औपन्यासिक उपकरण संयोजित नहीं कर सके हैं, परन्तु हिंदी को इन से आशा ही होनी चाहिए।

संक्षेप में, प्रेमचंद के बाद यथार्थवादी-उपन्यास-धारा के विकास की यह रूपरेखा है। जैसा हम ने पहले कहा है, पिछले अठ्ठारह वर्षों की प्रमुख धारा यथार्थवादी धारा ही है, यद्यपि उसे हम व्यक्तिवादी, मनौवैज्ञानिक और लोकजीवन-वादी एवं समाजवादी नामों से विभिन्न श्रेणियाँ दे देते हैं। वास्तव में व्यक्तिवादी और मनोवैज्ञानिक कथाकार पश्चिमी यूरोप के नवीन आन्दोलनों से प्रभाव ग्रहण करते हैं और

डी० एच० लारेन्स, जेम्स ज्वाइस, हेनरी जेम्स, सामरसेट मॉम और जीन पाल सात्रे की ध्वजा ले कर आगे बढ़ते हैं। प्रेमचंद की यथार्थवादी परंपरा इससे भिन्न है। उसके उपकरण सामाजिक हैं। वह समाज और राष्ट्र की प्रवृत्तियों पर सूक्ष्म आलोचना करती है और व्यक्ति के सामाजिक और राजनैतिक प्रतिबंधों के प्रति विद्रोह उठाती है। कालांतर में यह परंपरा और भी पुष्ट होगी और वादों से ऊपर उठकर हमें 'गोदान' के ढंग की महाकृति दे सकेगी।

अन्त में हम उन कुछ प्रवृत्ति-धाराओं की रूपरेखाएं उपस्थित करेंगे जिनमें प्रेमचंदोत्तर हिंदी उपन्यास-साहित्य विकसित हो रहा है :

: १ : प्रेमचंद के उपन्यास, कम-से-कम वृहद् राजनैतिक-उपन्यास, गाँव के जीवन तक सीमित रहे हैं। 'गोदान' में उन्होंने गाँव के विघटन की कहानी भी कही है और गोबर' को नगर के सद्यः विकसित औद्योगिक-जीवन में पहुंचा कर वह कदाचित् मजदूर-जीवन की कहानी कहने जा रहे हैं। अपने फिल्म 'मजदूर' में उन्होंने भारतीय जीवन के इस नवीन अंग को उठाया भी था। परन्तु वह मजदूर-जीवन की कहानी उतनी विशदता और उतने अधिकार से नहीं कह सके। बाद के लेखकों ने इसी पक्ष को विशेष विकसित किया।

: २ : प्रेमचंद के साहित्य में अपने अंतर्विरोधों के कारण मध्यवर्ग व्यंग्य का विषय बना है, परन्तु कम-से-कम उपन्यासों में वह उसकी सभी दिशाएं लेकर नहीं चलते। एक तरह से ग्रामीण जीवन और राजनैतिक हलचलों के चित्रण के आगे उन्होंने मध्यवर्गीय-जीवन की उपेक्षा की है। प्रेमचन्द के बाद के यथार्थवादी कलाकार गाँव में नहीं पैठ सके हैं। उनके लिये नगर ही महत्त्वपूर्ण हो गये हैं और नगर के जीवन के औद्योगिक और मध्यवित्तीय आर्थिक पक्ष की ओर ही उनका ध्यान अधिक गया है। अश्क, भगवतीचरण वर्मा, भगवतीप्रसाद वाजपेयी, राधाकृष्ण, अज्ञेय और यशपाल के साहित्य का मूल स्रोत मध्य वर्ग ही है। उसी के चरित्र (पात्र) उनके अधिक निकट हैं।

: ३ : साहित्य में मनोवैज्ञानिकता की पुकार है। कहा गया है कि प्रेमचंद की रचनाओं में मनोवैज्ञानिक गहराई नहीं है। फलतः बाद के लेखक उपन्यासकार से अधिक मनोविश्लेषक बन गये हैं। इससे कथा-गुंफन, संभाषण, शैली, चरित्रांकन—सभी क्षेत्रों में महान परिवर्त्तन हुआ। एक तरह से जीवन दृष्टि ही बदल गई। समग्र मानव की जगह खण्ड-मानव की प्रतिष्ठा हुई।

: ४ : प्रेमचंद तटस्थ चित्रकार तो नहीं है, परन्तु आदर्श की ओर बढ़ते हुए भी वे अपनी कथा और अपने पात्रों को स्वयं बोलने देते हैं। बाद के कलाकार आलोचना की प्रवृत्ति ले कर चलते हैं और एक तरह सटीक कथाएं लिखते हैं। वास्तव में परवर्त्ती कलाकार कलाकार न रह कर जीवन-समीक्षक रह गया है। कहीं-कहीं टीका-शैली इतनी जटिल और दुर्वह हो गई है कि उपन्यास का जीवन-रस ही सूख गया है। जहां उपन्यासकार लिखते समय टीका को बचा सका है, केवल वस्तुचित्रण-मात्र तक सीमित रह गया है, वहां वह सुन्दर-चित्रण उपस्थित कर सका है।

: ५ : प्रेमचंद का आदर्शवाद सोद्देश्य था। आज के उपन्यास-साहित्य का वस्तुवाद भी सोद्देश्य है। कम-से-कम दोनों में यह समानता है, परन्तु दोनों की प्रक्रिया और शैली में अन्तर है। उदाहरण के लिये, मध्यवर्ग के चित्रण में यशपाल जिस शैली-शिल्प को अपनाते हैं वह प्रेमचन्द के शैली-शिल्प से भिन्न है : इतना भिन्न कि वह प्रेमचंद की परम्परा से अलग जान पड़ता है यह शैली-शिल्प जहाँ एक ओर अधिक संगठन की ओर बढ़ता है, जैसे यशपाल के उपन्यासों में, वैसे दूसरी ओर वह प्रेमचंद के साहित्य की शैली-संबंधी शिथिलता को और भी बढ़ाता हुआ अराजक बन जाता है, जैसे अज्ञेय और इलाचन्द्र जोशी की रचनाओं में। वास्तव में शैली-शिल्प की दृष्टि से प्रेमचंदोत्तर-साहित्य एकदम प्रयोगवादी है। उसमें कलात्मक संयोजन की अपेक्षा विशृंखलता के तत्त्व ही अधिक मिलते हैं।

: ७ : कुछ रचनाओं में स्थानीय अथवा संवेदनात्मक यथार्थ चित्रण के रूप में एक नया प्रतिमान सामने आता है जैसे निराला के 'बिल्लेसुर-बकरिहा' और नागार्जुन के 'बलचनमा' में। वास्तव में ये रचनाएं यथार्थवादी धारा की परिणति ही हैं। निराला के 'चमेली' (अपूर्ण) और 'काली करतूतें' उपन्यास, गाँव को जिस रूप में उपस्थित करते हैं, वह प्रेमचंद के दृष्टिकोण का विरोधी ध्रुव है।

: ८ : यथार्थवादी धारा का प्रभाव ऐतिहासिक उपन्यासों पर भी पड़ा है और उनमें हमें तत्कालीन परिस्थितियों और विवरणों के सूक्ष्म आकलन की ओर आग्रह मिलता है। यशपाल का 'दिव्या' और राहुल के उपन्यास इस प्रवृत्ति के साक्षी हैं।

संक्षेप में, प्रेमचंदोत्तर उपन्यास-साहित्य की यह विकास-रेखा है। प्रेमचंद के बाद भारत के राजनैतिक, आर्थिक और सामाजिक जीवन में बड़े-बड़े कांड घटित हुए हैं। धरती ही उलट गई है—उनतालीस-पैंतालीस का द्वितीय

महायुद्ध, बयालीस का विस्फोट, बंगाल का अकाल, मध्यवित्त का आर्थिक विघटन, मानव की नैतिक और आध्यात्मिक भित्तियों का उन्मूलन, पंजाब-बंगाल के हिंदू-मुस्लिम दंगे और शरणार्थी-समस्या। बयालीस के विद्रोह पर सबसे महत्त्वपूर्ण उपन्यास यशपाल का 'देशद्रोही' है। प्रतापनारायण श्रीवास्तव के एक उपन्यास 'बयालीस' को भी हम ले सकते हैं। बंगाल के अकाल पर 'महाकाल' और 'विषाद-मठ' का हमने पहले उल्लेख किया है। शरणार्थी-समस्या पर 'और इंसान मर गया' नाम का रामानन्द सागर का उपन्यास विशेष रूप से महत्त्वपूर्ण है। इसमें संदेह नहीं कि प्रेमचंद के बाद यथार्थवाद ही उपन्यास-क्षेत्र की सब से अधिक शक्तिशाली-धारा है और अपने क्षेत्र से बाहर जा कर उसने अन्य क्षेत्रों को भी प्रभावित किया है, फिर भी यह स्पष्ट है कि प्रेमचंद के सामाजिक यथार्थवाद के क्षेत्र में केवल यशपाल ही प्रमुख रूप से सामने आते हैं। वास्तव में प्रेमचंद के बाद के अधिकांश यथार्थवादी उपन्यासकार असाधारण, असामान्य या वर्गीय को महत्त्व देते हैं। नग्न-चित्रण में भी असाधारणता का आग्रह है। इससे यथार्थ सुन्दर और भावोत्तेजक बनने के स्थान पर असुन्दर और जुगुप्सुक बन जाता है। परन्तु इस सामान्य प्रवृत्ति के कुछ अपवाद भी हैं। जैसे जीवनी के रूप में लिखा उपेन्द्रनाथ अश्क का 'गिरती दीवारें' उपन्यास यथार्थवादी उपन्यास-धारा में एक नई कड़ी जोड़ता है। इस श्रेणी की रचनाओं में मध्यवित्तीय और औद्योगिक जीवन का सूक्ष्म आकलन हुआ है। गाँवों के जीवन से हट कर हमारी दृष्टि नगरों के जीवन की ओर गई है और वहीं अटक कर रह गई है। प्रेमचंद जैसा कोई बड़ा कलाकार हमें पिछले अट्ठारह वर्षों में दिखलाई नहीं देता, परन्तु सामयिक जीवन की ऐतिहासिक, मनोवैज्ञानिक और कलात्मक अभिव्यक्तियां कथा-साहित्य में स्पष्ट रूप से मिलती हैं।

: २६ :

कहानी-कला और आधुनिक हिन्दी कहानी

[१]

कविता और कहानी मनुष्य की प्राचीनतम साहित्यिक उपलब्धियाँ हैं। ऋग्वेद में श्रेष्ठ काव्य के साथ अनेकानेक कथा-सूत्र, आख्यान देवकथा, रूपक आदि हमें मिलते हैं। बाद में उपनिषदों ब्राह्मणों और जातक-कथाओं में नीति अथवा दर्शन-धर्म के सिद्धान्त-प्रतिपादन के लिए कहानी का उपयोग हुआ है। पंचतंत्र और हितोपदेश की कहानियां भारतीय नीति-साहित्य के अनमोल रत्न हैं। पहली शताब्दी के बाद प्रेमाख्यान, कथा शृंखला अथवा ऐतिहासिक रोमांस के रूप में एक नई प्रकार की कथा सामने आई और बृहद् कथा, कथासरित्सागर, कादम्बरी और दशकुमार-चरित्र जैसे कथा-ग्रन्थों का प्रादुर्भाव हुआ। मध्य-युग में जहां आख्यान-काव्य 'मंगल' चरित्र-काव्य और रासा एवं रासो ग्रन्थों के रूप में पद्यात्मक कहानी लोक प्रिय रही, वहां धार्मिक 'वार्त्ताओं' राजस्थानी 'ख्यातों-बातों' और 'तिलिस्मे-होशरुबा' तथा 'उमरू ऐयार' जैसे क़िस्सों के रूप में गद्यात्मक कहानी का भी प्रचार रहा। आधुनिक-युग के आरम्भ में पौराणिक-कथाओं और जनप्रथित आख्यानों

को गद्य का रूप दिया गया और खड़ी बोली की कहानी का प्रवर्त्तन हुआ। उन्नीसवीं शताब्दी में काल्पनिक-यात्राओं, ललित निबंधों, 'सपनों' व्यंग्य-विनोद वार्त्ताओं ने कहानी के तत्त्वों का उपयोग किया और इस भूमिका पर धीरे-धीरे बढ़ते हुए हम उस साहित्य-प्रकार पर पहुंचे जिसे हम लघुकथा गल्प अथवा, अधिक प्रचलित परिभाषा में, कहानी कहते हैं। इस प्रकार प्राचीनतम काल से भारतवर्ष कहानी के क्षेत्र में प्रतिनिधि रचनाएं उपस्थित करता रहा है और संसार के कथा-साहित्य पर इस देश की कहानियों का गहरा प्रभाव है। परन्तु आकार-प्रकार में यह प्राचीन कहानी आधुनिक कहानी से अभिन्न होते हुए भी तत्त्वतः उससे भिन्न है। वास्तव में हिंदी कहानी बीसवीं शताब्दी की साहित्यिक उपलब्धि है और उसके स्वरूप-निर्माण के तत्त्व, उसके लक्ष्य, उसके उपकरण और साधन एकांतः नवीन हैं।

फिर 'कहानी' को हम क्या मानें? हम उसे किस प्रकार शब्दों में बाँधें? उसकी परिभाषा क्या होगी? कहानी की कुछ चलती हुई परिभाषाएं उसे विस्तार-लाघव (कि वह तीस मिनट में या एक बैठक में पढ़ी जाए) पर बल देते हैं, परन्तु यह कहानी को देखने की सतही-दृष्टि है। कहानी की मूल-संवेदना और उसकी आंतरिक स्थिति का ध्यान रखते हुए हम यह कह सकते हैं कि कहानी वह कथात्मक गद्य-रचना है जो एकोन्मुखी प्रभाव-समष्टि का लक्ष्य सामने रख कर भाव, विचार, चरित्र, घटना अथवा वातावरण में से किसी एक विषय की संवेदनात्मक एवं अनन्य विवृत्ति को उपस्थित करे। प्रतिपाद्य का एकत्व लघु-विस्तार की अपेक्षा रखता है, परन्तु इसे कहानी का एक मात्र अनिवार्य तत्त्व नहीं कहा जा सकता' क्योंकि 'आँधी' (प्रसाद) जैसी बड़ी कथा भी कहानी ही कही जायेगी और 'परख' 'त्यागपत्र' जैसे लघु उपन्यास एकान्विति के अभाव के कारण उपन्यास ही रहेंगे। कहानी नहीं कहे जा सकेंगे। आज कहानी अपने आकार-प्रकार को और भी संकुचित कर रही है और 'लघु-कथा' नाम से एक नया कला-रूप ही विकसित हो रहा है। नई कहानी अनावश्यक विस्तार को छोड़ कर संकलन-त्रय में सिमिट आई है और किसी एक पात्र के अंतर्मुखी चेतना-प्रवाह के कुछ क्षणों की विवृत्ति ही उसका लक्ष्य बन गई है। फलस्वरूप, 'उसने कहा था' जैसी कहानी भी आज महाकाव्यात्मक-कहानी (एपिक स्टोरी) कहलाने लगी है और जीवन-विस्तार या खण्ड-जीवन के प्रेमचंद के कथाचित्र भी पाठक की संज्ञा पर भारी हैं। इस संक्षेप के कारण ही आज कहानी ने गीतात्मक तत्त्वों का आकलन किया है और केवल प्रभावा-

न्विति को अपना ध्येय बनाया है। वह 'नावक का तीर' बन गई है।

कहानी छोटी हो या बड़ी, नई हो या पुरानी, विषय का एक तत्त्व और प्रभावान्विति उसके दो प्रमुख उपसर्ग हैं। प्रत्येक कहानी में कोई जीवन-मर्म अंतर्हित होता है, जो भाव-विशेष चरित्र-विशेष या विचार-विशेष में प्रस्फुट होता है। यह मूल भाव या जीवन-मर्म कहानीकार की अंतर्दृष्टि से पुष्ट होकर चमत्कारिक ढंग से उद्घटित होता है और ऐसे प्रभावव्यूह की सृष्टि करता है जो हमारी संवेदना को झकझोर देता है और हृदय में एक चुभन पैदा करता है। घटना, चरित्र, वातावरण, संवाद पाठक के चित्त को तरल करने में सहायक होते हैं और जब प्रभावों की इस सामूहिकता से मन आहत हो उठता है तो यह जीवन-मर्म मार्मिक-संवेदना का रूप धारण कर सूक्ष्म एवं तीव्र शल्य की भाँति हृदय को चीर कर प्रवेश कर जाता है। कहानी की सारी तैयारी, उसकी उठान, उसका उभार और विस्तार इसी प्रभाव-समष्टि की योजना के लिए है जो छेड़े हुए तार की झंकार की तरह दूर तक जाती है और हमारे अंतरंग के उपचेतनीय तत्त्वों में आलोड़न विलोड़न उपस्थित करती है।

उपन्यास जहां जीवन के नानात्व और वैविध्य को सामने लाता है और मानव की विविध भावनाओं और अनेकमुखी वत्तियों का प्रसार उपस्थित करता है, वहाँ कहानी अपनी परिमित दौड़ में एक संपूर्ण चरमोत्कर्ष को व्यंजित करती है। उसमें खिले हुए गुलाब की पूर्णता है, उपवन का सौन्दर्य प्रसार नहीं। यही कारण है कि उसका रचना-विधान उपन्यास के रचना-विधान से नितांत भिन्न है। वह एक स्वतंत्र कला-कोटि के रूप में प्रतिष्ठापित है। उसकी शिल्प-विधि में औपन्यासिक, नाटकीय और प्रगीतात्मक तत्त्वों का योग होने पर भी वह उपन्यास, नाटक और प्रगीत से भिन्न, एक निश्चित् और संपूर्ण इकाई है। ललित निबंध, रेखाचित्र, रिपोर्ताज और एकांकी, कहानी के अधिक निकट पड़ते हैं, परन्तु कहानी गतिमय, जीवन या सतत विवृत्त मन का संवेदनात्मक, भाव-प्रवण, एकान्वित, गतिमय चित्रमय होने के कारण इनसे कुछ कम या अधिक है। सफल कहानी में भ्रांति की कोई गुंजाइश नहीं रहती। वह कहानी के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं हो सकती। यह ठीक है कि इन कलारूपों की कोई मध्यवर्गिनी रेखा उपस्थित नहीं की जा सकती और जैनेन्द्र अथवा उग्र जैसे कलाकारों की कुछ रचनाएं स्पष्ट ही संधि-रेखा पर स्थित हैं, जो निबंधात्मक कहानी या कथात्मक निबंध हैं, परन्तु फिर भी सामान्यतः इनमें भेद रहता ही है। निबंध में विचार का उभार अधिक है और कथा

उदाहरण मात्र है, तो रेखाचित्र अगत्यात्मक चरित्रांकन मात्र है, रिपोर्ताज विवरणप्रधान भाव-संकलन है तो एकांकी अभिनयात्मक एवं संवाद-प्रधान कथा-इसमें एकांकी ही कहानी के सब से निकट है, परन्तु रंग-संकेत की प्रचुरता और नाटकीय दृष्टि की व्यापकता के कारण उसे कहानी का मंचीय रूप नहीं कहा जा सकता। नई कहानी में हम जिस अंतर्वर्तिनी मनोदृष्टि से परिचित होते हैं, मन के सूक्ष्म संघातों का चमत्कारी प्रसार देखते हैं, वह न अभिनय में आ सकता है, न उसे संवादों में बांधा जा सकता है। कहानी का मनोमंच एकांकी के रंगमंच से कहीं अधिक सूक्ष्म, सांकेतिक और अंतरंगवर्त्ती है।

(२)

कहानी पर विचार करते हुए हम कहानीकार की प्रेरणा, कहानी के वस्तुविन्यास, पात्रों के चरित्र-चित्रण, संवाद-योजना, भाषा-शैली और देश-काल पर ऊहापोह करते हैं। इनमें प्रेरणा का तत्व सर्वप्रथम और सूक्ष्म है और उसका कहानी की प्रभाव-समष्टि से गहरा सम्बन्ध है। वह संपूर्ण कहानी में ओतप्रोत रहता है, यद्यपि कोई-कोई कहानीकार स्वयं अपनी ओर से पाठकों को निभ्रांत रखने के लिए मनोवैज्ञानिक तथ्य या निष्कर्ष के रूप में कहानी के आदि, मध्य या अन्त में उसका उल्लेख कर देते हैं। यह प्रेरणा का तत्व कहानी का प्राण है। यह कहानी में जितना ओतप्रोत एवं अंतर्निहित रहेगा, कहानी का प्रभाव-विस्तार उतना ही दीर्घ और व्यापक होगा। जैसे-जैसे कहानी-कला का विकास होता गया है, वैसे-वैसे कहानीकार की दृष्टि वस्तु-संगठन, चरित्र-चित्रण और वातावरण निर्माण से हट कर सूक्ष्म प्रेरण-स्रोत्रों पर केन्द्रित होती गई है। प्रेमचन्द ने ठीक ही लिखा है कि 'आज लेखक केवल कोई रोचक दृश्य देख कर कहानी लिखने नहीं बैठ जाता। उसका उद्देश्य स्थूल सौन्दर्य नहीं है। वह तो कोई ऐसी प्रेरणा चाहता है जिसमें सौन्दर्य की झलक हो और उसके द्वारा वह पाठकों की सुन्दर भावनाओं को स्पर्श कर सके।' (प्रेमचंद : कुछ विचार, १९३९, पृ० ५६) अंग्रेजी में इस प्रेरणा तत्व को 'थीम' 'प्लाट जर्म', 'जर्मिनल आइडिया' या 'मोटिफ' कहा जाता है। कहानीकार के अन्तःकरण में कल्पना, भावना, अनुभूति, विचार या तथ्य का कोई सूक्ष्म बुद्बुद अवश्य रहता है जो उद्बुद्ध होकर बीज-भाव के रूप में विकसित होता हुआ कहानीकार की संवेदना से पुष्ट होकर कहानी के रूप में संगठित हो जाता है। जीवन का कोई मार्मिक प्रसंग, अनुभूति का कोई सूक्ष्म स्वरूप, कहानीकार का कोई आत्मानुभव, चरित्र की कोई मनोवैज्ञानिक

न्विति को अपना ध्येय बनाया है। वह 'नावक का तीर' बन गई है।

कहानी छोटी हो या बड़ी, नई हो या पुरानी, विषय का एक तत्त्व और प्रभावान्विति उसके दो प्रमुख उपसर्ग हैं। प्रत्येक कहानी में कोई जीवन-मर्म अंतर्हित होता है, जो भाव-विशेष चरित्र-विशेष या विचार-विशेष में प्रस्फुट होता है। यह मूल भाव या जीवन-मर्म कहानीकार की अंतर्दृष्टि से पुष्ट होकर चमत्कारिक ढंग से उद्घटित होता है और ऐसे प्रभावव्यूह की सृष्टि करता है जो हमारी संवेदना को झकझोर देता है और हृदय में एक चुभन पैदा करता है। घटना, चरित्र, वातावरण, संवाद पाठक के चित्त को तरल करने में सहायक होते हैं और जब प्रभावों की इस सामूहिकता से मन आहत हो उठता है तो यह जीवन-मर्म मार्मिक-संवेदना का रूप धारण कर सूक्ष्म एवं तीव्र शल्य की भाँति हृदय को चीर कर प्रवेश कर जाता है। कहानी की सारी तैयारी, उसकी उठान, उसका उभार और विस्तार इसी प्रभाव-समष्टि की योजना के लिए है जो छेड़े हुए तार की झंकार की तरह दूर तक जाती है और हमारे अंतरंग के उपचेतनीय तत्त्वों में आलोड़न विलोड़न उपस्थित करती है।

उपन्यास जहां जीवन के नानात्व और वैविध्य को सामने लाता है और मानव की विविध भावनाओं और अनेकमुखी वत्तियों का प्रसार उपस्थित करता है, वहाँ कहानी अपनी परिमित दौड़ में एक संपूर्ण चरमोत्कर्ष को व्यंजित करती है। उसमें खिले हुए गुलाब की पूर्णता है, उपवन का सौन्दर्य प्रसार नहीं। यही कारण है कि उसका रचना-विधान उपन्यास के रचना-विधान से नितांत भिन्न है। वह एक स्वतंत्र कला-कोटि के रूप में प्रतिष्ठापित है। उसकी शिल्प-विधि में औपन्यासिक, नाटकीय और प्रगीतात्मक तत्त्वों का योग होने पर भी वह उपन्यास, नाटक और प्रगीत से भिन्न, एक निश्चित् और संपूर्ण इकाई है। ललित निबंध, रेखाचित्र, रिपोर्ताज और एकांकी, कहानी के अधिक निकट पड़ते हैं, परन्तु कहानी गतिमय, जीवन या सतत विवृत्त मन का संवेदनात्मक, भाव-प्रवण, एकान्वित, गतिमय चित्रमय होने के कारण इनसे कुछ कम या अधिक है। सफल कहानी में भ्रांति की कोई गुंजाइश नहीं रहती। वह कहानी के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं हो सकती। यह ठीक है कि इन कलारूपों की कोई मध्यवर्गिनी रेखा उपस्थित नहीं की जा सकती और जैनेन्द्र अथवा उग्र जैसे कलाकारों की कुछ रचनाएं स्पष्ट ही संधि-रेखा पर स्थित हैं, जो निबंधात्मक कहानी या कथात्मक निबंध हैं, परन्तु फिर भी सामान्यतः इनमें भेद रहता ही है। निबंध में विचार का उभार अधिक है और कथा

उदाहरण मात्र है, तो रेखाचित्र अगत्यात्मक चरित्रांकन मात्र है, रिपोर्ताज विवरणप्रधान भाव-संकलन है तो एकांकी अभिनयात्मक एवं संवाद-प्रधान कथा- इसमें एकांकी ही कहानी के सब से निकट है, परन्तु रंग-संकेत की प्रचुरता और नाटकीय दृष्टि की व्यापकता के कारण उसे कहानी का मंचीय रूप नहीं कहा जा सकता। नई कहानी में हम जिस अंतर्वर्तिनी मनोदृष्टि से परिचित होते हैं, मन के सूक्ष्म संघातों का चमत्कारी प्रसार देखते हैं, वह न अभिनय में आ सकता है, न उसे संवादों में बांधा जा सकता है। कहानी का मनोमंच एकांकी के रंगमंच से कहीं अधिक सूक्ष्म, सांकेतिक और अंतरंगवर्त्ती है।

(२)

कहानी पर विचार करते हुए हम कहानीकार की प्रेरणा, कहानी के वस्तुविन्यास, पात्रों के चरित्र-चित्रण, संवाद-योजना, भाषा-शैली और देश-काल पर ऊहापोह करते हैं। इनमें प्रेरणा का तत्व सर्वप्रथम और सूक्ष्म है और उसका कहानी की प्रभाव-समष्टि से गहरा सम्बन्ध है। वह संपूर्ण कहानी में ओतप्रोत रहता है, यद्यपि कोई-कोई कहानीकार स्वयं अपनी ओर से पाठकों को निभ्रांत रखने के लिए मनोवैज्ञानिक तथ्य या निष्कर्ष के रूप में कहानी के आदि, मध्य या अन्त में उसका उल्लेख कर देते हैं। यह प्रेरणा का तत्व कहानी का प्राण है। यह कहानी में जितना ओतप्रोत एवं अंतर्निहित रहेगा, कहानी का प्रभाव-विस्तार उतना ही दीर्घ और व्यापक होगा। जैसे-जैसे कहानी-कला का विकास होता गया है, वैसे-वैसे कहानीकार की दृष्टि वस्तु-संगठन, चरित्र-चित्रण और वातावरण निर्माण से हट कर सूक्ष्म प्रेरण-स्रोत्रों पर केन्द्रित होती गई है। प्रेमचन्द ने ठीक ही लिखा है कि 'आज लेखक केवल कोई रोचक दृश्य देख कर कहानी लिखने नहीं बैठ जाता। उसका उद्देश्य स्थूल सौन्दर्य नहीं है। वह तो कोई ऐसी प्रेरणा चाहता है जिसमें सौन्दर्य की झलक हो और उसके द्वारा वह पाठकों की सुन्दर भावनाओं को स्पर्श कर सके।' (प्रेमचंद : कुछ विचार, १९३९, पृ० ५६) अंग्रेजी में इस प्रेरणा तत्व को 'थीम' 'प्लाट जर्म', 'जर्मिनल आइडिया' या 'मोटिफ' कहा जाता है। कहानीकार के अन्तःकरण में कल्पना, भावना, अनुभूति, विचार या तथ्य का कोई सूक्ष्म बुद्बुद अवश्य रहता है जो उद्बुद्ध होकर बीज-भाव के रूप में विकसित होता हुआ कहानीकार की संवेदना से पुष्ट होकर कहानी के रूप में संगठित हो जाता है। जीवन का कोई मार्मिक प्रसंग, अनुभूति का कोई सूक्ष्म स्वरूप, कहानीकार का कोई आत्मानुभव, चरित्र की कोई मनोवैज्ञानिक

भंगिमा, कोई अविस्मरणीय वातावरण, कोई नीति-तत्व—ऐसा ही कुछ मूल उच्छ्वास कहानी की मौलिक प्रेरणा बनने में समर्थ है। सर्वप्रथम यह सूक्ष्म तत्व ही कहानीकार के मन में उदय होता है यद्यपि पाठक कहानी के अन्त में ही अप्रत्याशित प्रकाश-पुंज की भाँति उसे चमत्कृति के रूप में प्राप्त करता है।

प्रेरणा के बाद कहानी का दूसरा तत्त्व वस्तुविन्यास है। प्रेरणा में कहानी का प्रतिपाद्य सन्निहित रहता है परन्तु उसका विकास कथा-द्वारा ही होगा। अत. कथा-भाग और कथानक की अनिवार्यता सामने आती है। कथा भाग या कथांश में गतिशील इतिवृत्ति के रूप में कालक्रमानुसार घटना-संकलन रहता है। परन्तु कहानी वैसी अनगढ़ चीज नहीं है। जिस प्रभावैक्य को कहानी-कला लक्ष्य बना कर चलती है उसकी योजना कथानक के द्वारा ही हो सकती है। 'कथानक' का अर्थ है तर्क-संगत व्यापारों पर आधारित (कारण-कार्य-शृखला में पल्लवित) बुद्धिमूलक आकांक्षा समन्वित कथा-योजना। कहानीकार कथा को क्रमविकास-पद्धति पर विकसित करता है और उसे उतार-चढ़ाव देकर मार्मिक बनाता है। यहीं वस्तु-विधान की आवश्यकता पड़ती है। नई कहानी कथानक की अनिवार्यता के प्रति अविश्वासी है। वह उसे बंधन में जकड़ना नहीं चाहती। परन्तु मनोनिष्ठ एवं अंतर्वर्त्तिनी मनोवैज्ञानिक कहानियों को छोड़ कर शेष कहानियों में प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष में कथानक की योजना रहती ही है। प्रायः कहानियों में आरम्भ, उत्कर्ष और अन्त के तीन चरण स्पष्ट रहते हैं, यद्यपि कुछ कहानियां उत्कर्ष पर ही समाप्त हो जाती हैं अथवा उत्कर्ष से ही आरम्भ हो कर अन्त तक क्षिप्र गति से दौड़ लगाती हैं। कहानी के अल्प विस्तार के कारण कथानक को नाटक या उपन्यास के ढंग पर विकसित नहीं किया जा सकता। उसमें गति के तत्त्व को प्रधानता मिलती है और थोड़ी दौड़ के भीतर ही आरम्भ, मध्य (चरमोत्कर्ष) और अन्त के विन्दुओं की योजना रहती है।

कहानी की सीमित भूमि के कारण ही दुहरे और समवाही कथानक उसके लिए अनुपयुक्त हैं। सामान्यतः इतिवृत्त-प्रधान कहानियों में ऐसे कथानकों की योजना रहती है। ये कहानियां आकाँक्षा-तत्त्व पर आधारित रहती हैं और कथा की चमत्कार-योजना के द्वारा पाठक की जिज्ञासा का निरोध और समाधान ही उनका उद्देश्य रहता है। तिलिस्मी, जासूसी, साहसिक और घटना-प्रधान कहानिवां इस कोटि में आती हैं। कहानी में कथानक हो, वह सोद्देश्य हो, क्रमबद्ध हो, कारण-कार्य-परिणाम की योजना में शृंखलित हो औ

विश्वसनीय हो, ऐसी कहानी के सम्बन्ध में सामान्य मान्यता है। परन्तु यह भी स्मरण रखना होगा कि मनोवैज्ञानिक कहानियों में अन्तश्चेतना का चित्र उपस्थित करने या जीवन-प्रवाह को पकड़ने के लिए काल-क्रम को जानबूझ कर विश्रृंखलित किया जाता है और पात्रों के स्वच्छन्द मनःप्रवाह के कारण कथानक ही संकट में पड़ जाता है। नितांत नई कहानी खण्ड-जीवन या मानसी-जीवन को लेकर चलती है और मनोविश्लेषण की स्मृतिन्याससूलक पद्धति पर आधारित है जो अनुभूति को दिक्-कालनिरपेक्ष और स्वतन्त्र इकाई मानता है। अधिकांश घटनात्मक कहानियों में कथानक मनुष्य और भौतिक-जगत के द्वन्द पर आधारित रहता है और चारित्रिक कहानियां मनुष्य-मनुष्य के द्वन्द-चित्रण को अपना लक्ष्य बनाती हैं। फलस्वरूप घटना-प्रधान और चरित्र-प्रधान कहानियों का कथानक क्रमबद्ध रहता है। परन्तु मनोवैज्ञानिक कहानियाँ एक ही मनुष्य के भीतरी घात-प्रतिघात को लेकर चलती हैं जो उत्थान-पतनमूलक और भाव-विस्फोटित रहता है। फलतः ऐसी कहानियों में कथानक की क्रमबद्धता का आग्रह व्यर्थ है।

कथानक के विश्लेषण में आदि, मध्य और अन्त की योजना पर विचार करना आवश्यक हो जाता है। कहानी की प्रभावान्विति को लक्ष्य में रखकर ही इनका स्वरूप स्थिर होता है। आरम्भ नाटकीय हो, चित्र विधानपूर्ण हो, कुतूहलपूर्ण या इतिवृत्तात्मक हो, अथवा अन्त नाटकीय एवं सांकेतिक हो ऐसी अनेक बातें कही जाती हैं, परन्तु विशिष्ट कहानी को लेकर ही इन पर विचार किया जा सकता है। कहानी की प्रेरणा और उसके स्वरूप के अनुसार ही आदि, मध्य और अन्त की योजना समीचीन है। इनमें योगायोग होने से कहानी सम्पूर्ण और प्रभावशाली बनती है।

कहानी का तीसरा प्रमुख तत्त्व चरित्रचित्रण है। कहानी के उपजीव्य हैं—मनुष्य के द्वन्द-संघर्ष, सुख-दुःख, उत्कर्ष-अपकर्ष। मानव-जीवन की संपूर्ण सम्भावनाओं और विविध भंगिमाओं को लेकर कहानीकार मनोवैज्ञानिक तथ्यों और आदर्शोन्मुखी प्रेरणाओं को चित्रित करता है। अतः शील-चित्रण और चारित्र्य-वैचित्र्य उसके प्रमुख शस्त्र हैं। परन्तु कहानी में शील-निरूपण और व्यक्ति-वैचित्र्य की स्थापना महाकाव्य, उपन्यास और नाटक से भिन्न है। अपनी परिमित-सीमा में कहानी न तो औपन्यासिक-जीवन के विस्तार को लेकर चल सकती है, न महाकाव्यात्मक-भावोत्कर्ष पर पहुंच सकती है, न अनेक पात्रों के चारित्रिक एवं नाटकीय द्वन्दों को उभार सकती है। रचना-विस्तार की परिमिति के कारण कहानी विकासोन्मुख चरित्र की सारी सम्भा-

वनाएं उपस्थित नहीं करती। उसमें चरित्र-विकास का उतना महत्व नहीं, जितना चारित्रिक-व्यंजना का। चरित्रों के विवरणात्मक और परिचयात्मक विस्तार को कुशल कहानीकार छोड़ देता है। पात्रों के रूप-रंग, कुल-शील, रुचि-अरुचि आदि का वर्णन-विस्तार श्रेष्ठ कहानी का विषय नहीं है। चरित्र-चित्रण को घनीभूत और प्रभावमय बनाने के लिए पात्र की मूल-वृत्ति पर कहानीकार अपनी दृष्टि केन्द्रित करता है और व्यक्ति-वैचित्र्यसूलक-प्रेरणाओं और मनोवैज्ञानिक प्रवृत्तियों का उद्‌घाटन करता है। चरित्र-विकास का पूर्ण विस्तारक्रम और सूक्ष्मातिसूक्ष्म ब्यौरा कहानी में नहीं आता। अधिकांश कहानियां भीतरी-बाहरी द्वन्द द्वारा पात्रों को संघर्षमय स्थिति में उपस्थित करती हैं और चरित्र के किसी प्रेरक-भाव पर बल देकर उसी को ताल के मध्य में रखती हैं।

कहानी में पात्रों के दो रूप सामने आते हैं। या तो वे समगतिशील और विजड़ित होते हैं या विकासशील और असम। समगतिशील पात्र जातिगत या वर्गगत हो सकते हैं अथवा व्यक्तिनिष्ठ, परन्तु उनकी चारित्रिक रेखाएं सरल और थोड़ी होती हैं। विकासशील पात्र निरन्तर परिवर्त्तनशील होते हैं और चक्र की गति की तरह वे असम-गति से नीचे-ऊपर होते रहते हैं। ऐसे पात्रों का निरूपण नाटकीय-द्वन्दात्मक-पद्धति पर आधारित होता है और श्रेष्ठ कलाकार ही उसमें सफल हो पाते हैं। मनुष्य के प्रकृत्यः चरित्र और स्वभाव के नीचे बहते उपचेतन के अदृश्य स्रोतों को ये कहानीकार अपनी सूक्ष्म अन्तर्दृष्टि से पकड़ने में सिद्धहस्त होते हैं। वास्तव में पात्रों की आन्तरिक-प्रेरणाओं को समझकर उन्हें घटनाओं की क्रिया-प्रतिक्रिया पर चलाना कुशल कहानीकार का काम है। अधिकांश कहानीकार समगतिशील अथवा वर्गीय पात्रों पर ही रुक जाते हैं।

कहानी में अधिक पात्रों को लेकर चलना असफलता को मोल लेना होगा। इसीलिए श्रेष्ठ कहानीकार एक पात्र को प्रधानता देते हैं और अन्य पात्र गौण अथवा अप्रधान रूप में सामने आते हैं और परोक्ष में प्रधान-पात्र के चरित्र-विस्तार केभीतर ही उनकी योजना रहती है। जहां एक से अधिक पात्रों को चारित्रिक भूमि पर लाना होता है वहां कहानीकार व्यंजना से काम लेता है और चरित्र आनुसांगिक-पक्षों को पाठक के अनुमान पर छोड़ता चलता है।

चरित्र-निरूपण में अधिकांशतः प्रत्यक्ष-प्रणाली का उपयोग होता है। इस पद्धति में पात्र स्वयं अपने सम्बन्ध में कुछ नहीं कहता। कहानीकार

स्वयं अपनी ओर से पात्र के सम्बन्ध में हमें समस्त जानकारी देता चलता है। परन्तु पात्र के चरित्र का उदघाटन प्रकारान्तर से भी हो सकता है और या तो अन्य पात्रों द्वारा अथवा पात्र के संवादों एवं कार्यव्यापारों द्वारा उसके चारित्रिक गुणों-धर्मों, विचारों, अनुभूतियों और आकांक्षाओं को उपस्थित किया जा सकता है। वास्तव में प्रकारान्तर में उपस्थित चरित्र-निरूपण अधिक प्रभावशाली और सूक्ष्म ठहरता है।

प्रेमचन्द के द्वारा हिन्दी कहानी में पहली बार चरित्रांकन के मनोवैज्ञानिक पृष्ठ-भूमि का उपयोग हुआ और अब तो मनोविज्ञान नई कहानी का अभिन्न और अनन्य अंग बन गया है। यह मनोवैज्ञानिकता मूलतः चरित्र-निरूपण में ही प्रगट होती है और विरोधमूलक परिस्थितियों, संघर्षमयी मनोभूमियों एवं अन्तर्मुखी हलचलों में उसका प्रकाश मिलता है। पात्रों के अन्तर्मुखी-चिन्तन और भावविस्फोट द्वारा कहानीकार पात्र की आन्तरिक क्रियाओं से पाठक को परिचित कराता है। परन्तु जहां पहले कहानीकार मनोविज्ञान को चरित्रांकन का एक अंग मात्र बनाते हैं, वहाँ नए कहानीकार चरित्र की एकनिष्ठता एवं एकान्विति के प्रति अविश्वासी होने के कारण अन्तर्जगत का विस्फोटित-चित्र देकर ही अपने कर्तव्य की इतिश्री समझ लेते हैं। फल यह हुआ है कि आज कहानीकार का विषय चरित्र नहीं रह गया है। वह विकृत-मानस, हीनता-ग्रन्थियों और कुण्ठाओं के अध्ययन और अस्वस्थ प्रेरणाओं के उद्गम खोजने में लग गया है। उसकी भाषा-शैली भी बदल गई है। वह भावविस्फोटमूलक, अतर्क्य और चेतनाप्रवाह-व्यंजक बन गई है। यह नहीं कहा जा सकता कि इससे कहानी की सम्भावनाएं कहां तक बढ़ी हैं. परन्तु यह निश्चित है कि आज कहानी बुद्धिमूलक, वैचित्र्यप्रधान और मनोमयी रह गई है और अन्तर्जगत से बाहर जो कुछ सुस्पष्ट और सुन्दर है, वह उपेक्षणीय बन गया है। प्रेमचन्द ने यह ठीक ही कहा है कि सबसे उत्तम कहानी वह होती है जिसका आधार किसी मनोवैज्ञानिक सत्य पर हो अथवा जिसमें पात्रों की मनोगति स्वयं घटनाओं की सृष्टि करे। परन्तु जहां मनोविश्लेषण मनोविज्ञान का स्थान ले लेता है और अनुभूतियां ही रचनाशील भावना से अनुरंजित होकर कहानी बन जाती हैं, वहां मानव-जीवन के व्यापक-प्रसार को छोड़कर कहानीकार अपने सम्वेदना-क्षेत्र को संकीर्ण बना लेता है। मनोवैज्ञानिक चरित्रांकन के साथ आज के युग की वैयक्तिक और सामाजिक-समस्याओं का आकलन आज के युग की मांग है। 'कला के लिए कला' की भांति 'मनोविश्लेषण के लिए मनोविश्लेषण' भी गलत नारा

है। साहित्य का उपजीव्य व्यक्ति-मनुष्य और समष्टि-मनुष्य (समाज) का कला और मनोविज्ञान (अथवा मनोविश्लेषण) मनुष्य के अन्तर्वहिर-बोध को विकसित एवं सौन्दर्यनिष्ठ करें तो उनकी सार्थकता है, अन्यथा वे प्रयोगजड़ित मनः विलासमात्र हैं।

चौथा तत्त्व संवाद का है। यह आवश्यक नहीं है कि प्रत्येक कहानी में संवाद हो। ऐतिहासिक-शैली में लिखी अनेक कहानियों में संवाद नहीं रहते या नगण्य रहते हैं, परन्तु वे कम आकर्षक नहीं रहतीं। परन्तु अधिकांश कहानियों में व्यावहारिक आवश्यकताओं के कारण संवाद की योजना आवश्यक हो जाती है। कहानी के छोटे कलेवर में छोटे-छोटे, वैदग्ध्यपूर्ण आकर्षक और भावनिरूपक एवं चरित्र-व्यंजक संवाद ही अधिक सजते हैं। कहानी की प्रकृति और देश-काल-पात्र को देखकर ही संवाद की योजना वांछनीय है। संवादों के द्वारा चरित्र, भाव, वातावरण और कार्य-व्यापार की पुष्टि सरलतापूर्वक हो जाती है। इन्हीं कार्यकलापों के अनुरूप संवाद के भेद भी हैं। फिर संवाद-लेखक के दृष्टिकोण और मनस्तत्व को समझने में भी सहायक होते हैं, जैसे प्रेमचन्द के सामान्य बोलचाल की भाषा में लिखे व्यावहारिक-संवाद उतने ही व्यक्तिनिष्ठ हैं जितने प्रसाद के तत्समगर्भित, मधुमयी-भाषा में लिखे भावप्रधान, अल्हड़, वेदना-संवलित और चित्र-विधायक-संवाद उनके व्यक्तित्व के प्रकाशक हैं। यह स्पष्ट है कि कहानी में संवाद की स्थिति स्वतन्त्र नहीं है। वह साधन है, साध्य नहीं। पात्र और स्थिति के अनुरूप होने के साथ ही उसे लघु, क्षिप्र, नाटकीय और भावोद्‌बोधक होना होगा।

पाँचवां तत्त्व देश-काल का है, जिसमें वातावरण, परिवेश और परिस्थिति योजना के तत्त्व भी सम्मिलित हैं। देश-काल का तात्पर्य है स्थानीय-रंग। ऐतिहासिक एवं आंचलिक कहानियों में देश-काल का विशेष महत्त्व है। उससे कहानी को यथार्थ की विश्वस्त भूमि मिलती है और पाठक के नेत्रों एवं धारणा को एक सुस्पष्ट चित्रवेला। यह बुद्धिप्रसारी और तथ्य-मयी-भूमिका है जिसकी वस्तुमयता और अलंकृति हमें कहानीकार की ओर आकर्षित करती है। परन्तु वातावरण कहानी को रसभूमि देता है और विशेष देश-काल में स्थित पात्रों की रस-संवेदना को प्रगाढ़ बनाकर उन्हें एकरस बनाता है। कहानी की सामूहिकता को उभारने और प्रतिपाद्य को रसमय बनाने के लिए ही वातावरण की योजना आवश्यक है। परिवेश में प्रकृति-सज्जा, वस्तुस्थिति विवरण एवं क्रियाकलाप की विस्तृत योजना रहती है और

स्वयं कहानी के भीतर कथा-विवृति के साथ परिस्थितियों का सूक्ष्म गठबन्धन आवश्यक है। ये तत्त्व कहानी को कला की चीज बना देते हैं और उसकी शिल्पविधि से अनिवार्यतः सम्बन्धित हैं।

छठा तत्त्व है—भाषा-शैली। भाषा-शैली के सम्बन्ध में निर्णयात्मक-रूप से कुछ भी कहना असम्भव है, क्योंकि वह पात्रानुकूल, रसानुकूल और भावमय होगी तथा कहानीकार के लक्ष्य को लेकर ही उसका रूपनिर्माण होगा। प्रेमचन्द की यथार्थ जगत की कहानियां उनकी सरल, प्रासादिक, निरालंकृत भाषा-शैली के योग से मार्मिक बन गई है, परन्तु प्रसाद की अतीतकल्पी, भाव-प्रधान, और सांस्कृतिक कहानियों के लिए अलंकृत, चित्रमयी एवं मादक-भाषा-शैली की योजना हुई है। उसी तरह जैनेन्द्र और अज्ञेय की मनोवैज्ञानिक सूझ-बूझ अपने साथ अपनी विक्षेपमयी, तर्कबद्ध, खुली-मुंदी भाषा-शैली लाती है। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि कहानी की भाषा-शैली उसकी संवेदना को तीखापन देकर ही सफल होती है। उसमें पाठक के चित्त को तरल करने की क्षमता हो और वह बौद्धिक-ऊहापोह से ग्रसित न हो। कुछ प्रतीकात्मक कहानियों में दुरूहता को ही कला मान लिया गया है, परन्तु भाषा-शैली की दुरूहता कहानी और पाठक के बीच में सबसे बड़ा व्यवधान है।

: ३ :

कहानी की विवेचना में वर्गीकरण का क्या स्थान है, यह कहना कठिन है। कहानी की प्रकृति उसके जीवन-सम्बन्धी दृष्टिकोण में लक्षित होती है और उसकी सफलता उसके सामूहिक-प्रभाव में है। प्रगीत की तरह कहानी अखण्ड, अविभाज्य और सम्पूर्ण इकाई है, जो सूक्ष्म सम्वेदना-तन्तुओं के द्वारा अपना प्रभाव प्रस्फुटित करती है। अतः कहानी का वर्गीकरण तात्त्विक की अपेक्षा व्यावहारिक ही अधिक रहेगा। व्यावहारिक भूमि पर भी कहानी का वर्गीकरण कई प्रकार से हो सकता है :

(१) शैलीगत—जैसे इतिहास-शैली में लिखी कहानियां, आत्मचरित्रात्मक शैली की कहानियां, पत्र शैली और डायरी शैली की कहानियां, प्रतीकात्मक एवं आन्योपदेशिक कहानियां एवं अंतश्चेतनामूलक कहानियां

(२) प्रकृतिगत—जैसे इतिवृत्तप्रधान, चरित्रप्रधान, व्यंगप्रधान, हास्य-प्रधान, भावप्रधान, ऐतिहासिक, वातावरणप्रधान, मनोवैज्ञानिक।

(३) दृष्टिकोणगत—जैसे आदर्शवादी, यथार्थवादी, सिद्धान्तवादी।

वास्तव में ये विभाजन औपचारिक हैं और कहीं-कहीं यह कहना

है। साहित्य का उपजीव्य व्यक्ति-मनुष्य और समष्टि-मनुष्य (समाज) का कला और मनोविज्ञान (अथवा मनोविश्लेषण) मनुष्य के अन्तर्बहिर-बोध को विकसित एवं सौन्दर्यनिष्ठ करें तो उनकी सार्थकता है, अन्यथा वे प्रयोगजड़ित मनः विलासमात्र हैं।

चौथा तत्त्व संवाद का है। यह आवश्यक नहीं है कि प्रत्येक कहानी में संवाद हो। ऐतिहासिक-शैली में लिखी अनेक कहानियों में संवाद नहीं रहते या नगण्य रहते हैं, परन्तु वे कम आकर्षक नहीं रहतीं। परन्तु अधिकांश कहानियों में व्यावहारिक आवश्यकताओं के कारण संवाद की योजना आवश्यक हो जाती है। कहानी के छोटे कलेवर में छोटे-छोटे, वैदग्ध्यपूर्ण आकर्षक और भावनिरूपक एवं चरित्र-व्यंजक संवाद ही अधिक सजते हैं। कहानी की प्रकृति और देश-काल-पात्र को देखकर ही संवाद की योजना वांछनीय है। संवादों के द्वारा चरित्र, भाव, वातावरण और कार्य-व्यापार की पुष्टि सरलतापूर्वक हो जाती है। इन्हीं कार्यकलापों के अनुरूप संवाद के भेद भी हैं। फिर संवाद-लेखक के दृष्टिकोण और मनस्तत्व को समझने में भी सहायक होते हैं, जैसे प्रेमचन्द के सामान्य बोलचाल की भाषा में लिखे व्यावहारिक-संवाद उतने ही व्यक्तिनिष्ठ हैं जितने प्रसाद के तत्समगर्भित, मधुमयी-भाषा में लिखे भावप्रधान, अल्हड़, वेदना-संवलित और चित्र-विधायक-संवाद उनके व्यक्तित्व के प्रकाशक हैं। यह स्पष्ट है कि कहानी में संवाद की स्थिति स्वतन्त्र नहीं है। वह साधन है, साध्य नहीं। पात्र और स्थिति के अनुरूप होने के साथ ही उसे लघु, क्षिप्र, नाटकीय और भावोद्‌बोधक होना होगा।

पाँचवां तत्त्व देश-काल का है, जिसमें वातावरण, परिवेश और परिस्थिति योजना के तत्त्व भी सम्मिलित हैं। देश-काल का तात्पर्य है स्थानीय-रंग। ऐतिहासिक एवं आंचलिक कहानियों में देश-काल का विशेष महत्त्व है। उससे कहानी को यथार्थ की विश्वस्त भूमि मिलती है और पाठक के नेत्रों एवं धारणा को एक सुस्पष्ट चित्रवेला। यह बुद्धिप्रसारी और तथ्य-मयी-भूमिका है जिसकी वस्तुमयता और अलंकृति हमें कहानीकार की ओर आकर्षित करती है। परन्तु वातावरण कहानी को रङ्गभूमि देता है और विशेष देश-काल में स्थित पात्रों की रस-संवेदना को प्रगाढ़ बनाकर उन्हें एकरस बनाता है। कहानी की सामूहिकता को उभारने और प्रतिपाद्य को रसमय बनाने के लिए ही वातावरण की योजना आवश्यक है। परिवेश में प्रकृति-सज्जा, वस्तुस्थिति विवरण एवं क्रियाकलाप की विस्तृत योजना रहती है और

स्वयं कहानी के भीतर कथा-विवृति के साथ परिस्थितियों का सूक्ष्म गठबन्धन आवश्यक है। ये तत्त्व कहानी को कला की चीज बना देते हैं और उसकी शिल्पविधि से अनिवार्यतः सम्बन्धित हैं।

छठा तत्त्व है—भाषा-शैली। भाषा-शैली के सम्बन्ध में निर्णयात्मक-रूप से कुछ भी कहना असम्भव है, क्योंकि वह पात्रानुकूल, रसानुकूल और भावमय होगी तथा कहानीकार के लक्ष्य को लेकर ही उसका रूपनिर्माण होगा। प्रेमचन्द की यथार्थ जगत की कहानियां उनकी सरल, प्रासादिक, निरालंकृत भाषा-शैली के योग से मार्मिक बन गई है, परन्तु प्रसाद की अतीतकल्पी, भाव-प्रधान, और सांस्कृतिक कहानियों के लिए अलंकृत, चित्रमयी एवं मादक-भाषा-शैली की योजना हुई है। उसी तरह जैनेन्द्र और अज्ञेय की मनोवैज्ञानिक सूझ-बूझ अपने साथ अपनी विक्षेपमयी, तर्कबद्ध, खुली-मुंदी भाषा-शैली लाती है। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि कहानी की भाषा-शैली उसकी संवेदना को तीखापन देकर ही सफल होती है। उसमें पाठक के चित्त को तरल करने की क्षमता हो और वह बौद्धिक-ऊहापोह से ग्रसित न हो। कुछ प्रतीकात्मक कहानियों में दुरूहता को ही कला मान लिया गया है, परन्तु भाषा-शैली की दुरूहता कहानी और पाठक के बीच में सबसे बड़ा व्यवधान है।

: ३ :

कहानी की विवेचना में वर्गीकरण का क्या स्थान है, यह कहना कठिन है। कहानी की प्रकृति उसके जीवन-सम्बन्धी दृष्टिकोण में लक्षित होती है और उसकी सफलता उसके सामूहिक-प्रभाव में है। प्रगीत की तरह कहानी अखण्ड, अविभाज्य और सम्पूर्ण इकाई है, जो सूक्ष्म सम्वेदना-तन्तुओं के द्वारा अपना प्रभाव प्रस्फुटित करती है। अतः कहानी का वर्गीकरण तात्त्विक की अपेक्षा व्यावहारिक ही अधिक रहेगा। व्यावहारिक भूमि पर भी कहानी का वर्गीकरण कई प्रकार से हो सकता है :

(१) शैलीगत—जैसे इतिहास-शैली में लिखी कहानियां, आत्मचरित्रात्मक शैली की कहानियां, पत्र शैली और डायरी शैली की कहानियां, प्रतीकात्मक एवं आन्योपदेशिक कहानियां एवं अंतश्चेतनामूलक कहानियां

(२) प्रकृतिगत—जैसे इतिवृत्तप्रधान, चरित्रप्रधान, व्यंगप्रधान, हास्य-प्रधान, भावप्रधान, ऐतिहासिक, वातावरणप्रधान, मनोवैज्ञानिक।

(३) दृष्टिकोणगत—जैसे आदर्शवादी, यथार्थवादी, सिद्धान्तवादी।

वास्तव में ये विभाजन औपचारिक हैं और कहीं-कहीं यह कहना

अत्यंत कठिन हो जाता है कि कहानी मूलतः चरित्रप्रधान है या भावप्रधान। इसी प्रकार कोई कहानी सामाजिक या ऐतिहासिक कहानी होते हुए भी इतिवृत्तात्मक या मनोवैज्ञानिक हो सकती है। परन्तु इन सब भेदों-प्रभेदों के ऊपर कहानी के प्रतिपाद्य और उसकी प्रभावान्विति को लेकर उसकी स्वतंत्र और अविभाज्य सत्ता की प्रतिष्ठा है। इसी तरल, सूक्ष्म और समन्वित तत्त्व को कहानी का प्राण मानकर हमें पकड़ना होगा। वैसे कामकाजी ढंग पर हम उपर्युक्त वर्गीकरण को ले कर चल सकेंगे।

: ४ :

हिन्दी कहानी के विकासात्मक अध्ययन के लिए पूर्व पीठिका के रूप में हमें उस समस्त सामग्री को लेना पड़ता है, जो प्राचीन हिन्दी साहित्य में 'आख्यान', चरित' 'रासो', 'मंगल' 'वार्त्ता' 'ख्यात' 'बात' 'पुराण' आदि के रूप में गद्य-पद्य में संकलित है। और जिसका विस्तार दसवीं-ग्यारहवीं शताब्दी से उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य तक चलता है। यही क्यों, संस्कृत, पालि, प्राकृत और अपभ्रंश में 'कथा' 'गाथा' 'प्रबंध' इत्यादि नामों से ऐसी प्रचुर सामग्री उपस्थित है, जो हमारे धार्मिक और नैतिक उपचेतन का अभिन्न अंग बन गई है। ऋग्वेद के अनेक प्रतीकाख्यान पुराणों में विस्तार ग्रहण कर लेते हैं और परोक्ष-अपरोक्ष में प्राचीन हिन्दी साहित्य को प्रभावित करते हैं। ब्राह्मण ग्रन्थों और उपनिषदों की दृष्टान्त-कथाएं और रूपक-रचनाएं उस सिद्धान्त-प्रचार-शैली का प्रवर्त्तन करती हैं जो बौद्ध जातक कथाओं और जैन प्रबंधों में पूर्ण विकास को प्राप्त होती है। ब्रजभाषा की 'वार्ता' रचनाएं इसी परम्परा की देन हैं। 'पंचतंत्र' और 'हितोपदेश' में हमें नई शैली की नीति-कथाओं के दर्शन होते हैं जो समस्त जीवन-व्यापार को सप्राण और अखण्डित देखती हुई नैतिक तत्त्वों को प्रश्रय देती हैं। पांचवीं-छठी शताब्दी के बाद रोमांचक कथा-कहानियों, आख्यायिकाओं, आख्यानों और कथा-चक्रों का आरंभ होता है। और इनमें प्रेमी जीवन और साहसी यात्राओं की समस्त संभावनाएं संपुटित की जाती हैं। गुणाढ्य की 'वहत्कथा, सोमदेव का 'कथा-सरित्सागर' वाण की 'कादम्बरी' दण्डी का 'दशकुमारचरित' और धनपाल की 'भविसस्यत्त कथा' जैसी रचनाएं जहाँ एक ओर हिन्दी प्रेमाख्यानों को जन्म देती हैं, वहाँ ऐतिहासिक चरित्र-कथाओं की परम्परा, वाण के हर्ष-चरित्र से आरम्भ होकर जैन रासाओं और 'डिंगल' के 'रासो' ग्रन्थों में विकसित होती हैं। मध्य युग का हिन्दी काव्य भारतीय कथा-सामग्री का अशेष भण्डार है और उसमें पौराणिक अनुश्रुतियों के साथ लोकाश्रित कथाओं और

काल्पनिक जीवन-स्थितियों का बड़ा सुन्दर गुम्फन है। परन्तु अपभ्रंश कथा-काव्यों तक पहुंचते-पहुंचते जो कथानक-रूढ़ियां विकसित हो गई थीं, उन्होंने कथा के स्वच्छन्द रस-ग्रहण में बाधा पहुंचाई और उन्हें परम्परा की जड़-पुनरावृत्ति बना दिया। फल यह हुआ कि उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य तक पहुंच कर हिंदी कथा-शैली इतनी जड़बद्ध और नीरस बन गई थी कि उसमें न तो नए लोक-मानस का प्रतिबिंब था, न उसमें नई कला-सम्भावनाओं के लिए ही स्थान था। इसीलिए उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य से हिन्दी कहानी एकदम नया मोड़ लेती है। वह धर्म प्रचार और निरर्थक रोमांस से अपना सम्बन्ध विच्छेद कर लेती है और अपने प्रेरणा-सूत्र और रचनात्मक उपकरण पश्चिम से ग्रहण करती है।

इस प्रकार आधुनिक हिंदी कहानी का जन्म हम भारतेन्दु-युग में मान सकते हैं और १८६० से १६१० तक के समय को विकास का पहला चरण कह सकते हैं। इस युग की कहानियों का महत्त्व ऐतिहासिक ही अधिक है। उनमें इतनी कला-चेतना नहीं है कि आज हम उनसे रस-ग्रहण कर सकें। इस युग की कहानी जहां पूर्व परम्पराओं से बल ग्रहण करती है, वहां पश्चिम के 'पंच', 'ललित निबन्ध', 'स्वप्न', 'यात्रा' आदि नई विधियों से भी वह प्रभावित है। बंगला और अंग्रेजी की कहानियों के अनुवाद से भी इस युग में हमारा कहानी-साहित्य पुष्ट हुआ और १६०६-७ के लगभग रवीन्द्रनाथ ठाकुर और प्रभातकुमार मुखोपाध्याय की कहानियां नई चेतना लेकर अनुवाद के रूप में सामने आईं। परन्तु 'हरिश्चंद्र चंद्रिका', कवि-वचन-सुधा', 'हिंदी-प्रदीप', 'सरस्वती', 'सुदर्शन', 'इन्दु' और 'हिन्दी गल्पमाला' जैसे मासिकों में हमें हिन्दी कहानी के विकास की स्वतन्त्र रूप-रेखा भी स्पष्ट मिल जाती है। इस आरम्भिक युग का कहानी-साहित्य कहानी-कला के प्रथम उन्मेष की सूचना देता है। उसमें कथा-शिल्प का सुस्पष्ट रूप हमें नहीं मिलता, परन्तु परवर्त्ती विकास की सूचना अवश्य मिल जाती है।

यह निश्चय करना कठिन है कि हिन्दी की पहली कहानी हम किसे कहें। विशुद्ध कहानी १६०० के लगभग 'सरस्वती' और 'सुदर्शन' के माध्यम से सामने आती है। इन प्रारम्भिक कहानियों में प्राथमिकता का श्रेय किशोरीलाल गोस्वामी की 'इन्दुमती' (१६००) और बंगमहिला की 'दुलाईवाली' (१६०७) कहानियों को दिया जाता है। इनमें 'इन्दुमती' का आधार शैक्सपियर का नाटक 'टेम्पेस्ट' है और उसमें जीवन की रोमानी पृष्ठ-भूमि अपनाई गई है, जबकि 'दुलाई वाली' जीवन की सामान्य अभिव्यक्ति के

कारण वस्तुवादी दृष्टिकोण उपस्थित करती है। मास्टर भगवानदास की 'प्लेग की चुड़ैल' (१९०२) और आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की कहानी 'ग्यारह वर्ष का समय' (१९०३) तथा गिरिजादत्त वाजपेयी की कहानी 'पण्डित और पण्डितानी' (१९०३) इसी युग की रचनाएं हैं। 'इत्यादि की आत्म कहानी' (अखौरी) और 'आपत्तियों का पहाड़' (केशवप्रसाद मिश्र) जैसे कथात्मक निबन्ध भी इस पहले चरण से सम्बन्धित हैं।

हिंदी कहानी का दूसरा चरण १९१० से १९३० तक चलता है। इसे हम विकास-युग कह सकते हैं। वास्तव में इसी युग में हिन्दी कहानी की नींव स्थाई रूप से पड़ी और उसे कलात्मक गौरव प्राप्त हुआ। प्रसाद और प्रेमचन्द इस युग की सबसे बड़ी क्रियमाण शक्तियां हैं, परन्तु इन बीस वर्षों में दो दर्जन अन्य सिद्ध-लेखक हमारे सामने आते हैं और साहित्य की सबसे अधिक लोक-प्रिय और प्रभावशाली कोटि के रूप में कहानी की स्थापना हो जाती है।

विकास-युग के इन लेखकों में प्रेमचन्द और प्रसाद के साथ चन्द्रधर शर्मा गुलेरी का भी महत्वपूर्ण स्थान है, यद्यपि उन्होंने केवल तीन ही कहानियां (सुखमय जीवन, बुद्धू का कांटा, और उसने कहा था) लिखी हैं। इनमें से अन्तिम कहानी हिंदी की श्रेष्ठतम कहानियों में गिनी जाएगी। संयोगशासित और घटनाप्रधान होने पर भी ये कहानियां जीवन की मांसल अनुभूतियों से पूर्ण हैं और प्रेम-कर्तव्य के द्वन्द्व अथवा नीति सदाचारमय जीवन के ऊंचे मान पर आधारित हैं। जहाँ प्रेमचन्द की अधिकांश कहानियाँ चरित्रगत हैं और प्रसाद की भावगत, वहां गुलेरी जी की कहानियों में दोनों विधियों का उपयुक्त मिश्रण है। इनमें से 'उसने कहा था' कहानी का रूप संगठन अत्यन्त कलात्मक है। यद्यपि युद्ध-भूमि के विवरण कुछ अधिक विस्तृत हो गए हैं और इससे कहानी की प्रभावान्विति सुरक्षित नहीं रह सकी है। इन लेखकों के अतिरिक्त अनेक ऐसे लेखक हैं, जो प्रेमचन्द अथवा प्रसाद को आदर्श मानकर चलते हैं, या जिनकी कला इन श्रेष्ठ कलाकारों के निकट पड़ती है। इनमें प्रेमचन्द संस्थान के कहानीकार हैं—विश्वम्भरनाथ जिज्जा, जी० पी० श्रीवास्तव, राजा राधिकारमणसिंह, विश्वम्भरनाथ कौशिक, पण्डित ज्वालादत्त शर्मा, गोविन्दवल्लभ पन्त, सुदर्शन, वृन्दावनलाल वर्मा और भगवतीप्रसाद वाजपेयी। इन लेखकों का अपना स्वतन्त्र व्यक्तित्व सुरक्षित है, परन्तु शिल्पविधान और जीवनदृष्टि के क्षेत्रों में ये प्रेमचन्द-संस्थान में ही आते हैं। आज भी चन्द्रगुप्त विद्यालंकार, श्रीराम शर्मा 'राम', गंगाप्रसाद

मिश्र प्रभृति लेखक प्रेमचन्द की परम्परा का निर्वाह कर रहे हैं। प्रसाद-संस्थान के कहानीकारों में रायकृष्णदास, वाचस्पति पाठक, विनोदशंकर व्यास, चंडीप्रसाद हृदयेश, कमलाकांत वर्मा आदि का नाम आता है। आचार्य चतुरसेन शास्त्री, ऋषभचरण जैन और बेचन शर्मा 'उग्र' 'प्रकृतिवादी-कहानीकार हैं जो जीवन के नग्न-यथार्थ को कहानी का विषय बनाते हैं, परन्तु उनकी कहानियाँ भी प्रसाद-संस्थान के कहानीकारों की रचनाओं की तरह भावप्रवण, रूमानी, अतिरंजित और वातावरण-प्रमुख हैं। अतः इन्हें भी हम प्रसाद-संस्थान के कहानीकारों के साथ रख सकते हैं। वास्तव में बीसवीं शताब्दी के दूसरे-तीसरे दशकों की हिन्दी-कहानी की समस्त प्रवृत्तियां और शिल्पविधियां प्रेमचंद और प्रसाद की कहानियों में विकासोन्मुख रूप प्राप्त करती हैं और वे दो विभिन्न, परन्तु पूरक व्यक्तित्वों की प्रतीक हैं।

परन्तु पिछले २५ वर्षों की कहानी प्रेमचंद और प्रसाद से बहुत आगे बढ़ गई है। विषय की विविधता, भाव की गहनता, जीवनदृष्टि की मार्मिकता शिल्प की नवीनता और नवनवोन्मेषिनी कल्पना के कारण ये कहानियां उस ऊंचाई पर पहुंच गई हैं जो अन्य देशों की सर्वश्रेष्ठ रचनाओं को प्राप्त हैं। परन्तु शिल्प के चरमोत्कृष्ट बिन्दु पर पहुँच कर भी आज का कहानी-साहित्य संभावनाओं में ही महान है। उसे हम संक्रांति-युग का साहित्य कह सकते हैं। प्रकृत्यः और प्रयोगतः वह विकास-युग से भिन्न है। गांधीवाद और साम्यवाद (द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद) जहां एक ओर इस संक्रांति-युग की कहानियों को नए जीवनदर्शन देते हैं, वहाँ मनोविज्ञान (मनोविश्लेषण) और यौनवाद कलाविधियों के विकास और मनुष्य के अन्तर्मुखी-जीवन के अध्ययन में नए अध्याय जोड़ते हैं। एक का आधार सामूहिक जीवन-विकास और लोक-कल्याण की नीतिमूलक अथवा आर्थिक दृष्टि है, तो दूसरे का आधार व्यक्तिगत जीवन और अंतश्चेतना है।

फ्रायड के यौनवाद और इडलर के 'अहं' के विस्फोट सम्बन्धी सद्धान्तों को लेकर अनेकानेक कहानियां इस युग में लिखी गई हैं और कभी-कभी तो ऐसा जान पड़ता है कि इन कहानियों के पीछे सिद्धान्तवाद और लक्ष्यभेद इस तरह जम कर बैठ गया है जिस तरह रीतिकाव्य लक्षण-ग्रन्थों और नायिका-भेद में विजड़ित था। वैसे प्रेमचन्द और प्रसाद में ही हम दार्शनिक-दृष्टि के साथ मनोविज्ञान का सम्यक् उपयोग पाते हैं, परन्तु ये कलाकार नैतिक मान्यताओं, आदर्शों एवं अंतर्द्वन्द के स्वस्थ और सतही

पहलुओं को ही उपजीव्य बनाते हैं। उनका जीवन-दर्शन समाज-सापेक्ष है और उनका मनोविज्ञान साधन-मात्र। नई कहानी में जहाँ बुद्धि का अतिरेक है और व्यक्ति को लेकर विद्रोह, विस्फोट और चिन्तन की प्रवृत्ति है, वहाँ कहानीकार वाह्य-जीवनचक्र से एकदम हट कर मानव के अंतर्जगत और अवचेतन में उतर आया है। इससे प्रयोगों की एक नई दुनिया सामने आई है और मनुष्य की आत्मा को हमने कुछ अधिक गहराई से और निकट से जाना है। कर्मप्रेरणाएं, कुंठाएं, वर्जनाएं और अपराधी मानस की सूक्ष्मातिसूक्ष्म हलचलें आज कहानी में विश्लेषित हो रही हैं, परन्तु भय की बात यह है कि कहीं कहानी बाहरी जगत के क्रिया-कलापों को एकांततः छोड़ कर मानसिक ऊहापोह मात्र न रह जाए। बाह्य और अंतर्जीवन अन्योन्याश्रित हैं। यदि कहानी को जीवन के मानवीय पहलुओं और सामाजिक संदर्भों से रस ग्रहण करना है तो उसके लिए वाह्य-जीवनचक्र की उपेक्षा घातक सिद्ध होगी। मनुष्य का अंतर्जीवन शास्त्र से कहीं अधिक व्यापक और विविध है, इस सत्य को मान लेगा, तो आज का कहानीकार जीवन की विकृतियों से ऊपर उठ कर भविष्य के प्रति निष्ठावान हो सकेगा। शिल्पविधि मात्र कहानी नहीं है, चाहे वह स्वप्न-विश्लेषण पर आधारित हो या चेतना प्रवाह-सिद्धान्त पर। उसे भीतर से भी कुछ होना है।

एक दूसरी दिशा अर्थ चेतना को लेकर विकसित हुई है जिसकी प्रक्रिया में व्यष्टि का समष्टि में इतना विलयन हो गया है कि उसकी सत्ता ही नहीं रह गई। यह मार्क्स का वस्तुवादी-जीवनदर्शन है जो मनुष्य को पूंजीवादी महाजनी इकाई और सर्वहारा वर्ग में बाँट देता है और व्यक्ति की नैतिकता एवं उसके कार्यव्यापारों को निर्वैयक्तिक सामाजिक शक्तियों के प्रकाश में देखता है। यह जीवन को आर्थिक भूमि पर उतारता है और वर्ग-संघर्ष को मानवीय विकास की प्रमुख प्रक्रिया मानता है। गांधीवादी-दर्शन की आध्यात्मिकता और नीतिपरता को यह अव्यावहारिक और पुरोगामी बताता है। यह स्पष्ट है कि यह दृष्टिकोण भी एकांगी है और कहानीकार की व्यापक जीवन-चेतना को संकीर्ण बनाता है। इस चलते सिक्के को भी हमें बदलना है।

जो हो, यह स्पष्ट है कि आज नई कहानी बुद्धिधर्मी, सिद्धान्तग्रस्त और प्रयोगवाद-वादी है। वह विधियों पर टिकी है, जीवनधर्मी वह नहीं है। इसी अंश में वह दुर्बल भी है। फिर भी यह कहना पड़ेगा कि कहानी की नई

गतिविधि ने असंख्य संभावनाओं को जन्म दिया है और उसका भविष्य उज्ज्वल है। इस नई कहानी के लेखकों में प्रमुख हैं—जैनेन्द्रकुमार, अज्ञेय, सियारामशरण गुप्त, इलाचंद्र जोशी, उपेन्द्रनाथ 'अश्क', यशपाल 'पहाड़ी', अमृतलाल नागर, धर्मवीर भारती, फणीन्द्रनाथ रेणु, सर्वेश्वरदयाल सक्सेना चन्द्रकिरण सौनरिक्सा, अमृतराय, सत्येन्द्र 'शरत्', राधाकृष्ण, शिवप्रसाद 'रुद्र' कमल जोशी, द्विजेन्द्र, रामकुमार, मार्कण्डेय आदि। और भी अनेक निवेदित कलाकार हैं जो उपेक्षणीय नहीं हैं। इन कहानीकरों में ऐसे लेखक भी है जिन्हें प्रेमचन्द और प्रसाद का आशीर्वाद प्राप्त है और जो दो-ढाई दशकों से लेखनी चला रहे हैं और ऐसे भी लेखक हैं जो नई पौध हैं। आज हिंदी कथाकरों की तीन-चार पीढ़ियां हमारे बीच में काम कर रही हैं और प्रेमचन्द-प्रसाद की परम्परा भी एकदम समाप्त नहीं हो गई है। ऐसे भी अनेक लेखक हैं—जैसे निराला, भगवतीचरण वर्मा, मोहनलाल महतो जिन्हें और हम विकास-युग और संक्रांतियुग के बीच में रख सकते हैं। राहुल, भगवतशरण उपाध्याय जैसे ऐतिहासिक कहानीकार अपने साथ नई सांस्कृतिक चेतनाएं लाए हैं। इसमें संदेह नहीं कि हिंदी कहानी आधुनिक हिंदी-साहित्य का सबसे अधिक पुष्ट और सबसे अधिक लोकप्रिय अंग है और उसमें युगधर्म का सबसे सच्चा स्वरूप झलक सका है।

कहानी के प्रामाणिक रूप के साथ-साथ ऐसे भी कलारूप पिछले १०-१५ वर्षों में अन्वेषित हुए हैं जो कहानी की समवेदना लेकर चलते हैं और संधिरेखा पर खड़े हैं, जैसे रेखाचित्र (स्केच) और रिपोर्ताज। धीरे-धीरे ये कहानी से स्वतंत्र साहित्यिक इकाई बन रहे हैं। इन नए प्रयोगों का प्रवेश भी पश्चिम के मार्ग से हुआ है और आज के द्रुतजीवी मनुष्य की संवेदना इनके द्वारा अधिक शक्ति और अधिक सफ़ाई से उभरी है। इन दोनों में वाह्य चित्रण के भीतर ही आंतरिकता की व्यंजना भी है, परन्तु ये कहानी की तरह गतिशील जीवन (या अंतर्जीवन) का चित्रण नहीं हैं। रेखाचित्रों की परम्परा महादेवी वर्मा ('स्मृति की रेखाएं') और प्रकाशचंद्र गुप्त ('पुरानी स्मृतियां, नए स्केच) से आरम्भ होती है और अमतराय ('लाल धरती') एवं ओंकार शरत् ('लंका महाराजिन') उसे आगे बढ़ाते हैं। अब तो और भी कई रेखाकार सामने आ गए हैं। रिपर्ताज पिछले महायुद्ध की उपज है। हिंदी लेखकों में यह विधि अभी अधिक प्रिय नहीं हो सकी है। यद्यपि अमृतराय के कुछ सुन्दर रिपोर्ताज हमें प्राप्त हैं। यह स्पष्ट है कि ये नए विधान नए

युगारंभ की सूचना है, परन्तु ये निश्चय ही कहानी का स्थान नहीं छीन सकेंगे। कहानी बराबर कही जाती रहेगी। कल्पना और भावना से आरंभ होकर जीवन के वहिरंतर यथार्थ तक उसकी दौड़ रही है। मानवी-चेतना के नए विकास के साथ वह नए क्षितिजों को छू सकेगी, इसमें किंचित् मात्र भी सन्देह का कारण नहीं है।

हिन्दी पत्र-पत्रिकाओं का विकास

भारतवर्ष में आधुनिक ढंग की पत्रकारिता का जन्म अट्ठारवीं शताब्दी के अन्तिम चतुर्थांश में कलकत्ता, बम्बई और मद्रास में हुआ। ये तीनों नगर नवस्थापित अंग्रेजी शासन के केन्द्र थे और इनमें धीरे-धीरे छोटे-छोटे अंग्रेजी उपनिवेश विकसित हो गए थे। १७८० ई० में प्रकाशित हिके (Hickey) का 'कलकत्ता' गजेट कदाचित् इस ओर पहला प्रयत्न था। हिन्दी के पहले पत्र 'उदंत मार्तण्ड (१८२६) के प्रकाशित होने तक इन नगरों की एंग्लो-इण्डियन अंग्रेजी पत्रकारिता काफी विकसित हो गई थी।

इन अन्तिम वर्षों में फारसी भाषा में भी पत्रकारिता का जन्म हो चुका था। १८ वीं शताब्दी के फ़ारसी पत्र कदाचित् हस्तलिखित पत्र थे। १८०१ में 'Hindusthan Intelligence Oriental antholgy' नाम का जो संकलन प्रकाशित हुआ उसमें उत्तर भारत के कितने ही 'अखबारों' के उद्धाहरण थे। १८१० में मौलवी इकरामअली ने कलकत्ता से लिथो-पत्र 'हिन्दोस्तानी' प्रकाशित करना आरम्भ किया। १८१६ में गंगाकिशोर भट्टाचार्य ने बंगाल गजेट' का प्रवर्तन किया। यह पहला बंगला-पत्र था। बाद में श्रीरामपुर के पादरियों ने प्रसिद्ध प्रचार-पत्र 'समाचार-दर्पण' (२७ मई१८१८) को जन्म दिया। इन प्रारम्भिक पत्रों के बाद हमें बंगला भाषा के 'समाचार

चन्द्रिका' (१८२३) और 'सम्वाद-कौमुदी' (१८२३), फ़ारसी-उर्दू के जामे जहांनुमा' (१८२३) के दर्शन होते हैं।

यह स्पष्ट है कि हिन्दी-पत्रकारिता बहुत बाद की चीज नहीं हैं। दिल्ली का 'उर्दू अखबार' (१८२३) और मराठी का 'दिग्दर्शन' (१८३७) हिन्दी के पहले पत्र 'उदंत मार्तण्ड' (१८२६) के बाद ही आए हैं। 'उदंत मार्तण्ड' के सम्पादक पण्डित जुगलकिशोर थे। यह साप्ताहिक पत्र था। पत्र की भाषा पछांही हिन्दी रहती थी, जिसे पत्र के सम्पादक ने मध्यदेशीय-भाषा' कहा है। प्रारम्भिक विज्ञप्ति इस प्रकार थी—यह 'उदंत मार्तण्ड' अब पहले पहल हिन्दुस्तानियों के हित के हेत जो आज तक किसी ने नहीं चलाया पर अंग्रेजी औ पारस औ बंग्ले में जो समाचार का कागज छपता है उसका सुख उन बोलियों के जाने ओ पढ़न वालों को ही होता है। इससे सत्य समाचार हिन्दुस्तानी लोग देखकर आप पढ़ औ समझ लेय औ पराई अपेक्षा न करें औ अपने भाषा की उपज न छोड़े, इसलिए बड़े दयावान करुणा और गुणीन के निधान सबके कल्याण के विषय गवर्नर जनरैल बहादुर की आयस से ऐसे साहस में चित लगाय के एक प्रकार से यह नया ठाट ठटा।' यह पत्र १८२७ में बंद हो गया। उन दिनों सरकारी सहायता के बिना किसी भी पत्र का चलाना असम्भव था। कम्पनी-सरकार ने मिशनरियों के पत्र को डाक आदि की सुविधा दे रखी थी परन्तु चेष्टा करने पर भी 'उदन्त मार्तण्ड' को यह सुविधा प्राप्त नहीं हो सकी। अन्तिम विज्ञप्ति से इस विषय में काफी प्रकाश पड़ता है—इस 'उदन्त-मार्तण्ड' के नाव पड़ने के पहिले पछाँहियों के चित्त का इस कागज न होने से हमारे मनोर्थ सफल होने का बड़ा उतसा था। इसलिए लोग हमारे बिन कहे भी इस कागज की सही की बही पर सही करते गये, पैं हमें पूछिये तो इनकी मायावी दया से सरकार अंग्रेजी कम्पनी महा प्रतापी की कृपा कटाक्ष जैसे औरों पर पड़ी वैसे पड़ जाने की बड़ी आशा थी और मैंने इस विषय में उपाय यथोचित किया पैं करम की रेख कौन मेटे विस पर भी सही की बही देख जी सुखी होता रहा अन्त में नटों कैसे काम दिखाई दिए हम इस हेत स्वारथ अकारथ जान निरे परमारथ को मान कहां तक बनजिए अब अपने व्यवसाई भाइयों से मन की बात बताय बिदा होते हैं। हमारे कहे सुने का कुछ मा में न लाइयो जो देव और भूपर मेरी अन्तरव्यथा और इस पत्र के गुणों को विचार सुख करेंगे तो मेरे ही हैं। शुभमिति ॥'

१८२६ ई० से १८७३ ई० तक को हम हिन्दी-पत्रकारिता का पहला चरण कह सकते हैं। १८७३ ई० में भारतेन्दु ने 'हरिश्चन्द्र' मैगजीन की

स्थापना की। एक वर्ष बाद में यह पत्र 'हरिश्चन्द्र-चन्द्रिका' नाम से प्रसिद्ध हुआ। वैसे भारतेन्दु का 'कवि-वचन-सुधा' पत्र १८६७ में ही सामने आ गया था और उसने पत्रकारिता के विकास में महत्वपूर्ण भाग लिया था; परन्तु नई भाषा-शैली का प्रवर्तन १८७३ में 'हरिश्चन्द' मैगजीन से ही हुआ। इस बीच के अधिकांश पत्र प्रयोग-मात्र कहे जा सकते हैं और उनके पीछे पत्र-कला का ज्ञान अथवा नये विचारों के प्रचार की भावना नहीं है। उदंत मार्तण्ड (१८२६) के बाद प्रमुख पत्र हैं : बंगदूत (१८२९) प्रजामित्र (१८३४), बनारस अखबार (१८४५), मार्तण्ड पंच भाषीय, (१८४६), ज्ञानदीप (१८४६), मालवा अखबार (१८४९) जगद्दीपक भास्कर (१८४९), सुधाकर (१८५०), साम्यदण्ड मार्तदंड (१८५०), मजहरुलसरूर (१८५०), बुद्धिप्रकाश (१८५२), ग्वालियर गजेट १८५३), समाचार सुधावर्षण(१८५४), दैनिक कलकत्ता, सर्वहितकारक (१८५५), प्रजा हितैषी (१८५५), सूरजप्रकाश (१८६१) जगलाभ चिंतक(१८६१)सर्वोपकारक (१८६१),प्रजाहित(१८६१), लोकमित्र (१८६५), मातरखंडामृत (१८६४), तत्वबोधिनी पत्रिका (१८६५), ज्ञानप्रदायिनी पत्रिका (१८६६), सोनप्रकाश (१८६६), सत्यदीपक (१८६६), वृतांत विलास (१८६७), ज्ञानदीपक (१८६७), कविवचनसुधा (१८६७), धर्मप्रकाश (१८६७. विद्याविलास (१८६७), वृतांतदर्पण (१८६७), विद्या-दर्श (१८६९), ब्रह्मज्ञान प्रकाश (१८६९), पापमोचन (१८६९), जगदानन्द (१८६९), जगतप्रकाश (१८६९), अलमोड़ा अखबार (१८७०), आगरा अखबार (१८७०) बुद्धिविलास (१८७०), हिन्दू प्रकाश (१८७१), प्रयागदूत (१८७१), बुन्देलखंड अखबार (१८७१), प्रेमपत्र (१८७२) और बोधा समाचार (१८७२)।

इन पत्रों में से अधिकांश मासिक थे, कुछ साप्ताहिक। दैनिक पत्र केवल एक था—समाचार सुधावर्षण, जो द्विभाषीय (बंगला-हिन्दी) था, और कलकत्ते से प्रकाशित होता था। यह दैनिक पत्र १८७१ई० तक चलता रहा। अधिकांश पत्र आगरे से प्रकाशित होते थे, जो उन दिनों एक बड़ा शिक्षा-केन्द्र था और विद्यार्थी-समाज की आवश्यकताओं की पूर्ति करते थे। शेष ब्रह्म-समाज, सनातन धर्म और मिशनरियों के प्रचार-कार्य से सम्बन्धित थे। बहुत से पत्र द्विभाषीय (हिन्दी-उर्दू) थे और कुछ तो पंचभाषीय तक थे। इससे भी पत्रकारिता की अपरिपक्व दशा ही सूचित होती है। हिन्दी-प्रदेश के प्रारम्भिक पत्रों में बनारस अखबार (१८४५) काफी प्रभावशाली था और उसी की भाषा-नीति के विरोध में १८५० में तारामोहन मैत्र ने काशी से साप्ताहिक

सुधाकर' और १८५५ में राजा लक्ष्मणसिंह ने आगरा से 'प्रजाहितैषी' का प्रकाशन आरम्भ किया। राजा शिवप्रसाद का 'बनारस' अख़बार उर्दू-भाषा-शैली को अपनाता था, तो ये दोनों पत्र पंडिताऊ तत्सम-प्रधान शैली की ओर झुकते थे। इस प्रकार हम देखते हैं कि १८६७ से पहले भाषा-शैली के सम्बन्ध में हिन्दी पत्रकार किसी निश्चित नीति का अनुसरण नहीं कर सके थे। इस वर्ष कविवचन-सुधा' प्रकाशित हुआ और एक तरह से उसे हम पहला महत्वपूर्ण पत्र कह सकते हैं। पहले यह मासिक था, फिर पाक्षिक हुआ और अन्त में साप्ताहिक। भारतेन्दु के बहुविध व्यक्तित्व का प्रकाशन इस पत्र के माध्यम से हुआ, परन्तु सच तो यह है कि 'हरिश्चन्द' मैगजीन के प्रकाशन (१८७३) तक वे भी भाषा शैली और विचारों के क्षेत्र में मार्ग ही खोजते दिखलाई देते हैं।

हिन्दी-पत्रकारिता का दूसरा युग १८७३ से १९०० तक चलता है। इस युग के एक छोर पर भारतेन्दु का 'हरिश्चन्द' मैगजीन है और दूसरी ओर नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा अनुमोदन प्राप्त 'सरस्वती'। इन २७ वर्षों में प्रकाशित पत्रों की संख्या ३००-३५० से ऊपर है और ये नागपुर तक फैले हुए हैं। अधिकाँश पत्र मासिक या साप्ताहिक हैं। मासिक पत्रों में निबन्ध नवल कथा (उपन्यास), वार्ता इत्यादि के रूप में कुछ अधिक स्थायी सम्पत्ति रहती थी, परन्तु अधिकांश पत्र १०-१५ पृष्ठों से अधिक नहीं जाते थे। और उन्हें हम आज के शब्दों में विचार-पत्र ही कह सकते हैं। साप्ताहिक पत्रों में समाचारों और उन पर टिप्पणियों का भी महत्वपुर्ण स्थान था। वास्तव में दैनिक समाचार के प्रति उस समय विशेष आग्रह नहीं था और कदाचित् इसीलिए उन दिनों साप्ताहिक और मासिक पत्र कहीं अधिक महत्वपूर्ण थे। उन्होंने जन-जागरण में अत्यंत महत्वपूर्ण भाग लिया है।

उन्नीसवीं शताब्दी के इन २५ वर्षों का आदर्श भारतेन्दु की पत्रकारिता थी। 'कवि-वचन-सुधा' (१८६७), हरिश्चन्द मैगजीन' (१८७४), श्री हरीश-चन्द-चन्द्रिका' (१८७४), बाला-बोधिनी, स्त्रीजन की प्यारी' (१८७४) के रूप में भारतेन्दु ने इस दिशा में पथ-प्रदर्शन किया था। उनकी टीका-टिप्पणियों से अधिकारी तक घबराते थे और 'कवि-वचन-सुधा' के 'पंच' पर रुष्ठ होकर काशी के मजिस्ट्रेट ने भारतेन्दु के पत्रों को शिक्षा-विभाग के लिए लेना भी बन्द करा दिया था। इसमें सन्देह नहीं कि पत्रकारिता के क्षेत्र में भी भारतेन्दु पूर्णतया निर्भीक थे और उन्होंने नये-नये-पत्रों के लिए प्रोत्साहन दिया हिन्दी-प्रदीप', भारत जीवन' आदि अनेक पत्रों का नामकरण भी उन्होंने ही

किया था। उनके युग के सभी पत्रकार उन्हें अग्रणी मानते थे।

भारतेन्दु के बाद इस क्षेत्र में जो पत्रकार आये—उनमें प्रमुख हैं, पण्डित रुद्रदत्त शर्मा (भारत-मित्र, १८७७), बालकृष्ण भट्ट (हिंदी-प्रदीप १८७७), दुर्गाप्रसाद मिश्र (उचित वक्ता, १८७८), पं० बदरीनारायण चौधरी प्रेमघन' (आनन्द-कादम्बिनी, १८८१), देवकीनन्दन त्रिपाठी (प्रयाग-समाचार, १८८२) राजा रामपालसिंह (हिन्दुस्तान, १८८३), पंडित गौरीदत्त (देवनागरी-प्रचारक १८८२) प्रतापनारायण मिश्र (ब्राह्मण १८८३), अम्बिकादत्त व्यास (पीयूष-प्रवाह, [१८८४] बाबू रामकृष्ण वर्मा [भारत-जीवन, १८८४] पं० रामगुलाम अवस्थी (शुभचिंतक, १८८८), योगेशचन्द्र वसु (हिन्दी बंगवासी, १८९०), पं० कुन्दनलाल (कवि व चित्रकार, १८९१), और बाबू देवकीनन्दन खत्री एवं बाबू जगन्नाथदास (साहित्य-सुधानिधि, १८९४)। १८९५ ई० में 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका' का प्रकाशन आरम्भ होता है। इस पत्रिका से गम्भीर साहित्य-समीक्षा का आरम्भ होता है और इसलिए हम इसे एक निश्चित प्रकाश-स्तम्भ मान सकते हैं। अगले ४-५ वर्षों में कोई महत्त्वपूर्ण पत्र हमें नहीं मिलता, परन्तु पिछले अनेक पत्र पत्रकारिता को बराबर आगे बढ़ाते हैं। १९०० ई० में 'सरस्वती' और 'सुदर्शन', के अवतरण के साथ हिंदी-पत्रकारिता के इस दूसरे युग पर पटाक्षेप हो जाता है।

इन २५ वर्षों में हमारी पत्रकारिता अनेक दिशाओं में विकसित हुई। प्रारम्भिक पत्र शिक्षा-प्रसार और धर्म-प्रचार तक सीमित थे। भारतेन्दु ने सामाजिक, राजनैतिक, और साहित्यिक दिशाएं भी विकसित कीं। उन्होंने ही 'बाला-बोधिनी' (१८७४) नाम से पहला स्त्री-मासिक पत्र चलाया। कुछ वर्ष बाद हम महिलाओं को स्वयं इस क्षेत्र में उतरते देखते हैं: 'भारत-भगिनी (हरदेवी, १८८८), 'सुगृहणी' (हेमन्तकुमारी, १८८९)। इन वर्षों में धर्म के क्षेत्र में आर्यसमाज और सनातनधर्म के प्रचारक विशेष क्रियाशील थे।

ब्रह्मसमाज और राधास्वामी मत से सम्बन्धित कुछ पत्र और मिर्जा-पुर जैसे ईसाई-केन्द्रों से कुछ ईसाई-धर्म सम्बन्धी पत्र भी सामने आते हैं, परन्तु युग की धार्मिक प्रतिक्रियाओं को हम आर्य-समाजी और सनातनी पत्रों में ही पाते हैं। आज ये पत्र कदाचित् उतने महत्वपूर्ण नहीं जान पड़ते, लेकिन इसमें सन्देह नहीं कि उन्होंने हमारी गद्य-शैली को पुष्ट किया और जनता में नये विचारों की ज्योति भरी। इन धार्मिक वाद-विवादों के फल-स्वरूप समाज के विभिन्न वर्ग और सम्प्रदाय सुधार की ओर अग्रसर हुए और बहुत शीघ्र ही साम्प्रदायिक पत्रों की बाढ़ आ गई। सैकड़ों की संख्या

में विभिन्न जातीय और वर्गीय पत्र प्रकाशित हुए और उन्होंने असंख्य जनों को वाणी दी ।

आज वही पत्र हमारी इतिहास-चेतना में विशेष महत्वपूर्ण हैं जिन्होंने भाषा-शैली, साहित्य अथवा राजनीति के क्षेत्रों में कोई अप्रतिम कार्य किया हो । साहित्यिक दृष्टि से हिन्दी-प्रदीप (१८७७), ब्राह्मण (१८८३), क्षत्रिय-पत्रिका (१८८०) आनन्द-कादम्बिनी (१८८१), भारतेन्दु (१८८२), देवनागरी-प्रचारक (१८८२), वैष्णव-पत्रिका (पश्चात्, पीयूष प्रवाह, १८८३), कवि व चित्रकार (१८९१), नागरी-नीरद (१८८३), साहित्य-सुधानिधि, (१८९४) और राजनैतिक-दृष्टि से भारतमित्र (१८७७), उचित-वक्ता (१८७८), सार-सुधानिधि (१८७८), हिन्दुस्तान (दैनिक, १८८३), भारत-जीवन (१८८४), भारतोदय (दैनिक, १८८५, शुभचिंतक (१८८७)और हिन्दी बंगवासी (१ ९०) विशेष महत्त्वपूर्ण हैं । इन पत्रों में हमारे १९वीं शताब्दी के साहित्य-रसिकों, हिन्दी के कर्मठ उपासकों, शैलीकारों और चिन्तकों की सर्वश्रेष्ठ निधि सुरक्षित हैं । यह क्षोभ का विषय है कि हम इस महत्वपूर्ण सामग्री का पत्रों की फाइलों से उद्धार नहीं कर सके हैं । बालकृष्ण भट्ट, प्रतापनारायण मिश्र, सदानन्द मिश्र, रुद्रदत्त शर्मा, अम्बिकादत्त व्यास और बालमुकुन्द गुप्त—जैसे सजीव लेखकों की कलम से निकले हुए न जाने कितने निबन्ध, टिप्पणी, लेख, पंच, हास-परिहास और स्केच आज हमें अलभ्य हो रहे हैं । इतने जीवट के पत्रकार हमें बीसवीं शताब्दी में भी दिखाई नहीं देते । आज भी हमारे पत्रकार उनसे बहुत-कुछ सीख सकते हैं, अपने समय में तो वे अग्रणी थे ही ।

बीसवीं शताब्दी की पत्रकारिता हमारे लिए अपेक्षाकृत निकट है और उसमें बहुत कुछ पिछले युग की पत्रकारिता की ही विविधता और बहुरूपता मिलती है । वास्तव में विकास-शृंखला कुछ आगे बढ़ी है और पत्रकारिता की अनेक दिशाएं अधिक स्पष्ट हो गई हैं । १९वीं शती के पत्रकारों को भाषाशैली के क्षेत्र में अव्यवस्था का सामना करना पड़ा था । उन्हें एक ओर अंग्रेजी दूसरी ओर उर्दू के पत्रों के सामने अपनी वस्तु रखनी थी । अभी हिन्दी में रुचि रखने वाली जनता बहुत छोटी थी । धीरे-धीरे परिस्थिति बदली और हम हिन्दी-पत्रों को साहित्य और राजनीति के क्षेत्र में नेतृत्व करते पाते हैं । इस शताब्दी में धर्म और समाज-सुधार के आन्दोलन कुछ पीछे पड़ गए और जातीय-चेतना ने धीरे-धीरे राष्ट्रीय-चेतना का रूप ग्रहण कर लिया, फलतः अधिकांश पत्र

साहित्य और राजनीति को ही लेकर चले। साहित्यिक पत्रों के क्षेत्र में पहले दो दशकों में आचार्य द्विवेदी द्वारा सम्पादित 'सरस्वती' (१६ ३-१९१८) का नेतृत्व रहा। वस्तुतः इन बीस वर्षों में हिन्दी के मासिक पत्र एक महान् साहित्यिक शक्ति के रूप में सामने आये। शृंखलित उपन्यास कहानी के रूप में कई पत्र प्रकाशित हुए—जैसे 'उपन्यास' (१९०१), हिन्दी नाविल (१९०१), उपन्यास-लहरी (१९०२), उपन्यास प्रचार (१९१२)। केवल कविता अथवा समस्या-पूर्ति लेकर अनेक पत्र उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम वर्षों में निकलने लगे थे। वे चलते रहे। समालोचना के क्षेत्र में 'समालोचक' (१९०२) और ऐतिहासिक शोध से सम्बन्धित 'इतिहास' (१९०५) का प्रकाशन भी महत्वपूर्ण घटनाएं हैं। परन्तु सरस्वती ने miscellany के रूप में जो आदर्श रखा था, वह अधिक लोकप्रिय रहा और इस श्रेणी के पत्रों में उसके साथ कुछ थोड़े ही पत्रों का नाम लिया जा सकता है—जैसे भारतेन्दु (१९०५), नागरी हितैषिणी पत्रिका, बाँकीपुर (१९०५), नागरी प्रचारक (१९०६), मिथिला मिहिर (१९१०) और इन्दु (१९०९)। 'सरस्वती' और 'इन्दु' दोनों को हम साहित्य-पत्रकारिता का शीर्षमणि कह सकते हैं। 'सरस्वती' के माध्यम से आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी और 'इन्दु' के माध्यम से पंडित रूपनारायण पाण्डेय ने जिस सम्पादकीय सतर्कता, अध्यवसाय और ईमानदारी का आदर्श हमारे सामने रखा, वह हमारी पत्रकारिता को एक नई दिशा देने में समर्थ हुआ।

परन्तु राजनीतिक क्षेत्र में हमारी पत्रकारिता को नेतृत्व नहीं प्राप्त हो सका। पिछले युग की राजनैतिक पत्रकारिता का केन्द्र कलकत्ता था। परन्तु कलकत्ता हिन्दी प्रदेश से दूर पड़ता था और स्वयं हिन्दी-प्रदेश को राजनैतिक दिशा में 'जागरूक' नेतृत्व कुछ देर में मिला। हिन्दी-प्रदेश का पहला हिन्दी-दैनिक राजा रामपालसिंह का द्विभाषीय 'हिन्दुस्तान' (१८८३) है, जो अंग्रेजी-हिन्दी में कालाकांकर से प्रकाशित होता था। दो वर्ष बाद (१८८५), बाबू सीताराम ने 'भारतोदय' नाम से एक दैनिक-पत्र कानपुर से निकालना शुरू किया। परन्तु ये दोनों पत्र दीर्घजीवी नहीं हो सके और साप्ताहिक पत्रों को ही राजनीतिक विचार-धारा का वाहन बनना पड़ा। वास्तव में उन्नीसवीं शताब्दी में कलकत्ता के 'भारतमित्र', 'बंगवासी', 'सार-सुधानिधि' और 'उचितवक्ता' ही हिन्दी-प्रदेश की राजनीतिक भावना का प्रतिनिधित्व करते थे। इनमें कदाचित् 'भारतमित्र' ही सबसे स्थायी

और शक्तिशाली था। उन्नीसवीं शताब्दी में बंगाल और महाराष्ट्र लोक-जागृति के केन्द्र थे और उग्र राष्ट्रीय पत्रकारिता में भी ये ही प्रान्त अग्रणी थे। हिन्दी-प्रदेश के पत्रकारों ने इन प्रान्तों के नेतृत्व को स्वीकार कर लिया और बहुत दिनों तक उनका स्वतन्त्र राजनीतिक व्यक्तित्व विकसित नहीं हो सका। फिर भी हम अभ्युदय (१९०५), प्रताप (१९१३) कर्मयोगी (१९१४), हिन्दी केसरी (१९०४-८) आदि के रूप में हिन्दी राजनीतिक पत्रकारिता को कई डग आगे बढ़ते देखते हैं। प्रथम महायुद्ध की उत्तेजना ने एक बार फिर कई दैनिकों को जन्म दिया। कलकत्ता से 'कलकत्ता समाचार' 'स्वतन्त्र' और 'विश्वामित्र' प्रकाशित हुए, बम्बई से 'वेंकटेश्वर समाचार' ने अपना दैनिक-संस्करण प्रकाशित करना आरम्भ किया और दिल्ली से 'विजय' निकला। १९२१ में काशी से आज और कानपुर से वर्तमान प्रकाशित हुए। इस प्रकार हम देखते हैं कि १९२१ में हिन्दी-पत्रकारिता फिर एक बार करवटें लेती है और राजनीतिक-क्षेत्र में अपना नया जीवन आरम्भ करती है। हमारे साहित्य-पत्रों के क्षेत्र में भी कुछ नई प्रवृतियों का आरम्भ इसी समय से होता है, फलतः बीसवीं शती के पहले बीस वर्षों को हम हिन्दी-पत्रकारिता का तीसरा चरण कह सकते हैं।

१९२१ के बाद हिन्दी-पत्रकारिता का समसामयिक-युग आरम्भ होता है। इस युग में हम राष्ट्रीय (राजनैतिक) और साहित्यिक-चेतना को साथ—साथ पल्लवित पाते हैं। इसी समय के लगभग हिन्दी का प्रवेश विश्वविद्यालयों में हुआ और कुछ कृती ऐसे सम्पादक सामने आये जो अंग्रेजी की पत्रकारिता से पूर्णतया परिचित थे और हिन्दी पत्रों को अंग्रेजी मराठी और बंगला के पत्रों के समकक्ष लाना चाहते थे। फलतः साहित्यिक पत्रकारिता में एक नए युग का आरम्भ हुआ। राष्ट्रीय आन्दोलनों के द्वारा हिन्दी की राष्ट्रभाषा के लिए योग्यता पहली बार घोषित हुई और जैसे-जैसे राष्ट्रीय आन्दोलनों का बल बढ़ने लगा, हिन्दी के पत्रकार और उनके पत्र अधिक महत्त्व पाने लगे। १९२१ के बाद गांधी जी के नेतृत्त्व में राष्ट्रीय आन्दोलन मध्यवर्ग तक सीमित न रह कर ग्रामीणों और श्रमिकों तक पहुंच गया और उसके इस प्रसार में हिन्दी-पत्रकारिता ने महत्त्वपूर्ण योग दिया। सच तो यह है कि हिन्दी पत्रकार राष्ट्रीय आन्दोलनों में अग्रपंक्ति में थे और उन्होंने विदेशी-सत्ता से डटकर मोर्चा लिया। विदेशी सरकार ने अनेक बार नये-नये कानून बनाकर समाचार पत्रों की स्वतंत्रता पर कुठाराघात किया। परन्तु जेल, जुर्माना और अनेकानेक

मानसिक और आर्थिक कठिनाइयां झेलते हुए भी हमारे पत्रकारों ने स्वतन्त्र विचार की दीप-शिक्षा जलाए रखी।

१९२१ के बाद साहित्य-क्षेत्र में जो पत्र आये, उनमें प्रमुख हैं—माधुरी (१९२३), चांद (१९२३), मनोरमा (१९२४), समालोचक (१९२४), चित्रपट (१९२५) कल्याण (१९२६), सुधा (१९२७), विशाल भारत १९२५), त्याग-भूमि (१९२८), हंस (१९३०), कमला (१९३९), मधुकर (१९४०), जीवन-साहित्य (१९४०), विश्व-भारती (१९४२), संगम (१९४२), कुमार (१९४४), नया-साहित्य (१९४५), पारिजात (१९४५), हिमालय (१९४६) आदि। वास्तव में आज हमारे मासिक-साहित्य की प्रौढ़ता और विविधता में किसी प्रकार का संदेह नहीं हो सकता। हिंदी की अनेकानेक प्रथम श्रेणी की रचनाएं मासिकों के द्वारा ही पहिले प्रकाश में आई हैं। आज हमारे मासिक, जीवन और साहित्य के सभी अंगों की पूर्ति करते हैं और अब विशेषज्ञता की ओर ध्यान जाने लगा है। सच तो यह है कि सरस्वती (१९००), इन्दु (१९०९-१६) माधुरी (१९२३) त्याग भूमि (१९२८) विशाल-भारत (१९२८) हंस (१९३०) और रूपाभ (१९३८) जैसे पत्रों को छोड़कर आधुनिक हिन्दी-साहित्य का इतिहास लिखना ही असम्भव बात है। साहित्य की प्रवृतियों की जैसी विकासमान झलक पत्रों में मिलती है, वैसी पुस्तकों में नहीं मिलती। वहाँ हमें साहित्य का सक्रिय, सप्राण गतिशील रूप प्राप्त होता है।

राजनीतिक क्षेत्र में इस युग में जिन पत्रिकाओं की धूम रही है। कर्मवीर (१९२४), सैनिक (१९१४), सूर्य (१९१९), स्वदेश (१९२१), श्री कृष्ण सन्देश (१९२५) हिन्दू-पंच (१९२६), स्वतन्त्र भारत (१९२८), जागरण (१९२९), हिन्दी मिलाप (१९२९), सचित्र दरबार (१९३०), स्वराज्य (१९३१), नवयुग (१९३२), हरिजन सेवक (१९३२), विश्वबन्धु (१९३३), नवशक्ति (१९३४), योगी (१९३४), हिन्दू (१९३६), देशदूत (१९३८), संगम (१९४०), जनयुग (१९४२), रामराज्य (१९४२), लोक-वाणी (१९४२), सावधान (१९४२), हुंकार (१९४२), संसार (१९४३), और सन्मार्ग (१९४३। इनमें से अधिकांश साप्ताहिक हैं, परन्तु जन-मन के निर्माण में उनका योग-दान महत्त्वपूर्ण रहा है। जहां तक पत्र-कला का सम्बन्ध है वहां तक हम स्पष्ट रूप से कह सकते हैं कि तीसरे और चौथे युग के पत्रों में धरती-आकाश का अन्तर है। 'हिन्दी केसरी' (१९०७-०९) और 'लोक युद्ध' (११४२) को साथ-साथ रख कर देखें तो यह स्पष्ट हो जायगा

कि इन तीस-पेंतीस वर्षों में पत्र-सम्पादन का धरातल ही बदल गया है, और आज पत्र-सम्पादन वास्तव में उच्चकोटि की कला है। राजनीतिक पत्रकारिता के क्षेत्र में 'आज' (१९२१) और उसके सम्पादक श्री बाबूराव विष्णुराव पराड़कर का लगभग वही स्थान है जो साहित्यिक पत्र कारिता के क्षेत्र में आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी को प्राप्त है। सच तो यह है कि 'आज' ने पत्र-कला के क्षेत्र में एक महान् संस्था का काम किया है और उसने हिन्दी को बीसियों पत्र-सम्पादक और पत्रकार दिये हैं। 'आज' के पथ-प्रदर्शन पर चलने वाले दैनिकों में से प्रमुख हैं—सैनिक (१९२८), शक्ति १९३०, प्रताप १९३१) नवयुग (१९३२), नवराष्ट्र (१९३३) भारत (१९३३), लोकमत (१९३१), लोकमान्य (१९३०), विश्वमित्र (कलकत्ता १९१७), बम्बई (१९४१), नई दिल्ली (१९४२), नवभारत १९३४, अधिकार (१९३८), अग्रगामी (१९३८), आर्यावर्त (१९४२,) राष्ट्रवाणी (१९४२), संसार (१९४३), नया हिन्दुस्तान (१९४४), जयहिंद (१९४६) और सन्मार्ग (१९४६)। और भी अनेक दैनिक सामने आये हैं और आज वरदा से हिमालय और अमृतसर से कलकत्ता तक उनका ताना-बाना बुना हुआ है। दैनिक पत्र-कला का विशेष विकास पिछले दो महायुद्धों के बीच में हुआ है और अभी वह अंग्रेजी दैनिकों की तुलना में छोटी पड़ती है, परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि उसकी जड़ें देश की मिट्टी में दूर तक चली गई हैं और स्वतन्त्र भारत के नव-निर्माण में उसका महत्त्व उसी प्रकार अप्रतिम रहेगा जिस प्रकार राष्ट्रीय जन-संग्राम में उसका नेतृत्व अक्षुण्ण था।

ऊपर की विवेचना से यह स्पष्ट है कि आज की हिन्दी-पत्र-कारिता के पीछे लगभग १२५ वर्षों की परम्परा है। आधुनिक साहित्य के अनेक अंगों की भांति हमारी पत्रकारिता की नई कोटि है और उसमें भी मुख्यतः हमारे मध्यवित्त समाज की सामाजिक, सांस्कृतिक, साहित्यिक और राजनैतिक हलचलों का प्रतिबिम्ब है। वास्तव में पिछले १२५ वर्षों का सच्चा इतिहास हमारी पत्र-पत्रिकाओं से ही संकलित हो सकता है। बंगला में 'से कालेर कथा' ग्रन्थ में पत्रों के अवतरणों के आधार पर बंगला के उन्नीसवीं शताब्दी के मध्यवित्तीय-जीवन के पुनर्निर्माण का प्रयत्न हुआ है हिन्दी में भी ऐसा प्रयत्न वांछनीय है। एक तरह से उन्नीसवीं शती में साहित्य कही जा सकने वाली चीज बहुत कम है और जो है भी, वह पत्रों के पृष्ठों में ही पहले-पहल सामने आई है। भाषा-शैली के निर्माण और जातीय-शैली के विकास में पत्रों का योग-दान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण रहा है, परन्तु बीसवीं शती के पहले दो

दशकों के अन्त तक मासिक-पत्र और साप्ताहिक-पत्र ही हमारी सहित्यिक प्रवृत्तियों को जन्म देते और विकसित करते रहे हैं। द्विवेदी युग के साहित्य का असली रूप है। १९२१ ई० के बाद साहित्य बहुत-कुछ पत्र-पत्रिकाओं से स्वतन्त्र होकर अपने पैरों पर खड़ा होने लगा, परन्तु फिर भी विशिष्ट साहित्यक आन्दोलनों के लिए हमें मासिक-पत्रों के पृष्ठ ही उलटने पड़ते हैं। राजनीतिक-चेतना के लिए तो पत्र-पत्रिकाएं महत्त्वपूर्ण हैं ही। वस्तुतः पत्र-पत्रिकाएं जितनी बड़ी जन-संख्या को छूती हैं, विशुद्ध-साहित्य का उतनी बड़ी जन-संख्या तक पहुंचना असम्भव है। स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद पत्र-पत्रिकाओं का महत्त्व और उनका उत्तरदायित्व बढ़ा है। आज हिन्दी राष्ट्रभाषा घोषित हो गई है ओर कई प्रान्तों में वही एक-मात्र राजकीय-भाषा है। हिन्दी-पत्रकारिता धीरे-धीरे अंग्रेजी पत्रकारिता का स्थान ले रही है और निकट भविष्य में हम उसे और भी व्यापक और सशक्त देख सकेंगे।

: ३० :

पिछले दशक में निबंध और गद्य-शैली का विकास

[१]

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने आधुनिक काल को 'गद्य-काल' कहा है। यद्यपि यह कहा जा सकता है कि 'गद्य' साहित्य की कोई अन्तरंग प्रवृत्ति नहीं है और आज भी 'पद्य' ही हिन्दी-प्रदेश की जनता की चित्तवृत्तियों का प्रतिनिधित्व करता है, तथापि यह स्पष्ट है कि गद्य जितनी भूमि घेर कर चल सकता है, और चला है, उतनी पद्य के लिए संभव नहीं है। आधुनिक युग की विशेष प्रतिभा कर्म और चिन्तन के क्षेत्र में नहीं। १९३६ के बाद के युग के लिए तो यह बात और गी लागू होती है, जब छायावादी काव्यधारा क्षीण-बल होकर मंथर पड़ जाती है और ह्रासोन्मुखी बन जाती हैं और युग का प्रतिनिधित्व गद्यरचनाओं को मिलने लगता है। १९३६-३७ में प्रकाशित दो ग्रन्थ 'गोदान' और 'कामायनी' गद्य-पद्य के क्षेत्र में समान रूप से महत्वपूर्ण हैं, परन्तु 'कामायनी' के बाद 'अंधा युग' (भारती १९५५) तक कोई रचना ऐसी नहीं आ सकी जिसमें युग-प्रतीकत्व हो। एक तरह से पिछले बीस वर्षों में पद्य की अपेक्षा गद्य ही अधिक सफल रहा है और

उसमें नई दिशाओं का विस्तार अपेक्षाकृत अधिक ही हुआ है।

अगस्त १९४७ में हमें स्वाधीनता प्राप्त हुई। परन्तु इससे पहले के आठ-दस वर्ष देश के लिए गरल-मन्थन के वर्ष थे। १९३९-४५ के दूसरे महायुद्ध में साहित्यिकों ने या तो एकदम मौन धारण कर लिया, क्योंकि विदेशी सरकार का दमन-चक्र और भी तीव्र हो उठा था; अथवा सरकार के पिछलग्गू लेखकों का एक वर्ग तैयार हो गया जो साम्यवाद की आड़ में जन-मोर्चे का नारा लगा कर साहित्य के मंच पर कुण्डली मार कर बैठ गया। 'काले-काले बादल आए, न आए वीर जवाहरलाल' कजली' में निराला ने उन दिनों के साहित्यिक के मन की व्यथा को खूब उभारा है। दमन, कुंठा और आत्मपीड़न के उस युग में कविता कंठावरोध के कारण मौन थी और गद्य खूब फला। परन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं कि उसके साहित्यिक-पक्ष की वृद्धि हुई। एक तरह से दैनंदिन घटनाओं का विवरण गद्य का विषय बन गया और इसे युग-धर्म समझा जाने लगा कि लेखक वस्तून्मुखी-चित्रों को सजा कर जीवन के प्रति हमारी संवेदना को बनाए रखे। 'सरिता, सागर और अकाल' (रामानन्द सागर) और 'महाकाल' (अमृतलाल नागर) जैसे उपन्यास प्रेमचन्द की चारित्रिक भूमि को छोड़ कर फिर एक बार विवरण-प्रधान घटनाओं की ओर लौटते हैं। फल यह हुआ कि साहित्य पत्रकार-कला बन गया और कला को राजनैतिक सक्रियता में उलझा दिया गया। अधिकांश नए लेखकों और बहुत-से पुराने लेखकों की रचनाएं समाचारपत्रों की कतरनों को सजा कर प्रस्तुत कर देती हैं, और यह सजावट भी बड़ी बेतरतीब और अपूर्ण है। परन्तु वस्तून्मुख सत्य के प्रति इस भावमयी-दृष्टि से यह लाभ भी हुआ कि खड़ी बोली की चित्रांकन-प्रतिभा विकसित हुई। प्रेमचन्द, जैनेन्द्र के बौद्धिक भाराक्रांत गद्य से हट कर हम रसोन्मुख गद्यलेखन की ओर प्रवृत्त हुए। यह नया उच्छृंखल भाव-बोध पिछले दशक में नए-नए प्रयोगों को जन्म देता है। जहां एक ओर पिछले दशक में, निबन्ध के क्षेत्र में, विशेषतया समीक्षात्मक निबन्ध के क्षेत्र में भाषा-शैली की तत्समता बढ़ी और बौद्धिक प्रयासों को नए-नए हिमशिखर प्राप्त हुए, साथ ही विचारों की जटिलता भी बढ़ी, वहां गद्य के क्षेत्र में, कुछ नई भावात्मक कोटियों ने जन्म लिया, जैसे रिपोर्ताज, रेखाचित्र, संस्मरण, भेंट, भावचित्र (फ़ीचर) लघुकथा और लघु-निबन्ध। निबन्ध के क्षेत्र में आत्मव्यंजक-निबन्धों के अनेक रूप सामने

आये और कुछ विशिष्ट लेखकों ने ललित-निबन्ध को कला के चरमोत्कर्ष-तक पहुंचा दिया। 'मैला आंचल' (रेणु) जैसे नई शैली के उपन्यासों और 'सूरज का सातवा घोड़ा' (भारती) और 'चांदनी के खण्डहर' (गिरिधर गोपाल) जैसे लघु-उपन्यासों में भाव-सत्य को आंतरिकता देने के लिए नई-नई गद्य-शैलियों का प्रादुर्भाव हुआ। वास्तव में समीक्षात्मक-निबन्ध और कथासाहित्य गद्य-यत्नों के दो छोर हैं जो एक ओर चरम बौद्धिक उत्कर्ष और निर्वैयक्तिकता; एवं दूसरी ओर चरम भावबोध और व्यक्तिमत्ता को स्पर्श करते हैं और इन दो छोरों के बीच में गद्य के दो प्रयोजनों (ज्ञानवर्द्धन और रसोद्रेक) की अनेक इकाइयां आती हैं। पिछले दशक में इन दो छोरों के बीच के अंतराल में काफ़ी हलचल रही है : वास्तव में इस दशक में साहित्य में गतिरोध को लेकर जो वितंडावाद उठा है उसका सम्बन्ध कविता के क्षेत्र से है गद्य में इस प्रकार का कोई गतिरोध नहीं मिलता। वह सतत विकासशील रहा है।

हिंदी गद्य का बाल्यकाल फोर्ट विलियम कालेज, श्रीरामपुर के पादरियों, राजा शिवप्रसाद सितारेहिंद और भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र की गोद में बीता। सच तो यह है कि उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में, विशेषतया १८६७ से १९०३ तक, भारतेन्दु और उनके मण्डल की रचनाओं में ही खड़ी बोली गद्य का कण्ठ फूटता है। उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम और बीसवीं शताब्दी के प्रथम बीस वर्षों में आर्यसमाज भी गद्य की उन्नायक शक्ति रहा है। बीसवीं शती के प्रथम दो दशक आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी के नाम पर द्विवेदी-युग कहे जाते हैं जो गद्य के क्षेत्र में उनकी महान साधना की स्वीकृति है, परन्तु हिन्दी गद्य के विकास में द्विवेदी जी का कार्य ईश्वरचन्द्र विद्यासागर के कार्यकलाप से भिन्न नहीं है। उन्होंने भाषा के स्वरूप का संस्कार किया और खड़ी बोली गद्य की प्रामाणिक जातीय शैली का भी निर्माण किया। उनके साहित्य में कैशोर के वयःसंधि-काल का वैचित्र्य, परिश्रम और चमत्कार हैं। प्रेमचन्द [रचनाकाल १९१६-३७] ने हमारे गद्य को हिन्दी-प्रदेश में और हिन्दी-प्रदेश के बाहर भी लोकप्रिय बनाया और कथा-साहित्य में उसे मान्यता दी, परन्तु वे रवीन्द्रनाथ की तरह कुशल शैलीकार और प्रयोगी नहीं थे। फलतः गद्य-पद्य 'काव्य' से पीछे रह गया और आचार्य रामचन्द्र शुक्ल जैसे विश्रुत विद्वान् की रचनाएं भी उसके जड़ कुण्डली-चक्र का भेदन नहीं कर सकीं। यह स्पष्ट है कि अभी गद्य पद्य का अभिव्यंजना-लाघव और वैलक्षण्य प्राप्त नहीं कर सका है, जैसा

बंगला में रवीन्द्रनाथ की कृतियों के कारण सम्भव हो गया है फिर भी यह स्पष्ट है कि इन पिछले डेढ़-सौ वर्षों के भीतर ही उसे विचक्षण प्रौढ़ता प्राप्त हुई है, यद्यपि अभी उसकी दुर्बलताएं और त्रुटियां बनी हुई हैं। इनमें कुछ तो मूलभूत हैं। हिन्दी का उद्गम संस्कृत है और संस्कृत संयोगी भाषा होने के कारण समास और अनुप्रास से शासित है। पद्य में समास और अनुप्रास की जितनी सुरक्षा है उतनी गद्य में नहीं। प्रारम्भ में हमारे गद्यकारों ने संस्कृत का अन्धानुकरण किया, परन्तु द्विवेदी-युग के सुधारों ने यह सिद्ध कर दिया कि हिन्दी गद्य छोटे और सरल वाक्यों में चमकता है। परन्तु कलात्मक और भावात्मक प्रयोगों के लिए लम्बी और संयुक्त भावों की साधना कठिन है, जिनमें वाक्भंगि, अन्तर्योजन और विरामचिन्हों के व्यञ्जक-प्रयोगों का प्रसार हो। हिन्दी गद्य की एक बड़ी व्यावहारिक दुर्बलता क्रियापदों का अभाव है। काव्य-प्रक्रिया में समास पद्धति के प्रयोग और भावाभिव्यंजना के द्वारा क्रियाओं का बहिष्कार किया जा सकता है। इससे पद्य चमक उठता है, परन्तु गद्य में कोई अन्य मार्ग ही नहीं है। यूरोपीय भाषाओं में संज्ञाओं और विशेषणों में क्रियापदों के निर्माण की अपरिसीम सुविधायें हैं और जनपदीय बोलियों में भी इसी प्रकार की स्थिति हमें मिलती है। परन्तु खड़ी बोली क्रियापदों के प्रति संकोचशील है और संज्ञा अथवा विशेषण के उपरांत 'कर' अथवा 'हो' धातु के प्रयोग से क्रिया-पदों का निर्माण आवश्यक हो जाता है। 'बार-बार' करना अथवा 'होना' का प्रयोग गद्य को नीरस और बोझिल बना देता है। श्रेष्ठ गद्य-शैली के लिए यह आवश्यक है कि उसमें सूत्रबद्धता के साथ हलकापन हो और साथ ही एक प्रकार का 'ढीलापन' भी हो। पिछले दशक में जैनेन्द्र और अज्ञेय की मनोवैज्ञानिक रचनाओं ने भाषा-शैली को नए मोड़ दिए हैं और उसे आंतरिकता देकर उसकी अभिव्यंजना-शक्ति को पुष्ट किया है। परन्तु अभी हम अपने गद्य में वह अर्थगर्भिता और लोच नहीं ला सके हैं जो अंग्रेजी और फ्रांसीसी भाषाओं की विशेषता है। एक दूसरी कठिनाई सीमित-शब्दकोष के कारण भी उपस्थित होती है। हमारी साहित्यिक प्रकृति संस्कृत में मूलनिष्ठ है, परन्तु हमने संस्कृत का अध्ययन छोड़ दिया है जिसका फल यह हुआ है कि बहुत से अभिव्यंजक भाववाचक और दार्शनिक शब्द पीछे छूट गए हैं। आधुनिक धारणाओं, विशेषतया पारिभाषिक आवश्यक-ताओं के लिए हमारे पास शब्द नहीं हैं। अब तक हम अंग्रेजी के शब्दों से काम चलाते रहे हैं और इस ओर प्रयत्न की नई दिशाएं अभी स्पष्ट और

निर्दिष्ट नहीं हैं। फलस्वरूप, हिन्दी-गद्य वर्णन; विवरण और वार्त्ता [संवाद] के लिए तो ठीक है और कथा-साहित्य में उसके बड़े सुन्दर प्रयोग हमें मिलते हैं, परन्तु विचारात्मक, समीक्षात्मक और दार्शनिक गद्य-लेखनके लिए वह अभी अनुपयुक्त ही है।

[२]

पश्चिमी भाषाओं की तुलना में हिंदी विचारात्मक गद्य के क्षेत्र में कहीं अधिक निर्धन है। निबंध का क्षेत्र मूलतः विचार-क्षेत्र है, अतः यह निर्धनता निबंधों के क्षेत्र में बराबर मिलेगी। यह अवश्य है कि आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी और डा० वासुदेवशरण अग्रवाल जैसे मूल चिंतकों और पण्डितों का योग हमें इस क्षेत्र में मिला है परन्तु परिमाण एकदम थोड़ा है और वह हिंदी के लिए किसी भी प्रकार गौरव की वस्तु नहीं है। विचारात्मक गद्य प्रत्येक भाषा में कम होता है, परन्तु हमारी भाषा में अनुपात में और भी कम है। यह नहीं कि इस ओर लेखकों की प्रवृत्ति नहीं रही हो। भारतेन्दु ने 'वैष्णवधर्म और भारतवर्ष' और 'नाटक' निबंध लिखकर विचार लेखन का आरम्भ किया था, परन्तु भाषा निश्चय ही उनके विचारों का भार वहन करने में असमर्थ थी। वास्तव में हिंदी भाषा का परिमार्जित और मुखर रूप हमें आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी के 'सरस्वती-संपादन-काल' [१९०३-१८] में उन्हीं के द्वारा प्राप्त हुआ, परन्तु उन्होंने छोटे-छोटे वाक्यों और प्रसाद गुण पर विचारों की गम्भीरता और सूक्ष्मता को स्पष्ट ही बलिदान कर दिया। द्विवेदी-युग के पश्चात् के लेखकों में आचार्य शुक्ल, प्रेमचन्द और प्रसाद प्रमुख हैं; परन्तु इन तीनों के समस्त साहित्य में भी वह विविधता और व्यापकता नहीं है जो रवीन्द्रनाथ ठाकुर के गद्य-साहित्य में है। इनमें विचारात्मक गद्य मुख्यतः आचार्य शुक्ल की देन है। शेष दोनों लेखक क्रमशः उपन्यासकार और नाटककार हैं और उनका विचारात्मक-गद्य एक-एक पुस्तक से अधिक नहीं है। प्रेमचन्द का विचार-साहित्य प्रमुखतः प्रेरणात्मक है और शैली की दृष्टि से उसे द्विवेदी जी की गद्य-शैली का विकास ही कहना ठीक होगा। प्रसाद का गद्य समीक्षात्मक है और उसमें तथ्य-कथन एवं सूत्रलेखन की प्रवृत्ति ही अधिक है। कहा है : गद्यः कवीना निकषः बदन्ति।' यदि यह बात ठीक है तो 'काव्य-कला और अन्य निबंध' शीर्षक ग्रन्थ में प्रसाद गद्य-लेखन में असफल ही हुए हैं। रवीन्द्रनाथ की आलंकारिक-भाषा और रूपक-सामर्थ्य उन्हें प्राप्त नहीं है और वे गम्भीर विषयों को कवि की दृष्टि से नहीं, तर्कवादी बौद्धिक प्रक्रिया के भीतर से देखते हैं। विचार-गद्य का सेहरा

आचार्य शुक्ल के सिर पर बंधता है जिन्होंने जीवन, नीति और साहित्य सम्बन्धी गम्भीरतम विचारों को हिंदी का रूप दिया। आचार्य शुक्ल शास्त्रीय और गम्भीर मनोवैज्ञानिक विषयों पर निबंध लिखने में समर्थ हुए, परन्तु उन्होंने न अंग्रेजी शब्दों का उपयोग किया, न संस्कृत के अप्रयुक्त शब्दों का। उनके समस्त साहित्य में नए गढ़े शब्दों की संख्या अपेक्षाकृत कम ही रही है, यद्यपि उन्होंने प्रचलित संस्कृत धातुओं से हिंदी शब्द-कोष की वृद्धि की है। उनकी रचनाओं के परिमाण और उनकी विविधता को देखते हुए यह आश्चर्यजनक है कि उन्होंने अंग्रेजी शब्दों का कितना कम उपयोग किया और समर्थ होते हुए भी, नए शब्दों के निर्माण को वे कितनी कम दूरी तक ले गए। नए समास और योगायोग तो अनिवार्य थे ही, परन्तु आचार्य की यह विशेषता है कि उनका गद्य-लेखन स्वच्छन्द और त्वरित है, उसमें प्रयत्नसाधता का आभास नहीं मिलता। उनकी भाषा-शैली में लक्ष्यबद्धता और ऋजुता है, विचारों की गलियों में वे काव्य का संबल लेकर चक्कर नहीं लगाते। इसमें संदेह नहीं कि एक सीमित क्षेत्र में उनका गद्य विचारात्मक गद्य-शैली का सबसे समर्थ रूप उपस्थित कर सका है।

आचार्य शुक्ल की भाषा-शैली का एकदम विपरीत रूप हमें जैनेन्द्रकुमार में मिलता है। जैनेन्द्रकुमार न रूपक-पद्धति में विश्वास रखते हैं, न भावों की चक्करदार अलंकृति में। उनके गद्य में संस्कृतनिष्ठा का विरोध परिलक्षित होता है। वे संस्कृत समासों को तोड़ कर रखते हैं और तत्समगर्भित शैली की सुबद्धता और सूत्रबद्धता के स्थान पर तद्भव, देशज और फ़ारसी शब्दों की खुली गैल पसंद करते हैं। उनकी रचनाएं काव्य-क्षेत्र में निराला के 'परिमल' की रचनाओं की याद दिलाती हैं। जैनेन्द्र ने वार्त्ता-शैली को सर्वोपरि रखा है और उनके गंभीर निबंध भी बतकही बन गए हैं। जहां हिन्दी पर्याय नहीं मिले हैं, वहां उन्होंने अंग्रेजी शब्दों से संतोष कर लिया है। जहाँ तक ऋजुता और स्पष्टता का संबंध है, इस का फल अच्छा ही हुआ, परन्तु गंभीरता का ह्रास अवश्य हुआ है। विनोद और श्लेष की प्रवृत्ति और शब्दकोश के संबंध में उनकी अलस प्रवृत्ति उनके निबंधों को व्यक्तित्वनिष्ठ बनाती है, परन्तु सुधी पाठक को उनमें कृत्रिमता का भी आभास होने लगता है। जैनेन्द्र का विश्वास है कि जहां तक संभव हो, गद्य-लेखन बोलचाल की प्रतिलिपि हो और बात सूत्रबद्ध हो। 'ब्रीवटी इज़ द सोल ऑफ विट'—इस सिद्धांत का अक्षरक्षः पालन उन्होंने किया है।

१६३० के बाद हिन्दी-गद्य में जनपदीय शब्दों का उपयोग धड़ल्ले से होने लगता है। जहां उपन्यासकारों ने स्थानीय रंग देने और वातावरण के निर्माण के लिए स्वतंत्र रूप से अथवा संवाद में इस प्रकार की आयोजना की है, जैसे बलभद्र दीक्षित (पढ़ीस) और वृन्दावनलाल वर्मा ने, वहां विवरणात्मक निबंधों और प्रयोगजनीन गद्य में भी उनका समावेश हो गया है। कुछ उपन्यासों में, विशेषतया निराला के 'चमेली' 'बिल्लेसुर बकरिहा' और 'काली करतूतें' में यह प्रयोग अतिवाद की सीमा तक पहुंच गया है। यह स्पष्ट है कि १६३७ में प्रेमचंद और प्रसाद की दिवंगति के साथ हिन्दी गद्य-शैली के विकास का एक सोपान समाप्त होता है और भावाभिव्यंजना अध्ययनमूलकता एवं प्रयोग पर अधिक बल दिया जाता है। द्विवेदी जी ने हिन्दी गद्य का जो प्रतिमान उपस्थित कर दिया था, उसकी शृंखला अब बिखरने लगती है और विकेन्द्री-करण की शक्तियां बलवती हो जाती हैं। पिछले बीस वर्षों में हिन्दी निबन्ध एक महती शक्ति के रूप में सामने आया, उसमें उन आत्मगत निबन्धों का भी विकास हुआ है जिनकी परम्परा भारतेन्दु-युग की सबसे सजीव साहित्यिक-निधि है और जिसे द्विवेदी-युग में नीतिवाद और तथ्यकथन के मरु में खो जाना पड़ा था। जैनेन्द्र, उग्र, सियारामशरण गुप्त, बालेन्दु, हजारीप्रसाद द्विवेदी, गुलाबराय, विद्यानिवास मिश्र आदि अनेक लेखक आत्मव्यंजक निबंध-शैली में सफल हुए हैं यद्यपि अभी यह निबंध-कोटि उस मर्यादा को प्राप्त नहीं हुई है जो पश्चिम में इसे प्राप्त है। विचारात्मक-निबंध के क्षेत्र का प्रसार अधिक है और उसमें साहित्यिक एवं समीक्षात्मक निबंधों को शीर्षता मिली है। इन निबंधों के क्षेत्र में डा० नगेन्द्र, डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी, श्री नलिन विलोचन शर्मा, डा० देवराज का नाम सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है। व्यावहारिक और सैद्धान्तिक दोनों प्रकार की समीक्षाएं सामने आई हैं और कुछ निबंधों में साहित्य की रसबोध-प्रक्रिया और सर्जनात्मक-प्रेरणा के मूल-स्रोतों की बड़ी विशद व्याख्या की गई है। यह विचारणीय है कि सैद्धान्तिक समीक्षा पर लिखे निबंधों की भाषा उत्तरोत्तर जटिल होती जा रही है और हम तर्कवाद एवं मनोविश्लेषण के मरु में खो रहे हैं। व्यंजना, अर्थवित्ता और संवेद्यता के सूक्ष्म-तत्वों का आ लन आज हिन्दी समीक्षा की रसदृष्टि को गहराई दे रहा है, परन्तु समीक्षा की भाषा न अभी स्थायित्व को प्राप्त हुई है, न उसमें वह स्पष्ट बोध आ सका है जो श्रेष्ठ समीक्षा का गुण है।

आधुनिक युग में बहुधा काव्य और समीक्षा साथ-साथ चलते हैं।

कवि के लिए समीक्षक होना अनिवार्य नहीं हैं, परन्तु कठिन भी नहीं है। कवि यदि गद्यकार होता है तो उसका गद्य सुन्दर ही होता है और उसमें दार्शनिकता की मात्रा अधिक होती है। छायावाद के सभी प्रतिष्ठित कवियों ने विचारात्मक गद्य लिखा है और पिछले दशक में हमें पंत, महादेवी, दिनकर, अज्ञेय और धर्मवीर भारती की समीक्षाएं विशेष रूप से उपलब्ध हुई हैं। इसमें सन्देह नहीं कि इन कवि-समीक्षकों के गद्य ने संवेद्यता की वृद्धि की है और उन्होंने अपने सिद्धान्तों एव विचारों को प्रतिमानों तथा प्रयोगों से पुष्ट किया है। विशुद्ध समीक्षकों की व्यापक समीक्षा-दृष्टि उन्हें भले ही नहीं प्राप्त हो, उनके गद्य-चिन्तन में रसबोध और अनुभूति का अंश अधिक है और कहीं-कहीं, जैसे दिनकर और महादेवी के गद्य में, गद्य भी काव्य बन गया है। जो समीक्षक कवि नहीं हैं, परन्तु जिन्होंने ज्ञान की भावात्मक साधना से मुंह नहीं मोड़ा है, जैसे आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी, उनकी समीक्षाएं सर्जनात्मक एवं अन्तर्बोधिनी होने के कारण विशेष आकर्षक बन पड़ी हैं।

गद्य-शैली की विकास-भूमि को स्पष्ट करने के लिए हमने निबन्धकारों को पहले लिया है क्योंकि कथाकारों की अपेक्षा उनमें आत्मचैतन्य की प्रमुखता रहती है और वे शब्दार्थ योग के सम्बन्ध में अधिक जागरूक रहते हैं। वास्तव में गद्य के चरमोत्कर्ष के लिए हमें निबन्धकारों का ही मुंह देखना पड़ता है और निबन्धकारों में भी जीवन-दर्शक तथा साहित्य-समीक्षक विशेष रूप से आते हैं। इन विशुद्ध निबन्धकारों के विपरीत व्यावहारिक निबन्धकार भी हैं जो इतिहास, पुरातत्व, राजनीति, अर्थशास्त्र आदि विषयों पर लेखनी उठाते हैं। इनका मूल उद्देश्य शिक्षा अथवा सूचना प्रधान है। उनके लिए 'शैली' उतने महत्त्व की वस्तु नहीं है, जितनी 'विषय-वस्तु'। १९४७ तक यह क्षेत्र लगभग सूना रहा है परन्तु राष्ट्रभाषा की नई आवश्यकताओं के कारण और हिन्दी के ज्ञान-विज्ञान का माध्यम बनने से अब इस प्रकार का साहित्य अधिकाधिक सामने आ रहा है। इन व्यावहारिक ज्ञान-क्षेत्रों में साहित्य-सर्जना का अभी आरम्भ ही है। फलतः गद्य-लेखक की प्रकृत भूमि अभी भी साहित्य, कला, जीवन-चिन्ता और दर्शन ही है।

यह स्पष्ट है कि हमारा विचारात्मक गद्य अभी अपने चरमोत्कर्ष पर नहीं पहुंचा है। हमें इस क्षेत्र में अनेक व्यक्तिगत शैलियां मिलती हैं परन्तु उनकी विकासात्मक संभावनाएं अभी परीक्षित नहीं हैं। हिन्दी प्रदेश का बुद्धिजीवी अभी तक अंग्रेजी के माध्यम के प्रति आकृष्ट रहा

है और उच्च कोटि के विचारात्मक निबंध प्रमुखतः विश्वविद्यालयों से संबंधित अध्यापकों और समीक्षकों ने प्रस्तुत किए हैं। फलस्वरूप, इस क्षेत्र में हमारी अर्जना एकांगी रही है। गद्यशैली के क्षेत्र में अग्रगामिता कथाकारों को प्राप्त है, निबंधकारों को नहीं, यह चिंत्य है। वैचारिक गद्य में जो गांभीर्य, चिन्तन और सौष्ठव वांछनीय है, 'उक्ति' (लोकभाषा) और संस्कृत तत्सम शैली के अनेकानेक योगों की जो संभावना है उसका प्रसार अभी खड़ी बोली गद्य में नहीं मिलता। हमारे श्रेष्ठ विचारक और समीक्षक विशुद्ध विचार देना चाहते हैं, परन्तु जैसा हरबर्ट रीड ने अपने एक ग्रन्थ में लिखा है, विचार व्यक्तित्व से पुष्ट होकर ही सार्थकता पाता है और रसमय होकर ही साहित्य बनता है। शैली को भावव्यंजक और सुगठित बनाकर हम अपनी भाषा की सामर्थ्य का ही विकास नहीं करते, उससे सूक्ष्म एवं गम्भीर चिन्तन की शक्ति बढ़ती है। जिस प्रकार विचार भाषा को व्यवस्थित करता है, उसी प्रकार भाषा भी विचार को सौष्ठव, सूक्ष्मता और प्रांजलता देती है। हमारा शब्द-कोष जितना बृहत् होगा और उसका जितना विविध उपयोग हम कर सकेंगे, उतना ही अधिक सूक्ष्म और स्पष्ट सोच सकेंगे। आज के हिन्दी गद्य की अपनी अनेक सीमाएं हैं। कुछ सूक्ष्म चिन्ताओं के लिए अभी हिन्दी में भावप्रकाशन की सुविधा नहीं है। राजनीति विज्ञान, समाजनीति, मनोविज्ञान, दण्ड-शास्त्र, अपने साथ जिन गूढ़ विचार-प्रक्रियाओं को लाते हैं, उनकी अभिव्यक्ति अभी प्रारम्भिक स्थिति में है। अभी काशी से 'राजनीति' और 'विधि-पत्रिका' नाम के दो मासिक 'राजनीति' और दण्ड-विधान का क्षेत्र लेकर सामने आए हैं। दर्शन की एकमात्र हिन्दी पत्रिका एक वर्ष से प्रयाग से निकल रही है। ऐसी स्थिति में गद्य-शैली के क्षेत्र में नए साहसी प्रयोगों की कल्पना ही मरु-मरीचिका है।